भारतीय ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला प्राकृत ग्रन्थांक – ११

श्री नेमिचन्द्राचार्यकृत

कर्मप्रकृति

[हिन्दी अनुवाद, प्रस्तावना तथा परिशिष्ट सहित]

सम्पादन-अनुवाद
पं० हीरालाल शास्त्री

भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

वीर निर्वाण सं० २४९०
वि० सं० २०२०, सन् १९६४

प्रथम संस्करण
छह रुपये

स्व० पुण्यश्लोका माता मूर्तिदेवीकी पवित्र स्मृतिमें तत्सुपुत्र साहू शान्तिप्रसादजी-द्वारा

संस्थापित

भारतीय ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमालाके अन्तर्गत प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड, तमिल आदि प्राचीन भाषाओंमें उपलब्ध आगमिक, दार्शनिक, पौराणिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक आदि विविध विषयक जैन-साहित्यका अनुसन्धानपूर्ण सम्पादन तथा उसका मूल और यथासम्भव अनुवाद आदिके साथ प्रकाशन हो रहा है। जैन भण्डारोंकी सूचियाँ, शिलालेख-संग्रह, विशिष्ट विद्वानोंके अध्ययन-ग्रन्थ और लोकहितकारी जैन-साहित्य ग्रन्थ भी इसी ग्रन्थमालामें प्रकाशित हो रहे हैं।

•

ग्रन्थमाला सम्पादक

डॉ. हीरालाल जैन, एम. ए., डी. लिट्.

डॉ. आ० ने० उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्.

•

मुद्रक

सन्मति मुद्रणालय, दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी

•

स्थापनाब्द : फाल्गुन कृष्ण ९, वीर नि० २४७० • विक्रम सं० २००० • १८ फरवरी सन् १९४४

भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

स्व० मूर्तिदेवी, मातेश्वरी सेठ शान्तिप्रसाद जैन

JNANAPITHA MURTIDEVI JAIN GRANTHAMALA PRAKRIT GRANTHA No. 11

KARMAPRAKRITI

of

SHRI NEMICHANDRA ACHARYA

with

HINDI TRANSLATION,
INTRODUCTION & APPENDICES

EDITED BY

Pt. HIRALAL SHASTRI

BHARATIYA JNANPITHA, KASHI

VIRA SAMVAT 2490
V. S. 2020, 1964 A. D.

First Edition
Rs. 6/-

BHĀRATĪYA JÑĀNPĪTHA MŪRTIDEVĪ

JAIN GRANATHAMĀLĀ

FOUNDED BY

SĀHU SHĀNTIPRASĀD JAIN

IN MEMORY OF HIS LATE BENEVOLENT MOTHER

SHRĪ MŪRTIDEVĪ

IN THIS GRANTHAMĀLĀ CRITICALLY EDITED JAINA ĀGAMIC, PHILOSOPHICAL, PAURANIC, LITERARY, HISTORICAL AND OTHER ORIGINAL TEXTS AVAILABLE IN PRĀKRIT, SANSKRIT, APABHRAṀŚA, HINDI, KANNAD, TAMIL ETC., ARE BEING PUBLISHED IN THEIR RESPECTIVE LANGUAGES WITH THEIR TRANSLATIONS IN MODERN LANGUAGES

AND

CATALOGUES OF JAINA BHANDARAS, INSCRIPTIONS, STUDIES OF COMPETENT SCHOLARS & POPULAR JAINA LITERATURE ARB ALSO BEING PUBLISHED.

•

General Editors

Dr Hiralal Jain M A D Litt
Dr A N. Upadhye, M A D. Litt.

•

Founded on-Phalguna Krishna 9, Vira Sam. 2470, Vikrama Sam. 2000.18th Febr.1944

ग्रन्थमाला-सम्पादकीय

कर्म सिद्धान्त जैन धर्मका प्राण है। उसके अनुसार जीव जो कुछ अच्छा-बुरा करता है उसका तदनुरूप फल उसे भोगना पड़ता है। यह कार्य और कर्म-फल-संयोग स्वाभाविक गतिसे अपने-आप चलता रहता है जबतक जीव कर्मबन्धकी परम्पराका निरोध कर उससे सर्वथा शुद्ध, बुद्ध और मुक्त नहीं हो जाता। यही मुक्ति-साधना जीवनका और धर्मका चरम ध्येय है।

इस सिद्धान्तका प्रतिपादन करनेवाला साहित्य भी बहुत विशाल है। षट्खण्डागम आदि ग्रन्थोंमें इसका सुव्यवस्थित, सविस्तर और सूक्ष्म विवेचन पाया जाता है। गोम्मटसार जीवकाण्ड और कर्मकाण्डमें इस विषय-के समस्त शास्त्रोंका सार खींचकर भर दिया गया है जिससे इसी ग्रन्थका अध्ययन-अध्यापनमें प्रचार बहुत बढ़ गया है, एवं उससे पूर्वकी रचनाएँ अन्धकारमें पड़ गयीं।

प्रस्तुत ग्रन्थका सर्वप्रथम परिचय हमें पं० परमानन्द शास्त्रीके "गोम्मटसार कर्मकाण्डकी त्रुटिपूर्ति" शीर्षक लेख (अनेकान्त, वर्ष ३, किरण ८-९, पृ० ५३७, सन् १९४०) से हुआ। इसमें लेखकने यह प्रति-पादित किया कि गोम्मटसार कर्मकाण्डका प्रकृति समुत्कीर्तन अधिकार त्रुटिपूर्ण है, किन्तु उसमें यदि कर्मप्रकृति-की ७५ गाथाएँ यत्र-तत्र समाविष्ट कर दी जायें तो उन त्रुटियोंकी पूर्ति हो जाती है। लेखकका यह भी अनुमान था कि कर्मप्रकृति भी गोम्मटसारके कर्ता नेमिचन्द्राचार्यकी ही कृति है जिसकी वे गाथाएँ सम्भवतः किसी समय कर्मकाण्डसे छूट गयी, अथवा जुदा पड गयी। उन्हें फिरसे कर्मकाण्डमे यथास्थान जोड़ देनेसे उसे पूर्ण, सुसंगत और सुसम्बद्ध बनाया जा सकता है। इसपर प्रस्तुत प्रधान सम्पादकोमें-से एक (प्रो० हीरालाल जैन) ने दो लेखों-द्वारा ग्रन्थके विषय, शैली आदिका पूर्ण विवेचन करके उक्त मतका निरसन किया ("गो० कर्मकाण्डकी त्रुटिपूर्तिपर विचार" अनेकान्त, वर्ष ३, किरण ११, पृ० ६३५, तथा "गो० कर्मकाण्डकी त्रुटिपूर्ति-सम्बन्धी प्रकाशपर पुनः विचार", जैनसन्देश, १२ दिसम्बर १९४० से १६ जनवरी १९४१ तक पाँच अंकोमे)। इन लेखोंमें सप्रमाण विवेचनपूर्वक यह निर्णय निकाला गया कि "कर्मप्रकृति एक पीछेका संग्रह है जिसमें बहुभाग गोम्मटसारसे व कुछ गाथाएँ अन्य इधर-उधरसे लेकर विषयका सरल विद्यार्थी-उपयोगी परिचय करानेका प्रयत्न किया गया है।" यह गाथासंग्रह सावधानीपूर्वक नहीं किया गया इसके भी कुछ उदाहरण उक्त लेखोंमे दिये गये है। जैसे प्रस्तुत ग्रन्थकी ११७वी गाथा गोम्मटसार कर्मकाण्डकी ४७वी गाथा है और उसमें 'देहादी फासंता पण्णासा' अर्थात् नामकर्मकी देह या शरीर नामक प्रकृतिसे लेकर स्पर्श नामप्रकृति तककी पचासको पुद्गलविपाकी कर्मोंमें गिनाया गया है। किन्तु इसका प्रस्तुत ग्रन्थकी ६७ से ९३ तककी गाथाओंमें परिगणित नाम प्रकृतिसे मेल नहीं खाता, क्योकि यहाँ शरीरसे लेकर स्पर्श तककी प्रकृतियोंमे दो विहायोगति नामक प्रकृतियाँ भी है जिनसे उक्त संख्या ५० नही ५२ हो जाती है। अत एव ये गाथाएँ गो० कर्मकाण्डकार-द्वारा रचित हो ही नहीं सकती। उनके ग्रन्थमें "देहादी फासंता" प्रकृतियोका उल्लेख गा० ३४० मे भी आया है तथा दो विहायोगतियाँ उनसे बाहर गिनायी गयी हैं। यह क्रम ठीक षट्खण्डागमके अनुसार है जहाँ जीवट्ठाणान्तर्गत चूलिका अधिकारमे शरीरसे लेकर स्पर्श तक वे ही ५० पुद्गलविपाकी प्रकृतियाँ गिनायी गयी है जो उक्त दोनो गाथाओंमे अपेक्षित है, तथा प्रस्तुत कर्मप्रकृतिकी उक्त गाथासे मेल नही खाती।

प्रस्तुत ग्रन्थमे जो गाथाएँ गोम्मटसारकी नही है उनमें रचना-शैथिल्यका भी अनुभव होता है। उदा-हरणार्थ, प्रकृति आदि चार बन्धोके नाम-निर्देश मात्रके लिए एक पूरी गाथा नं० २६ खर्च की गयी है, और उसमें चार भेदोका उल्लेख दो-दो बार तथा णायव्वो, होदि, णिद्दिट्ठो, कहिओ-जैसे चार पदोंका प्रयोग करके गाथाके कलेवरको भरना पड़ा है। उतनी ही बात नेमिचन्द्राचार्यने अपने द्रव्यसंग्रहकी गाथा ३३ के एक अंशमें अपनी सुगठित सूत्रशैलीसे भले प्रकार कह दी – 'पयडि-ट्ठिदि-अणुभाग-पदेसभेदो त्ति चदुविधो बंधो'।

इन बातोंके सद्भावमें प्रस्तुत समग्र रचनाको गोम्मटसारके कर्ता-द्वारा निर्मित माननेको जी नहीं चाहता। इसीलिए पश्चात् पं० जुगलकिशोरजीने इसपर अपना अभिमत निम्न प्रकार प्रकट किया – कर्मप्रकृति १६० गाथाओंका एक संग्रह ग्रन्थ है जो प्रायः गोम्मटसारके कर्ता नेमिचन्द्राचार्यकी कृति समझा जाता है, परन्तु वस्तुतः उनके द्वारा संकलित मालूम नहीं होता – उन्हींके नामके, अथवा उन्हीके नामसे किसी दूसरे विद्वान्‌के द्वारा संकलित या संगृहीत जान पड़ता है। इस ग्रन्थका अधिकांश शरीर आदि-अन्त भागोंसहित गोम्मटसार-की गाथाओंसे निर्मित हुआ है – गोम्मटसारकी १०२ गाथाएँ इसमें ज्योंकी-त्यों उद्धृत हैं और २८ गाथाएँ उसीके गद्य-सूत्रोंपर-से निर्मित जान पड़ती हैं। शेष ३० गाथाओंमें १६ गाथाएँ तो देवसेनादिके भावसंग्रहादि ग्रन्थोंसे ली गयी मालूम होती हैं, और १४ ऐसी हैं जिनके ठीक स्थानका अभी पता नहीं चला – वे धवलादि ग्रन्थोंके षट्संहननोंके लक्षण-जैसे वाक्योंपर-से संग्रहकार-द्वारा खुदकी निर्मित भी हो सकती हैं (पुरातन जैन-वाक्य-सूची, प्रथम भाग, वीर-सेवा-मन्दिर, सहारनपुर, १९५०)। यह इस ग्रन्थके सम्बन्धमें अबतकका ज्ञात इतिहास है। हर्षकी बात है कि इसी बीच पं० हीरालाल शास्त्रीने इस ग्रन्थकी चार प्राचीन प्रतियाँ प्राप्त कीं जिनमें मूलके अतिरिक्त दो संस्कृत टीकाएँ, एक भाषा टीका, और एक टिप्पणी भी प्रकाशमें आये। पं० जीने इस सब सामग्रीका विधिवत् सम्पादन किया है और आवश्यक स्पष्टीकरणसहित हिन्दी अनुवाद भी। उन्होंने प्रस्तावनामें तद्विषयक अपेक्षित जानकारी दे दी है, और अपने विचार भी दिये हैं। उनके इस प्रयासके लिए हम उन्हें हृदयसे धन्यवाद देते हैं।

एक बात और उल्लेखनीय है। यद्यपि प्रस्तुत ग्रन्थका नाम कर्मप्रकृति रखा गया है तथापि मूल ग्रन्थ-में कहीं भी यह नाम नहीं पाया जाता। आदिकी गाथा गोम्मटसार कर्मकाण्डकी है और उसमें प्रकृति-समुत्की-र्तन व्याख्यान करनेकी प्रतिज्ञा की गयी है। टीकाकार सुमतिकीर्तिने भी अपनी संवत् १६२०के लगभग रचित टीकामें उसे कर्मप्रकृति नामसे उल्लिखित न कर कर्मकाण्ड कहा है, और हेमराजने भी अपनी रचनाको कर्म-काण्डकी भाषा टीका कहा है। यह इस कारण ठीक है, क्योंकि ग्रन्थका प्रायः दो-तिहाई भाग सीधा गोम्मट-सार कर्मकाण्डसे लिया गया है। तीसरी अज्ञात लेखककी अनिश्चित कालकी जो टीका सुमतिकीर्ति कृत टीकापर-से ही संकलित पायी जाती है, उसकी अन्तिम पुष्पिकामें ही कहा गया है कि 'नेमिचन्द्रसिद्धान्ति-विरचित कर्मप्रकृतिग्रन्थः समाप्तः।' आश्चर्य नहीं जो इस ग्रन्थका संकलन स्वयं सुमतिकीर्तिने ही किया हो और अपने अभ्यासार्थ उसपर अपनी टीका लिखी हो। जो हो ग्रन्थ जिस रूपमें है उसका अस्तित्व कमसे कम गत तीन-सौ वर्षोंसे तो पाया ही जाता है।

यह सब प्राचीन साहित्यिक निधि ज्ञानपीठ, काशी, के संस्थापक श्री शान्तिप्रसादजी और उनकी विदुषी पत्नी श्रीमती रमा रानीजी तथा संस्थाके मन्त्री श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन व अन्य अधिकारी गण बड़ी रुचि और उत्साहसे प्रकाशित करा रहे हैं यह परम सौभाग्यकी बात है।

ही० ला० जैन, जबलपुर
आ० ने० उपाध्ये, कोल्हापुर
ग्रन्थमाला-सम्पादक

सम्पादकीय

लगभग बीस वर्ष हुए जब मुझे कर्मप्रकृतिकी एक संस्कृतटीका युक्त तथा एक पं० हेमराजजी कृत भाषा टीका युक्त ऐसी दो प्रतियाँ प्राप्त हुईं। उन दिनों मैं कसायपाहुडसुत्तके अनुवादमें व्यस्त था, अतः उसके पश्चात् ही इसे हाथमें लेना उचित समझा। परन्तु इस बीच कसायपाहुडसुत्तके सम्पादनके अतिरिक्त वसुनन्दिश्रावकाचार, जिनसहस्रनाम, पंचसंग्रह और जैनधर्मामृतके सम्पादन करनेमें व्यस्त रहनेसे इसे ई० सन् १९६० तक हाथ ही नहीं लगा सका। जब उक्त समस्त ग्रन्थोंके सम्पादनसे निवृत्त हुआ तब कर्मप्रकृतिके कार्यको हाथमें लिया और मेरे पास जो प्रति थी, उसके आधारपर उसकी प्रेस कापी मूल और टीका दोनोंकी कर ली। पीछे जयपुर और ब्यावरके शास्त्रभण्डारोंसे इसकी और भी प्राचीन प्रतियाँ प्राप्त हुईं और उनमें श्री ज्ञानभूषण-सुमतिकीर्त्ति-रचित टीका भी उपलब्ध हुई। यह टीका पहले प्राप्त टीकासे विस्तृत देखकर उसे भी प्रस्तुत संस्करणमें देना उचित समझा और श्रीमान् डॉ० हीरालालजीने पं० हेमराजजीकृत भाषा टीका-के रूपको देखकर उसे भी प्रकाशित करनेकी अनुमति प्रदान की। इस प्रकार प्रस्तुत संस्करणमें तीन टीकाएँ सम्मिलित हैं—

१. मूलगाथाओंके साथ ज्ञानभूषण-सुमतिकीर्त्तिकी संस्कृत टीका और उनका मेरे-द्वारा किया हुआ हिन्दी अनुवाद। २ अज्ञात आचार्य-द्वारा लिखी गयी संस्कृत टीका। ३. संस्कृत टीका गर्भित पं० हेमराजकृत भाषा टीका।

श्रीमान् डॉ० आ० ने० उपाध्यायका सुझाव था कि इसका मिलान दक्षिण भारतकी प्राचीन ताडपत्रीय प्रतियोंसे अवश्य करा लिया जाये। तदनुसार मैंने श्रीमान् पं० के० भुजबली शास्त्रीसे प्रार्थना की और उन्होंने मूडबिद्रीके प्राचीन ताडपत्रीय प्रतिसे अपने सहयोगी श्री० प० देवकुमारजीके साथ मिलान कर पाठ-भेद भेजनेकी कृपा की। पाठ-भेदोंको यथास्थान दे दिया गया और जो उनके सम्बन्धमें विशेष वक्तव्य था, वह प्रस्तावनामें दे दिया है।

अनुवाद या विशेषार्थमें अनावश्यक विस्तार न हो, इस बातका भरपूर ध्यान रखा गया है। साथमें पं० हेमराजकृत भाषा टीका दी ही जा रही है, जिसमें यथास्थान सभी ज्ञातव्य बातोंका स्पष्टीकरण किया ही गया है।

मूल गाथाओंके पाठ-भेदों आदिको पादटिप्पणमें हिन्दी अंकोंके तथा टीकागत पाठ-भेदोंको रोमन अंकोंके साथ दिया गया है।

मूलग्रन्थ कर्मप्रकृतिके रचयिताके बारेमें कुछ विवाद है। कुछ विद्वान् उसे नेमिचन्द्राचार्यकी कृति माननेको तैयार नहीं हैं, परन्तु जबतक सबल प्रमाणोंसे वह अन्य-रचित सिद्ध नहीं हो जाती तबतक उसे प्रसिद्ध आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती-रचित माननेमें कोई आपत्ति भी दृष्टिगोचर नहीं होती। टीका-कारों और प्रतिलिपिकारोंके द्वारा उसे नेमिचन्द्र सिद्धान्ति, नेमिचन्द्र सैद्धान्तिक और सिद्धान्तपरिज्ञानचक्रवर्ती-विरचित लिखा हुआ मिलता ही है। इसके पश्चात् भी यदि किन्हीं प्रबल प्रमाणोंसे वह किन्हीं दूसरे ही नेमि-चन्द्र-द्वारा रचित सिद्ध हो जायेगी तो मुझे उसे स्वीकार करनेमें भी कोई आपत्ति नहीं होगी।

श्री ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वती भवन ब्यावरकी प्रति उसके व्यवस्थापक श्रीमान् पं० पन्नालाल-जी सोनीसे, तथा जयपुर भण्डारकी प्रति उसके मन्त्री श्रीमान् केशरलालजी तथा श्रीमान् डॉ० कस्तूरचन्द्रजी कासलीवाल एम० ए० की कृपासे प्राप्त हुई। तथा ताडपत्रीय प्रतियोंका मिलान श्रीमान् पं० के० भुजबली शास्त्री और श्री पं० देवकुमारजीकी कृपासे हुआ इसके लिए मैं उक्त सभी महानुभावोंका आभारी हूँ।

ग्रन्थको भारतीय ज्ञानपीठकी मूर्तिदेवी ग्रन्थमालासे प्रकाशनकी स्वीकृति उसके प्रधान सम्पादक

श्रीमान् डॉ० हीरालालजी जैन एम० ए०, डी० लिट् जबलपुर और श्रीमान् डॉ० आ० ने० उपाध्याय एम० ए०, डी० लिट् कोल्हापुरसे प्राप्त हुई। समय-समयपर पत्रोंके द्वारा एवं प्रत्यक्ष भेंटमें मौखिक रूपसे आपने जो सुझाव एवं प्रोत्साहन ग्रन्थको प्रकाशमें लानेके लिए दिये उसके लिए मैं दोनों महानुभावोंका बहुत आभारी हूँ। भारतीय ज्ञानपीठके सुयोग्य मन्त्री श्रीमान् बाबू लक्ष्मीचन्द्रजी जैन एम० ए० का मैं बहुत आभारी हूँ जिन्होंने ग्रन्थकी पाण्डुलिपि दिये जानेके पश्चात् स्वल्प समयमें ही इसे प्रकाशित करके ग्रन्थको सर्वसाधारणके लिए सुलभ कर दिया है।

सर्वप्रथम धन्यवादके अधिकारी दानवीर, श्रावक-शिरोमणि श्रीमान् साहू शान्तिप्रसादजी और सौ० रमारानी जैनका आभार प्रकट करनेके लिए मेरे पास समुचित शब्द नहीं हैं। सारा ही जैन समाज आपके इस ज्ञानपीठका चिरकृतज्ञ रहेगा। आप लोगोंके द्वारा संस्थापित और संचालित यह भारतीय ज्ञानपीठ अपने पवित्र उद्देश्योंकी पूर्तिमें उत्तरोत्तर अग्रेसर रहे यही अन्तिम मङ्गल-कामना है।

भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
१६–४–६३

—*हीरालाल शास्त्री*

प्रस्तावना

प्रस्तुत ग्रन्थके सम्पादनमें जिन-जिन प्रतियोंका उपयोग हुआ है, उनका परिचय इस प्रकार है :

अ प्रति — इसकी प्राप्ति मुझे श्री त्यागी मुन्नालालजी चन्देरीके संग्रहसे हुई। इसका आकार ९॥ × ४॥ इंच है। पत्र-संख्या २३ है। प्रतिपत्र पंक्ति-संख्या ६ और प्रतिपंक्ति अक्षर-संख्या २८-३० है। मुख्यरूपसे इसमें मूल गाथाएँ ही लिखी गयी हैं। गाथाओंके ऊपर और हासियेमें टिप्पणके रूपमें एक लघुटीका लिखी हुई है, जो अनेक स्थलोंपर दूसरी टीकाओंसे कुछ विशेषता रखती है और इसी कारण उसे मूल या अनुवादके अनन्तर प्रकाशित किया गया है। प्रतिके अन्तमें जो प्रशस्ति दी हुई है उससे स्पष्ट है कि यह वि० सं० १८१९ के भाद्रपद कृष्णा १० को लिखी गयी है। इसे पं० सिभूरामने वेधूं नामक नगरके श्री पार्श्वनाथ चैत्यालयमें बैठकर अपने अध्ययनके लिए लिखा है। लेखकने अपनी गुरु-परम्पराका उल्लेख करते हुए तात्कालिक राजा रावजी श्रीमेघसिंहजीके प्रवर्तमान राज्यका भी निर्देश किया है। मूल पाठका जहाँतक सम्बन्ध है, प्रति शुद्ध है। किन्तु पंक्तियोंके ऊपर और हासियेमें जो टीका दी गयी है वह अनेक स्थलोंपर अशुद्ध है और अनेक स्थलोंपर पत्रोंके चिपक जानेसे स्पष्ट पढ़नेमें नहीं आ सकी है। इस टीकावाली अन्य प्रतिकी अन्यत्र कहीसे प्राप्ति न हो सकनेके कारण जैसा चाहिए संशोधन नहीं हो सका है। फिर भी अन्य टीकाओंके आधारसे उसे शोधनेका प्रयत्न किया गया है। जहाँ कोई पाठ ठीक संशोधित नहीं किया जा सका, वहाँ (?) प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया गया है।

प्रतिके अन्तमें जो प्रशस्ति दी गयी है, वह इस प्रकार है :

"संवत्सरे रन्ध्रेन्दुवसुकेवलयुते १८१९ भाद्रपदमासे कृष्णपक्षे दशम्यां तिथौ शनिवासरे वेधूंनाम-नगरे श्रीपार्श्वनाथचैत्यालये रावजीश्रीमेघसिंहजीराज्यप्रवर्तमाने भट्टारकेन्द्र-भट्टारकजीश्रीक्षेमेन्द्रकीर्त्तिजी आचार्यवर्यश्रीधर्मकीर्त्तिजी तच्छिष्य आचार्यवर्यजी श्रीमेरुकीर्त्तिजी पण्डितमनराम चैनराम लालचन्द रतनचन्द गुमानी सिंम सेवाराउ एतेषां मध्ये प० मनराम तच्छिष्य सिंभूरामेण इदं ग्रन्थं स्वपठनार्थं लिपिकृतं ॥"

प्रतिके हासियेपर ग्रन्थका नाम यद्यपि कर्मकाण्ड लिखा है, तथापि ग्रन्थकी अन्तिम गाथाके अन्तमें "इति श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्ति-विरचित कर्मप्रकृतिग्रन्थ समाप्तः" लिखा है, जिससे मूलग्रन्थका नाम कर्म-प्रकृति सिद्ध है।

सबसे ऊपरके पत्रपर 'कर्मकाण्ड पुस्तक भट्टारकजीकी' लिखा है, जिससे स्पष्ट है कि लेखकके पश्चात् यह प्रति किसी भट्टारकके स्वामित्वमें रही है।

ज प्रति—यह प्रति आमेर-भण्डार जयपुरकी है, जिसका नं० १६४ है। इसका आकार ११ × ५ इंच है। पत्र-संख्या ५४ लिखी है, पर वस्तुतः ५५ है; क्योंकि दो पत्रोंपर ४२-४२ अंक लिपिकारकी भूलसे लिखे गये हैं। प्रतिपत्र पंक्ति-संख्या ९ और प्रतिपंक्ति अक्षर-संख्या ३६-३७ है। प्रतिके अन्तमें लेखकने प्रति-लेखन-काल नहीं दिया है, किन्तु कागज, स्याही और अक्षर-बनावट आदिको देखते हुए कमसे कम इसे दो-सौ वर्ष प्राचीन अवश्य होना चाहिए। कागज देशी, मोटा और पुष्ट है, तथा प्रति अच्छी दशामें है। केवल एक पत्र किनारेपर कुछ जला-सा है। प्रतिमें एकारकी मात्रा अधिकतर पडिमात्रामें है। यथा दोष–दोष, शिलाभेद–शिलाभेद आदि।

प्रतिके अक्षर सुन्दर एवं सुवाच्य हैं, तथापि वह अशुद्ध है। लेखकने 'श' के स्थानपर 'स' और कहीं-कहीं 'स' के स्थानपर 'श' लिखा है। कई स्थलोंपर पाठ छूटे हुए हैं, और कई स्थलोंपर दोबारा भी लिखे गये हैं। यथा,

पाठ छूटे स्थल—पत्र-संख्या ३०, ४४, ४५/B, ४७, ४९, ५१ इत्यादि।

गाथाङ्क १४४-१४५ की पूरी टीका और गा० १४६ की अधिकांश टीका बिलकुल ही छूट गयी है।

दोबारा लिखे स्थल—पत्र-संख्या १५, २४, ४५/A इत्यादि।

पत्र ४९वेंपर तो लेखकसे बहुत गड़बड़ी हुई है। छूटे पाठका कोई भी संकेत न होकर इस ढंगसे लिखा गया है मानो वहाँपर कोई गड़बड़ी ही नहीं है। पर वास्तवमें इस स्थलपर बहुत आगेका पाठ लिखा गया और यहाँका पाठ छूट गया है। इसी पत्रपर जो संदृष्टियाँ दी हैं, वे भी अशुद्ध हैं और सम्भवतः उन्हें ठीक रूपसे न समझ सकनेके कारण ही उक्त गड़बड़ी हुई है। पत्र ५० पर दी गयी संदृष्टि भी अशुद्ध है।

यह प्रति मूल गाथाओंके अतिरिक्त भ० मल्लिभूषण-सुमतिकीर्त्ति-विरचित टीकासे समन्वित है। इस टीकाकी जो अन्य प्रति ऐलक सरस्वती भवन ब्यावरसे प्राप्त हुई है, उसके साथ मिलान करनेपर ज्ञात हुआ कि अनेक गाथाओंकी संस्कृत टीका भी संक्षिप्त एवं संदृष्टिविहीन है, जो कि ब्यावर प्रतिमें पायी जाती है। •

प्रतिके अन्तमें भिन्न कलमके द्वारा यह वाक्य लिखा हुआ है :

"भ० श्रीवादिभूषणस्तत् शिष्य ब्रह्म श्रीनेमिदासस्येदं पुस्तकं ।।श्री।।"

इस पंक्तिके आधारपर इतना निश्चित रूपसे कहा जा सकता है कि इसके लिखनेका काल ब्रह्म-श्रीनेमिदाससे पूर्वका है। ये कब हुए, यह अन्वेषणीय है।

ब प्रति—यह प्रति श्री ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वती भवन ब्यावरकी है। इसका र० ज० न० ९ है और पत्रसंख्या ४८ है। आकार १२×५।। इंच है। प्रतिपत्र पंक्ति-संख्या ११ और प्रतिपंक्ति अक्षर-संख्या ३७-३८ है। प्रतिके अन्तमें उसी स्याही किन्तु पतली कलमसे जो प्रशस्ति दी गयी है उससे स्पष्ट है कि यह प्रति वि० सं० १६२७ के कार्त्तिक कृष्णा ५ के दिन श्रीमधूकपुरके श्रीचन्द्रनाथ चैत्यालयमें लिखकर समाप्त हुई है। इसे बलत्कारगणके रहनेवाले सिंहपुराजातीयश्रेष्ठी हामा और उनकी पत्नी मटकूसे उत्पन्न पुत्री पूतलीबाईने टीकाकारके सहाध्यायी श्री भ० प्रभाचन्द्रके उपदेशसे लिखाकर उन्हींको समर्पित की है। इस व्रत-शील-सम्पन्ना एवं यति-जन-भक्ता बाईने अपने रहनेका मकान भी सम्भवतः उक्त चन्द्रप्रभजिनालयको दे दिया था।

यह प्रति बहुत शुद्ध है। अक्षर सुवाच्य एवं पडिमात्रामें लिखे हुए हैं। कागज अति जीर्ण-शीर्ण एवं पतला पीले-से रंगको लिये हुए श्वेत है। प्रतिमें यथास्थान जो संदृष्टियाँ दी हुई हैं, वे भी शुद्ध एवं स्पष्ट है।

प्रतिके अन्तमें जो लेखक-प्रशस्ति दी गयी है, वह इस प्रकार है :

"स्वस्ति श्री संवत् १६२७ वर्षे कार्त्तिकमासे कृष्णपक्षे पञ्चम्यां तिथौ अद्येह श्रीमधूकपुरे श्रीचन्द्र-नाथचैत्यालये श्रीमूलसंघे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे श्रीकुन्दकुन्दान्वये भ० श्रीपद्मनन्दिदेवास्तत्पट्टे भ० श्रीदेवेन्द्रकीर्त्तिदेवास्तत्पट्टे भ० श्रीविद्यानन्दिदेवास्तत्पट्टे भ० श्री[म-]ल्लिभूषणास्तत्पट्टे भ० श्री लक्ष्मीचन्द्रास्तत्पट्टे भ० श्रीवीरचन्द्रास्तत्पट्टे भ० श्रीज्ञानभूषणास्तत्पट्टे भ० श्रीप्रभाचन्द्रोपदेशात् बलसाद-नगरवास्तव्यः सिंहपुराज्ञातीयः धर्मकार्यतत्परः श्रे० हांसा भार्या मटकू तयोः पुत्री यतिजनभक्ता अने[क] व्रतकरणतत्परा जिनालयार्थं दत्तनिजगृहा बाई पूतली तयेमां श्रीकर्मकाण्डटीकां लिखाप्य भ० श्रीप्रभाचन्द्रे-भ्यो दत्ता। चिरं नन्दतु ।। (पृ० ८४)

उक्त प्रशस्तिसे सिद्ध है कि यह प्रति कर्मप्रकृतिके टीकाकार भ० श्रीज्ञानभूषणके शिष्य श्रीप्रभाचन्द्रके लिए लिखा'कर समर्पित की गयी है, अतएव यह प्राप्त समस्त प्रतियोंमें प्राचीन होनेके साथ-साथ प्रामाणिक एवं महत्त्वपूर्ण है। इसका कारण यह है कि टीकाकारने पंचसंग्रहकी संस्कृत टीका वि० सं० १६२० में पूर्ण की है और यह प्रति १६२७ की लिखी हुई है।

प्रतिके अन्तिम पत्रकी पीठपर भिन्न कलम और भिन्न स्याहीसे लिखा हुआ है :

"गां० २ पो ६ प्र ५ भ० श्रीजिनचन्द्राणां शिष्य भ० श्रीविद्यानन्दिकस्येदं पुस्तकम् ।"

इससे ज्ञात होता है कि पीछे यह प्रति भ० श्रीविद्यानन्दिके अधिकारमें रही है।

स प्रति—यह प्रति मेरे साहूमल भण्डारकी है। इसका आकार १०×४॥ इंच है। पत्र-संख्या ७६ है। प्रतिपत्र पंक्ति-संख्या १० और प्रतिपंक्ति अक्षर-संख्या ३५–३६ है। कागज देशी पुष्ट, अक्षर सुन्दर सुवाच्य एवं स्याही गहरी काली तथा लाल है। सारी प्रतिमें उत्थानिका वाक्य लाल स्याहीसे ही लिखे हुए हैं। इस प्रतिमें श्री पं० हेमराजजीकृत भाषा टीका दी हुई है। प्रति वि० सं० १७५३ के वैशाख सुदि ५ को चन्द्रापुरीके आदिनाथ चैत्यालयमें लिखकर समाप्त हुई है। इससे ज्ञात होता है कि भाषा टीकाकारके द्वारा टीका रचे जानेके तत्काल पश्चात् ही यह प्रति लिखी गयी है।

प्रतिके अन्तमें जो प्रशस्ति दी गयी है, वह इस प्रकार है :

"संवत् १७५३ वर्षे वैशाखसुदि ५ रवौ चन्द्रापुरीमध्ये श्रीआदिनाथचैत्यालये श्रीमूलसंघे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे नंद्याम्नाये कुन्दकुन्दाचार्यान्वये तदनुक्रमेण भट्टारक श्रीधर्मकीर्ति तत्पट्टे भट्टारक श्रीपद्मकीर्त्ति तत्पट्टे भट्टारक श्री ५ सकलकीर्तिजू देव तत्पट्टे चरणश्रीगच्छपति नायकभट्टारक श्री श्री श्री श्री श्री श्री सुरेन्द्रकीर्तिजू देव आचार्यश्री ५ कनककीर्तिजू देव तच्छिष्याचार्य श्रीभूषण ब्रह्म सुमतिसागर पण्डित चिंतामणि पं मनिराम पं घनस्याम पं मानसाहि इदं पुस्तकं लिखितं पंडित चिन्तामणि स्वपठनार्थं ज्ञानावरणीकर्मक्षयार्थं। श्रीरस्तु।

उक्त प्रशस्तिसे स्पष्ट है कि इसे पं० चिन्तामणिने अपने पढ़ने और ज्ञानावरणीकर्मके क्षय करनेके लिए लिखा है।

ग्रन्थ-नाम-निर्णय

प्रस्तुत ग्रन्थके संस्कृत टीकाकार श्रीज्ञानभूषण वा सुमतिकीर्तिने आदिके मंगल-श्लोकोंमें तथा अन्तिम प्रशस्तिके पद्योंमें स्पष्ट शब्दोंके द्वारा ग्रन्थका नाम कर्मकाण्ड घोषित किया है, परन्तु वह यथार्थता इसके विपरीत है।

इसी संस्करणमें मुद्रित संस्कृत टीका युक्त पं० हेमराजकृत भाषाटीकाके अन्तमें 'कर्मप्रकृतिविधान' नाम पाया जाता है, पर यह भी ठीक नहीं है। हाँ, दूसरी संस्कृत टीकावाली प्रतिके अन्तमें इसका नाम स्पष्ट शब्दोंमें 'कर्मप्रकृति' ही दिया गया है। वह पुष्पिका इस प्रकार है .

इति श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिविरचित कर्मप्रकृतिग्रन्थः समाप्तः।"

इसके अतिरिक्त ग्रन्थकी जितनी भी मूल प्रतियाँ मुझे प्राप्त हुई हैं, उनमें तथा मूडबिद्रीकी ताड़पत्रीय प्रतिमें ग्रन्थका नाम 'कर्मप्रकृति' ही मिलता है। इसलिए मैंने इसका नाम 'कर्मप्रकृति' ही रखा है।

कर्मप्रकृति-परिचय

कर्मोंके मूल और उत्तर भेदोंके स्वरूपका सांगोपांग वर्णन करनेवाला यह एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। गाथाओंकी समता आदिको देखकर कुछ वर्ष पूर्व पं० परमानन्दजी शास्त्रीने इसे गो० कर्मकाण्डके प्रथम अधिकारके रूपमें सिद्ध करनेका प्रयत्न 'अनेकान्त'में प्रकाशित अपने लेखों-द्वारा किया था। किन्तु तभी श्री डॉ० हीरालालजी जैन और श्री आचार्य जुगलकिशोरजी मुख्तारने अपने लेखोंके द्वारा उनके भ्रमका निरसन करके यह सिद्ध कर दिया था कि यह एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। तत्पश्चात् श्री मुख्तार साहबने पुरातन-जैनवाक्य-सूचीकी प्रस्तावनामें विस्तारपूर्वक ऊहापोहके बाद यही निर्णय किया है कि कर्मप्रकृति एक स्वतन्त्र कृति है। (पुरातन-वाक्यसूची पृ० ८२ पैरा ३)

इसके रचयिताके बारेमें विद्वानोंमें मत-भेद है। कुछ विद्वानोंका मत है कि यतः कर्मप्रकृतिमें गो० कर्मकाण्डकी अधिकांश गाथाएँ पायी जाती हैं, प्रारम्भका मंगलाचरण आदि भी गो० कर्मकाण्डवाला है,

अतः यह ग्रन्थ नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीका ही रचा हुआ होना चाहिए। परन्तु मुख्तार साहब का कहना है कि "मुझे यह उन्हीं (गो० कर्मकाण्डके रचयिता) आचार्य नेमिचन्द्रकी कृति मालूम नहीं होती; क्योंकि उन्होंने यदि गोम्मटसार-कर्मकाण्डके बाद उसके प्रथम अधिकारको विस्तार देनेकी दृष्टिसे उसकी रचना की होती, तो वह कृति और भी अधिक सुव्यवस्थित होती।.....और यदि कर्मकाण्डसे पहले उन्हीं आचार्य महोदयने कर्मप्रकृतिकी रचना की होती, तो उन्हें अपनी उन पूर्वनिर्मित २८ गाथाओंके स्थानपर सूत्रोंको (जो कि कर्मकाण्डकी ताड़पत्रीय प्रतियोंमें पाये जाते हैं) नवनिर्माण करके रखनेकी जरूरत न होती – खासकर उस हालतमें जब कि उनका कर्मकाण्ड भी पद्यात्मक था। और इसलिए मेरी रायमें यह 'कर्मप्रकृति' या तो नेमिचन्द्र नामके किसी दूसरे आचार्य, भट्टारक अथवा विद्वान्की कृति है जिनके साथ नाम-साम्यादिके कारण 'सिद्धान्त चक्रवर्ती' का पद बादको कहीं-कहीं जुड़ गया है – सब प्रतियोंमें वह नहीं पाया जाता। और या किसी दूसरे विद्वान्ने उसका संकलन कर उसे नेमिचन्द्र आचार्यके नामांकित किया है और ऐसा करनेमें उसकी दो दृष्टि हो सकती हैं – एक तो ग्रन्थ प्रचारकी और दूसरी नेमिचन्द्रके श्रेय तथा उपकार-स्मरणको स्थिर रखनेकी। क्योंकि इस ग्रन्थका अधिकांश शरीर आद्यन्त भागोंसहित उन्हींके गोम्मटसारपर-से बना है।" इत्यादि (पुरातन-जैनवाक्य-सूची पृ० ८८)

गो० कर्मकाण्डसे पहलेकी रचना न माननेमें श्री मुख्तार साहबने जो युक्ति दी है, वह विचार करनेपर कुछ अधिक महत्त्व नहीं रखती। इसका कारण यह है कि आ० नेमिचन्द्रने अपने जीवनके प्रारम्भकालमें जन-साधारणको कर्मप्रकृतियोंका बोध करानेके निमित्त इस सरल सुबोध ग्रन्थकी रचना की हो और पीछे कर्म-विषयके विशिष्ट जिज्ञासुओं एवं अभ्यासियोंके लिए गो० कर्मकाण्डकी रचना की हो, यह अधिक सम्भव जँचता है। फिर जबतक सबल प्रमाणोंसे उसका अन्य आचार्यके द्वारा रचा जाना सिद्ध नहीं हो जाता तबतक उसे नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीकी कृति माननेमें कोई आपत्ति दृष्टिगोचर नहीं होती। यह तर्क कि कर्मप्रकृतिकी अनेक गाथाएँ भावसंग्रहादि अन्य ग्रन्थोंसे संगृहीत हैं, अतः वह प्रसिद्ध नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीरचित नहीं माना जा सकता, कुछ ठीक नहीं है। कारण कि गो० जीवकाण्डमें अपनेसे पूर्ववर्ती प्राचीन पंचसंग्रहके प्रथम प्रकरण जीवसमासकी १०० से भी ऊपरकी गाथाएँ ज्योंकी-त्यों संगृहीत हैं। इसी प्रकार गो० कर्मकाण्डमें भी उसी प्राचीन पंचसंग्रहके तीसरे, चौथे, पाँचवें प्रकरणकी अनेक गाथाएँ संगृहीत दृष्टिगोचर होती हैं। प्राकृत साहित्य खासकर कर्म साहित्यके अनुशीलन करनेपर यह पता चलता है कि आचार्य परम्परासे आनेवाली पुरातन गाथाओंको परवर्ती ग्रन्थकारोंने अपने ग्रन्थोंमें बिना किसी उल्लेख या संसूचनके स्थान दिया है।

गोम्मटसारके रचयिता आचार्य नेमिचन्द्रका समय विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दी है। इसका सबसे पुष्ट एवं सबल प्रमाण यह है कि उनके शिष्य चामुण्डरायने अपना चामुण्डराय पुराण शक सं० ९०० (वि० सं० १०३५) में रचकर समाप्त किया है। और यतः गोम्मटसारकी रचना उनके लिए हुई है, अतः उसके रचयिता भी उनके ही समकालिक सुनिश्चित सिद्ध हैं।

कर्मप्रकृतिका परिमाण

कर्मप्रकृतिकी मूलपाठवाली प्रतियोंमें-से अधिकांशमें १६१ गाथाएँ मिलती हैं, किन्तु ताड़पत्रीय प्रतिमें या कुछ उत्तरदेशीय प्रतियोंमें १६० ही गाथाएँ मिलती हैं, 'सिय अत्थि णत्थि उभयं' वाली सोलहवीं गाथा नहीं पायी जाती। इसके विषयमें श्रीमुख्तार साहब लिखते हैं कि "वह ग्रन्थ सन्दर्भकी दृष्टिसे उसका संगत तथा आवश्यक अंग मालूम नहीं होती, क्योंकि १५वीं गाथामें जीवके दर्शन, ज्ञान और सम्यक्त्व गुणोंका निर्देश किया गया है, बीचमें स्यात् अस्ति-नास्ति आदि सप्तनयोंका स्वरूप निर्देशके बिना ही नामोल्लेखमात्र करके यह कहना कि 'द्रव्य आदेशवशसे इन सप्त भंगरूप होता है' कोई संगत अर्थ नहीं रखता। जान पड़ता है १५वीं गाथामें सप्त भंगो-द्वारा श्रद्धानकी जो बात कही गयी है, उसे लेकर किसीने 'सत्तभंगीहिं' पदके

टिप्पणरूपमें इस गाथाको अपनी प्रतिमें पंचास्तिकाय ग्रन्थसे, जहाँ वह नं० १५ पर पायी जाती है, उद्धृत किया होगा, जो बादको संग्रह करते समय कर्मप्रकृतिके मूलमें प्रविष्ट हो गयी।" (पुरातन-जैनवाक्य-सूची, पृ० ८३)

श्री मुख्तार साहबकी सम्भावना ठीक हो सकती है, क्योंकि मूडबिद्रीकी जिस प्राचीन ताड़पत्रीय प्रतिसे मैंने श्री० पं० भुजबली शास्त्रीके द्वारा मूलपाठका मिलान कराया है, उसमें भी वह नहीं पायी जाती है। परन्तु फिर भी प्रस्तुत संस्करणमें उक्त गाथा यथास्थान दी गयी है और इसका कारण यह है कि कर्मप्रकृतिकी संस्कृत टीकावाली जो प्रतियाँ मुझे उपलब्ध हुई हैं, उन सबमें जो सबसे प्राचीन है अर्थात् वि० सं० १६२७ की लिखी हुई है उसमें भी वह गाथा अपनी संस्कृत टीकाके साथ उपलब्ध है। इससे इतना तो निश्चित है कि टीका-रचनाके पूर्व ही वह मूलका अंग बन चुकी थी। हाँ, टीका-प्रतियोंमें एक अन्तर अवश्य दृष्टिगोचर होता है, वह यह कि जयपुरवाली प्रतिमें उसकी टीका ठीक वही है, जो पंचास्तिकायमें पायी जाती है। किन्तु ब्यावरवाली प्रतिमें टीका उससे भिन्न है और जिसका टीकाकारके द्वारा ही रचा जाना सिद्ध होता है।

ताडपत्रीय प्रतिमें चौथी गाथाके बाद "सयकरसरूवगन्धेहिं परिणदं चरिमचदुहिं फासेहिं। सिद्धादोऽभव्वादोऽणंतिमभागं गुणं दव्वं॥" यह गाथा; तथा पचीसवीं गाथाके बाद "आउगभागो थोओ णामागोदे समो तदो अहिओ। घादितिए वि य तत्तो मोहे तत्तो तदो तदिये॥" यह गाथा पायी जाती है। परन्तु ये गाथाएँ न तो संस्कृत टीकावाली प्रतियोंमें पायी जाती हैं और न पं० हेमराजजीवाली भाषा-टीकाकी प्रतिमें ही पायी जाती है, अतः उन दोनोंको प्रस्तुत संस्करणमें नहीं दिया गया है।

ताड़पत्रीय प्रतिमें एकसौ उनतालीसवीं गाथा भी नहीं पायी जाती है, किन्तु वह संस्कृत और हिन्दी टीकामें यथास्थान पायी जाती है, अतः उसे ज्योंका-त्यों रखा गया है। ताडपत्रीय प्रति-गत शेष पाठ-भेदोंको यथास्थान पाद-टिप्पणमें दे दिया गया है।

ज और ब प्रति-गत विशेषताएँ

जयपुर-भण्डारकी प्रतिवाली संस्कृत टीकाके साथ ऐलक सरस्वती भवन ब्यावरकी प्रतिवाली संस्कृत टीकाका मिलान करनेपर अनेक विशेषताएँ दृष्टिगोचर हुईं, जिनमें बहुत-सी तो टीकाके कर्तृत्व-निर्णयमें भी सहायक सिद्ध होती हैं। नीचे कुछ खास विशेषताएँ दी जाती हैं—

(१) गा० ९ की टीकामें "श्रीगोम्मटसारे......"से लेकर "एवं सर्वाः १४८ प्रकृतयः" तककी टीका ज प्रतिमें नहीं पायी जाती है। वह ब प्रतिमें पायी जाती है और तदनुसार ही यहाँ दी गयी है।

(२) गा० ५५ की टीकाके अन्तर्गत अनन्तानुबन्धी आदि कषायोंकी वह निरुक्ति दी गयी है, जो कि ज प्रतिमें गा० ६१ के स्थानपर दी गयी है। एक विशेषता और भी है कि ६१ नं०वाली गाथाको यहींपर 'तथा चोक्तं' कहकर दिया गया है। तथा उसी 'उक्तं च' वाली गाथाको यथास्थान ६१ नं० पर भी दिया गया है। किन्तु वहाँपर टीकामें उक्त निरुक्तियाँ न देकर लिखा है—

"एतद् व्याख्यानं पूर्वं विस्तरतः कषायनिरूपणप्रस्तावे प्रतिपादितमस्ति"

(ब प्रति, पत्र १८/A भाग)

(३) गा० ६५ की टीकाके अन्तर्गत 'तथा चोक्तं' कहकर जो तीन श्लोक दिये गये हैं, वे भी ब प्रतिकी टीकामें नहीं पाये जाते।

(४) गा० ६९ की टीकाके अन्तमें जो गाथा ज प्रतिमें दी गयी है, वह भी ब प्रतिमें नहीं है।

(५) ब प्रतिमें पत्र २१ पर नामकर्मकी रचना-संदृष्टि दी गयी है, वह ज प्रतिमें नहीं है। हमने इसे परिशिष्टमें सभी संदृष्टियोंके साथ दिया है।

(६) गा० ७३ की टीकामें जो छह संस्थानोंका स्वरूप दिया गया है, वह ब प्रतिमें नहीं है। इसी प्रकार गा० ७४ की टीकामें जो अंगोपांगोंका स्वरूप दिया गया है, वह भी ब प्रतिमें नहीं पाया जाता।

(७) ज प्रतिकी गा० ९९ की टीकामें दिया हुआ छहो पर्याप्तियोंका स्वरूप भी ब प्रतिमें नहीं है। वहाँ केवल पर्याप्तियोंके नाम दिये गये हैं।

(८) गा० १०० की टीकामें जो 'साहारणमाहारो' आदि तीन गाथाएँ दी हुई हैं, वे भी ब प्रतिमें नहीं हैं।

(९) गा० १०१ की टीकामें शरीरोके १० उत्तर भेद गिनाये गये हैं, वे भी इसमें नही है।

(१०) गा० १०२ की टीकामें 'अथवा' कहकर अन्तराय कर्मकी पाँचों प्रकृतियोका जो स्वरूप दिया गया है, ब प्रतिमें वह न देकर इतना मात्र ही लिखा है—"अथवा दानादिपरिणामस्य व्याघातहेतुत्वाद् दानाद्यन्तरायः।"

(११) गा० १०४ के पूर्वार्धके अन्तमें 'सम्ममिच्छत्तं' के स्थानपर टीकाकारको 'मिच्छत्तं' पाठ ही मिला रहा प्रतीत होता है, तभी उन्होंने टीकामें 'सम्म' इति मोलित्वा आदि कहकर पूरे नामकी पूर्ति की है।

(१२) ब प्रतिमे गा० १०८ की टीका अति संक्षिप्त रूपसे दी गयी है, जब कि ज प्रतिमे वह विस्तृत रूपके साथ पायी जाती है।

(१३) ज प्रतिकी गा० १०९ की टीकामें पाँचो निद्राओके नाम पाये जाये हैं, किन्तु ब प्रतिमे पृथक्-पृथक् नाम न देकर 'स्त्यानगृद्धयादिपंचकं' इतना ही दिया गया है।

(१४) गा० ११३-११४ की टीकामे पाँच संस्थान पाँच संहननोके नाम नही दिये गये, जब कि ज प्रतिमे ये पाये जाते हैं।

(१५) ब प्रतिकी गा० ११६ की टीकामे प्रत्येक कषायपदके साथ 'वासनाकाल.' पद नही दिया गया है, जब कि वह ज प्रतिमे पाया जाता है।

(१६) ब प्रतिमे गा० ११७ की टीका संक्षिप्त हैं, वह ज मे विस्तृत है।

(१७) आगे अनेक स्थलोंपर दोनो प्रतियोकी टीकामें सक्षेप-विस्तारका भेद नामादिके साथ भी पाया जाता है। जिनमें-से कुछ एकको उदाहरणके स्वरूप यहाँ दिया जाता है—

	ब प्रति	ज प्रति
गा० १२१	चतुर्गतय.	नरकादि चतुर्गतयः
	पञ्च जातयः	एकेन्द्रियादि पंच जातयः
गा० १२३	षोडशकषायेषु	अनन्तानुबन्धि········भेदभिन्नेषु षोडशकषायेषु

(१८) ब प्रतिकी गा० १३९ की टीकाके अन्तमे जो सदृष्टियाँ दी गयी है, और जो कि प्रस्तुत संस्करणमे मुद्रित हैं, वे जयपुर-भण्डारकी प्रतिमे नही पायी जातीं।

(१९) ज प्रतिमें स्थितिबन्ध प्रकरणके अन्तमे संदृष्टियोसे पूर्व 'इत्यनुभागप्रकरणं समाप्तं' वाक्य लिखा है। पर ब प्रतिमें वह नही है। किन्तु संदृष्टियोके अन्तमें 'इति स्थितिबन्धप्रकरणं समाप्त' दिया है।

उक्त अन्तरोके अतिरिक्त और भी छोटे-मोटे अनेक अन्तर है, जिन्हे विस्तारके भयसे नही दिया गया है। टीकागत इन विभिन्नताओको देखनेपर उसके दो व्यक्तियोंके द्वारा रचे जानेकी बातपर प्रकाश पड़ता है कि एकके द्वारा संस्कृत टीकाके रचे जानेपर दूसरेने उसे यथास्थान जो पल्लवित किया है, वही भेद जयपुर और ब्यावरकी प्रतियोंमें दिखाई दे रहा है, दोनो प्रतियोंको देखते हुए यह बात हृदयपर सहजमे ही अंकित होती है।

(२०) गा० १६ की टीका ज और ब दोनों ही प्रतियोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारकी पायी जाती है। ब मे वह संक्षिप्त है, वह पाठ पादटिप्पणमें दिया गया है। ज का पाठ विस्तृत है, उसे ऊपर दिया गया है। यहाँ यह विशेष ज्ञातव्य है कि ज प्रतिका पाठ पञ्चास्तिकायकी टीकाका शब्दशः अनुकरण करता है।

मूल ग्रन्थकी विशेषताएँ

यद्यपि कर्मप्रकृतिकी बहुभाग गाथाएँ गो० कर्मकाण्डमें, तथा कुछ गाथाएँ भावसंग्रहादिमें पायी जाती हैं, तथापि अनेक गाथाएँ ऐसी हैं जो कि अन्यत्र नहीं पायी जाती हैं और न उनके द्वारा प्रकपित अर्थ ही अन्यत्र दृष्टिगोचर होता है। उदाहरणस्वरूप कुछ बातोंको नीचे दिया जाता है।

(१) गा० ८७ में गुणस्थानोंके भीतर संहननोंका वर्णन है जिससे स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि किस संहननका धारक जीव किस गुणस्थानको प्राप्त कर सकता है।

(२) गा० ८८ में जीवसमासोंके भीतर संहननोंका अस्तित्व बतलाया गया है।

(३) गा० ८९ में विदेह क्षेत्रवाले मनुष्योंके, विद्याधरोंके, म्लेच्छ मनुष्योंके तथा नागेन्द्र पर्वतसे परवर्ती क्षेत्रमें रहनेवाले तिर्यंचोंके छहों संहननोंका सद्भाव बतलाया गया है।

(४) गो० कर्मकाण्डकी टीकामें यद्यपि अगुरुलघुषट्क, त्रसद्वादशक, स्थावरदशक नामसे सूचित प्रकृतियोंका वर्णन मिलता है। पर गाथाओंमें उनका निर्देश इसी ग्रन्थमें पहली बार देखनेको मिलता है। गुणस्थानों, जीवसमासों एवं मार्गणास्थानोंके भीतर बन्ध, उदय, सत्त्व प्रकृतियोंके निरूपण-कालमें इनका बार-बार उपयोग होता है और कण्ठस्थ न रहनेके कारण अभ्यासीको कठिनाईका अनुभव करना पड़ता है। किन्तु प्रस्तुत ग्रन्थमें गा० ९५ के द्वारा अगुरुलघुषट्क, गा० ९९ के द्वारा त्रसद्वादशक और गा० १०० के द्वारा स्थावरदशकका निरूपण करके ग्रन्थकारने अभ्यासियोंको कण्ठस्थ करनेका सुवर्ण-अवसर प्रदान किया है।

(५) तीर्थंकर प्रकृतिकी सत्तावाला जीव कितने भवमें मोक्ष प्राप्त कर लेता है, इसका स्पष्ट निर्देश गा० १५८ में किया गया है, उससे यह भलीभाँति सिद्ध हो जाता है कि जिन जीवोंने गृहस्थाश्रममें रहते हुए तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध किया है, वह तीन (दीक्षा, ज्ञान, निर्वाण) कल्याणकोंका धारी होकर उसी भवसे मोक्ष जा सकता है और जिसने मुनि-अवस्थामें तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध किया है, वह (ज्ञान-निर्वाण) दो कल्याणकोंका धारक होकर उसी भवसे मुक्त हो जाता है। जो जीव तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध करके उसी भवसे मुक्त नहीं हो पाते, वे स्वर्ग या नरक जाकर और वहींसे आकर मनुष्य भवको धारण करके पंच कल्याणकोंका धारी बनकर तीसरे भवमें मोक्ष जाते हैं। इसी गाथामें क्षायिकसम्यक्त्वी जीवकी भी मुक्तिका वर्णन किया गया है कि वह अधिकसे अधिक तीसरे या चौथे भवमें नियमसे मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

टीकाकार

कर्मप्रकृतिकी बड़ी संस्कृत टीका जो मूल गाथाओंके साथ दी गयी है, उसके रचयिता वस्तुतः श्री सुमतिकीर्ति ही हैं, यह बात टीकाके प्रारम्भमें दिये गये द्वितीय मंगल श्लोकसे सिद्ध है। उसमें उन्होंने स्पष्ट शब्दोंमें अपने गुरुजनोंका स्मरण करते हुए 'वीरेन्दु ज्ञानभूषं हि वन्दे सुमतिकीर्तिकः' कहकर वीरचन्द्र और ज्ञानभूषण-की वन्दना की है और कर्ता रूपसे अपने नामका स्पष्ट निर्देश किया है। तथापि टीकाके अन्तमें दी गयी प्रशस्तिके द्वितीय पद्यसे यह भी स्पष्ट रूपसे सिद्ध है कि उन्होंने अपने साथ अपने गुरु ज्ञानभूषणको प्रस्तुत टीकाका रचयिता स्वीकार किया है। वह पद्य इस प्रकार है—

"तदन्वये दयाम्भोधिर्ज्ञानभूषो गुणाकरः।
टीकां हि कर्मकाण्डस्य चक्रे सुमतिकीर्तियुक् ॥२॥"

दोनों पद्योंपर गहराईके साथ विचार करनेपर ऐसा प्रतीत होता है कि टीकाका प्रारम्भ तो सुमति-कीर्तिने ही किया और सम्भवतः अन्त तक उसकी रचना भी की, किन्तु जैसा कि 'अ और ब प्रतिगत विशे-षताएँ' शीर्षकके अन्तर्गत दिखाया गया है—उनके गुरु ज्ञानभूषणने उस टीकाका संशोधन, परिवर्तन एवं परिवर्धनादि किया और इसी कारण प्रशस्तिमें सुमतिकीर्तिने उक्त प्रकारसे अपने साथ रचयिताकपसे ज्ञानभूषण-का भी उल्लेख किया है। यहाँ यह आशंका व्यर्थ है कि सम्भव है—अन्तिम प्रशस्ति ज्ञानभूषण-रचित हो। इसका कारण यह है कि ज्ञानभूषणके लिए जिन 'दयाम्भोधि' और 'गुणाकर' जैसे विशेषणोंका प्रयोग किया

गया है और अपने लिए एक भी विशेषणका प्रयोग न करके केवल 'सुमतिकीर्तियुक्' इतना मात्र लिखा है, उससे यह बात असन्दिग्ध रूपसे सिद्ध है कि वस्तुतः आदि मंगल-श्लोकोंसे लेकर अन्तिम प्रशस्ति-श्लोकों तक टीकाकी रचना सुमतिकीर्त्तिने ही की है। किन्तु संशोधन-परिवर्धनादि करनेके कारण कृतज्ञता-ज्ञापनके लिए उन्होंने अपने गुरुके नामका भी रचयिता रूपसे उल्लेख कर दिया है। इसके अतिरिक्त प्रशस्तिके अन्तमें जो पुष्पिका दी है, उससे भी मेरे उक्त अनुमानकी पुष्टि होती है। वह इस प्रकार है—

"इति भट्टारकज्ञानभूषणनामाङ्किता सूरिश्रीसुमतिकीर्त्तिविरचिता कर्मकाण्डस्य टीका समाप्ता।"

एक भ्रम—ऊपरके उद्धरणोंको देखते हुए यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि संस्कृत टीकाकारने प्रस्तुत ग्रन्थको कर्मकाण्ड ही समझ लिया है। जब कि यह ग्रन्थ गो० कर्मकाण्डके पहले और दूसरे अधिकारसे ही सम्बन्ध रखता है और विवेचन-पद्धतिको देखते हुए वह एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है और विषयकी दृष्टिसे 'कर्मप्रकृति' ही उसका यथार्थ नाम है।

टीकाकार-परिचय

प्रस्तुत कर्मप्रकृतिकी टीकाके अन्तमें जो प्रशस्ति दी हुई है, वह बहुत संक्षिप्त है। इन्हीं सुमतिकीर्त्तिने प्राकृत पञ्चसंग्रहकी भी टीका लिखी है और उसके अन्तमें एक विस्तृत प्रशस्ति दी है, जिसके द्वारा उनकी गुरुपरम्परापर अच्छा प्रकाश पड़ता है। उसका सार इस प्रकार है—

"आचार्य कुन्दकुन्दके मूलसंघमें क्रमशः पद्मनन्दी, देवेन्द्रकीर्त्ति, मल्लिभूषण हुए। उनके पट्टपर अनेक शिष्योंवाले भ० लक्ष्मीचन्द्र हुए। उनके पट्टपर वीरचन्द्र हुए, उनके पट्टपर ज्ञानभूषण हुए। और उनके पट्टपर प्रभाचन्द्र हुए। इनमें-से लक्ष्मीचन्द्र सुमतिकीर्त्तिके दीक्षागुरु और वीरचन्द्र तथा ज्ञानभूषण शिक्षागुरु थे।"

प्रारम्भकी गुरुपरम्पराके पश्चात् लक्ष्मीचन्द्र, उनके शिष्य वीरचन्द्र, उनके शिष्य ज्ञानभूषणका उल्लेख सुमतिकीर्त्तिने इस ग्रन्थकी प्रशस्तिमें भी किया है। उक्त कथनसे इस बातमें कोई सन्देह नहीं रह जाता है कि सुमतिकीर्त्तिके शिक्षागुरु श्रीज्ञानभूषण थे। उक्त परिचयके अतिरिक्त दोनों ही प्रशस्तियोंसे न टीकाकारके माता-पिताका ही परिचय प्राप्त होता है और न उनके जन्मस्थान, जाति आदिका ही। हाँ, पञ्चसंग्रहकी प्रशस्तिसे यह अवश्य ज्ञात होता है कि उन्होंने पञ्चसंग्रहकी टीकाकी समाप्ति ईलाव (?) नगरके श्रीआदिनाथचैत्यालयमें की। यह ईलावनगर ईडर है, या अन्य कोई नगर, यह अन्वेषणीय है। ईडर-गादीकी भट्टारक-परम्परासे सम्भवतः इसका निर्णय किया जा सकेगा।

टीकाकारका समय

यद्यपि कर्मप्रकृतिकी टीकाके रचनेके समयका कोई उल्लेख इसकी प्रशस्तिमें नहीं दिया गया है, तथापि पञ्चसंग्रहकी प्रशस्तिमें उसकी टीकासमाप्तिका स्पष्ट निर्देश किया गया है। वह टीका वि० सं० १६२० में समाप्त हुई है, अत: इसके रचे जानेका समय भी इसीके आस-पास होना चाहिए। अधिक सम्भावना तो यह है कि पञ्चसंग्रहकी टीकाके पूर्व ही कर्मप्रकृतिकी टीका रची गयी है। इसके दो कारण हैं—एक तो यह कि पञ्चसंग्रहकी अपेक्षा कर्मप्रकृति स्वल्प परिमाणवाली है, दूसरे सुगम भी है, जब कि पञ्चसंग्रह विस्तृत एवं दुर्गम है। इसके अतिरिक्त पञ्चसंग्रह-जैसे दुर्गम एवं विस्तृत ग्रन्थकी टीकापर तो केवल सुमतिकीर्त्तिका ही नाम अंकित है, जब कि कर्मप्रकृतिकी टीकापर उनके नामके अतिरिक्त उनके गुरु ज्ञानभूषणका भी नाम अंकित है। इससे यही सिद्ध होता है कि सुमतिकीर्त्तिने अपने जीवनके प्रारम्भमें कर्मप्रकृतिकी टीका गुरुके साहाय्यसे की। पीछे विद्या और वयमें प्रौढ़ हो जानेपर पञ्चसंग्रहकी टीकाका उन्होंने स्वयं निर्माण किया।

टीकागत-विशेषताएँ

टीकाकारने अपनी टीकाका प्रारम्भ करते हुए 'भाष्यं हि कर्मकाण्डस्य वक्ष्ये भव्यहितंकरम्' इस प्रतिज्ञाश्लोकके द्वारा अपनी रची जानेवाली कृतिको 'भाष्य' कहा है और ग्रन्थ-समाप्तिपर 'टीका ही कर्मकाण्ड-

स्य चक्रे सुमतिकीर्तियुक्' कहकर उसे 'टीका' नाम भी दिया है। यद्यपि सूक्ष्म दृष्टिसे भाष्य और टीकामें अन्तर है, वह यह कि टीका तो मूलमें दिये गये पदोंके अर्थका ही स्पष्टीकरण करती है, किन्तु भाष्य उक्त, अनुक्त एवं दुरुक्त सभी प्रकारकी बातोंको स्पष्ट करता है, साथ ही स्वयं शंकाएँ उठाकर उनका समाधान करना यह भाष्यकी विशेषता होती है। इस दृष्टिसे देखनेपर सुमतिकीर्त्तिके शब्दोंमें इसे भाष्य और टीका दोनों ही कहा जा सकता है।

प्रस्तुत ग्रन्थमें कर्मके विषयका निरूपण किया गया है और जहाँतक विषय-प्रतिपादनका सम्बन्ध है, वह आगम-परम्पराके अनुकूल ही है। फिर भी अनेक स्थलोंपर हमें कुछ विशेषताएँ भी दृष्टिगोचर होती हैं, जो कि इसके पूर्ववर्ती दिगम्बर साहित्यमें नहीं पायी जाती। हालाँ कि श्वेताम्बर साहित्यमें वे पायी जाती हैं। उदाहरणके रूपमें छह संहननोंकी आकृतियोंको लिया जा सकता है, जिन्हें कि प्रस्तुत संस्करणमें छपाईकी कठिनाईके कारण टीका-स्थानपर न देकर परिशिष्टमें दिया गया है। वस्तुतः संहननोंकी उक्त आकृतियाँ अर्थकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण हैं और उनपर विद्वानोंको विचार करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श नामकर्मका स्वरूप बतलाते हुए 'वा' कहकर एक-एक और भी लक्षण दिया है, जो मुझे दिगम्बर-परम्पराके शास्त्रोंमें दृष्टिगोचर नहीं हुआ है। इसी प्रकार अन्तरायकर्मकी पाँचों प्रकृतियोंकी परिभाषा भी दो-दो प्रकारसे दी है, जो कि अपनी एक खास विशेषता रखती है।

शेष टीका अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थोंकी आभारी है। कर्म-प्रकृतियोंके स्वरूपका बहुभाग सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थराजवार्तिक, तत्त्वार्थवृत्ति और गो० कर्मकाण्डकी टीकासे ज्योंका-त्यों या कहीं-कहीं थोड़े-से शब्द परिवर्तनके साथ लिया गया है।

गा० ७६ की टीका करते हुए मूलमें प्रयुक्त "अणाइणिहणारिसे उत्त" का अर्थ बड़ा विलक्षण किया गया है—"इतिसंहननं षड्विधं अनादिनिधनेन ऋषिणा भणितं आद्यन्तरहितेन ऋद्धिप्राप्तेन वृषभदेवेन कथितम्।" अर्थात् इस प्रकार छह प्रकारका सहनन आदि-अन्तरहित, ऋद्धिप्राप्त वृषभदेवने कहा। वस्तुतः उक्त गाथाचरणकी संस्कृत छाया यह है—'अनादिनिधनार्षे भणितम्' इसका सीधा-सादा अर्थ यह है कि ये छह सहनन अनादि-निधन आर्ष अर्थात् ऋषिप्रणीत आगममें कहे गये हैं। सम्भवतः प्राकृतभाषाकी ठीक जानकारी न होनेसे उक्त अर्थ किया गया प्रतीत होता है।

दूसरी संस्कृत टीका

प्रस्तुत संस्करणमें किसी अज्ञात आचार्य-रचित एक और संस्कृत टीका प्रकाशित की गयी है। इसके आदि और अन्तमें रचनेवालेके नाम आदिका कोई भी उल्लेख नहीं मिलता। यद्यपि यह संक्षिप्त है और अनेक स्थलोंपर प० हेमराजकृत भाषा टीकाके साथ समान है, तथापि कुछ स्थलोंपर अपनी विशेषताओंको भी लिये हुए है। अतः हमारे प्रधान सम्पादक महोदयोंने इसे भी प्रकाशित करनेकी अनुमति प्रदान की। इसकी कुछ विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

(१) गा० २४ की टीकामें दो प्राचीन गाथाएँ देकर यह बतलाया गया है कि कर्मभूमियाँ मनुष्य-तिर्यंचोंके आगामी भवकी आयुका बन्ध कब होता है। आगमके अनुसार वर्तमान भवकी दो त्रिभाग प्रमाण आयुके बीतनेपर और एक त्रिभागके शेष रहनेपर एक अन्तर्मुहूर्तकाल तक आगामी भवकी आयुके बाँधनेका अवसर आता है, यदि इस अवसरपर वह न बँध सके, तो शेष आयुके भी दो त्रिभागके बीतने और एक त्रिभागके शेष रहनेपर पुनः दूसरा अवसर आता है। इस प्रकार जीवनमें आठ अवसर आते हैं। यदि इनमें-से किसी भी अवसरमें आगामी भवकी आयु न बँध सकी हो तो मरणके कुछ क्षण पूर्व अवश्य ही नवीन आयुका बन्ध हो जाता है। गाथाओंमें वर्णित इसी त्रिभागके क्रमको टीकाकारने अंकसंदृष्टि देकर स्पष्ट किया है कि यदि किसी मनुष्यकी वर्तमान भव-सम्बन्धी आयु ६५६१ वर्षकी मानी जाये, तो दो त्रिभागके बीतने और २१८७ वर्षप्रमाण एक त्रिभागके शेष रहनेपर, पहला अवसर आयुबन्धका प्राप्त होगा। दूसरा

अवसर ७२९ वर्षके शेष रहनेपर, तीसरा २४३ वर्षके शेष रहनेपर, चौथा ८१ वर्षके शेष रहनेपर, पाँचवाँ २७ वर्षके शेष रहनेपर, छठा ९ वर्षके शेष रहनेपर, सातवाँ ३ वर्षके शेष रहनेपर, और आठवाँ १ वर्षके शेष रहनेपर प्राप्त होगा। आयुबन्धके उक्त आठों अवसरोंको आगमकी भाषामें अपकर्षकाल कहते हैं। यदि उक्त जीवके आठवें अपकर्षकाल अर्थात् एक वर्षके शेष रहनेपर भी आयुबन्ध न हो सके, तो मरणके कुछ समय पूर्व तो वह नियमसे होगा। यहाँ एक विशेष बात ज्ञातव्य है कि कोई जीव एक अपकर्षकालमें ही नवीन भवकी आयुका बन्ध करते हैं, कोई दो अपकर्षकालोंमें, कोई तीन अपकर्षकालोंमें; इस प्रकारसे बढ़ते हुए कितने ही जीव आठों ही अपकर्ष कालोंमें नवीन भवकी आयुका बन्ध करते हैं। किन्तु इतना निश्चित जानना चाहिए कि एक बार जिस गति-सम्बन्धी आयुका बन्ध हो जायेगा, आगामी दूसरे-तीसरे आदि अपकर्ष-कालोंमें उसी ही आयुका बन्ध होगा, उससे भिन्न अन्य आयुका नहीं। आठों अपकर्षोंमें आयुका बन्ध करने-वाले जीव सबसे कम पाये जाते हैं, सातमें उससे अधिक। इसी प्रकार उत्तरोत्तर अधिक-अधिक जानना चाहिए।

कुछ सन्दिग्ध स्थलोंके निर्णयार्थ मैंने गाथाओंके टीका पाठ मिलानके लिए श्री कस्तूरचन्द्रजी कासली-वालको लिखा था, कि यदि और भी प्राचीन प्रतियाँ जयपुरके भण्डारोंमें हों, तो आप उन्हें भेजिए। वे प्रति तो नहीं भिजवा सके पर सन्दिग्ध स्थलोंका मिलान कर पाठभेद आदि भिजवाये। उसमें प्रस्तुत संस्करण-के अन्तर्गत मूल गाथाक १४२ के नीचे पादटिप्पणमें आमेर प्रतिका पाठ दिया है, वह इन दोनों ही टीकाओंसे सर्वथा भिन्न है। जयपुरसे इस प्रतिका जो परिचय प्राप्त हुआ है, उससे ज्ञात होता है कि यह टीका सुमति-कीर्तिको पहली टीकासे भी प्राचीन है, क्योंकि वह प्रति वि० सं० १५७७ के आषाढ सुदी ३ को लिखी हुई है। जब कि सुमतिकीर्तिकी टीका १६२० के आस-पासकी लिखी है। प्रयत्न करनेपर भी हम उस प्रतिको नहीं प्राप्त कर सके। यदि वह मिल जाती तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता कि एक और प्राचीन तथा विस्तृत टीका कर्मप्रकृतिकी है।

(२) गा० ३७ की टीकामें मतिज्ञानके अवग्रहादि चारों भेदोंका बहुत ही थोड़े शब्दोंमें सुन्दर स्वरूप दिया गया है। इतने स्वल्प शब्दोंमें अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणाका इतना सुन्दर स्वरूप अन्य दोनों टीकाओंमें नहीं आया।

(३) गा० ६९ में पाँचों शरीरोंके संयोगी १५ भेदोंको एक संदृष्टि-द्वारा बहुत ही सुन्दर ढंगसे दिखलाया गया है। यह संदृष्टि भी शेष दोनों टीकामें नहीं पायी जाती।

(४) गा० ८४ में छहों संहनन-धारियोंके स्वर्ग-गमनकी योग्यता भी एक संदृष्टि-द्वारा प्रकट की गयी है। इस संदृष्टिमें एक विशेषता और भी है और वह यह कि संहननके साथ उसके धारक स्त्री या पुरुष दोनों-का नामोल्लेख कर दिया गया है।

(५) गा० ८५-८६ की टीकामें उक्त संहनन-धारियोंके नरक-गमनकी योग्यता भी एक संदृष्टि-द्वारा बतलायी गयी है।

(६) गा० ८७ की टीकामें संहनन-धारियोंके गुणस्थानोंका निरूपण एक संदृष्टि-द्वारा किया गया है। उक्त दोनों संदृष्टियाँ भी शेष दोनों टीकाओंमें नहीं दी गयी हैं।

(७) गा० १३२-१३३ की टीकामें सिद्धान्त ग्रन्थोंसे एक प्राकृत गद्यका उद्धरण देकर उत्कृष्ट, मध्यम और ईषत् संक्लेशका स्वरूप समझाया गया है।

टीका बहुत सुगम है। प्रत्येक स्वाध्याय-प्रेमीको इसका अवश्य स्वाध्याय करना चाहिए।

पं० हेमराजजी कृत भाषा टीका

प्रस्तुत संस्करणमें मूलग्रन्थ, भ० मल्लिभूषण-सुमतिकीर्तिकी संस्कृत टीका और अनुवादके पश्चात् पं० हेमराजजी कृत भाषा टीका भी दी जा रही है। पण्डितजी आजसे लगभग ३०० वर्षके पूर्व हुए हैं। उन्हें जो संस्कृत टीका प्राप्त हुई, उसीके आधारपर आपने भाषा टीका लिखी है। इस भाषा टीकाकी

विशेषता यह है कि आपने मूलमें दिये हुए प्रायः प्रत्येक विषयको खुलासा करनेका प्रयत्न किया है। अनेक स्थलोंपर स्वयं ही शंकाएँ उठाकर आगमानुकूल उनका समाधान किया है। यद्यपि यह टीका ढुंढारी भाषामें पुरानी शैलीके ढंगपर लिखी गयी है, तथापि यह सुबोध है और जिन लोगोंने ढुंढारी भाषामें लिखी गयी वचनिकाओंका स्वाध्याय नहीं भी किया है, उन्हें भी इसके समझनेमें कोई कठिनाई नहीं होगी। फिर भी ढुंढारी भाषामें लिखे गये कुछ मुहावरोंकी सूचना करना आवश्यक है, ताकि पाठकोंको समझनेमें सुगमता होवे।

बहुरि—यह शब्द पुनःके अर्थमें व्यवहार किया जाता है।

अरु—यह औरका ही अपभ्रंश रूप है।

जातैं—यह यतः के अर्थमें प्रयुक्त होता है, जिसे हिन्दुस्तानीमें 'चूँकि' कहते हैं।

तातैं—यह ततः के अर्थमें प्रयुक्त होता है, जिसे हिन्दीमें 'इसलिए' लिखा जाता है।

कै—यह वर्तमानमें प्रयुक्त 'कि' के स्थानमें लिखा गया है।

करि—यह तृतीया विभक्तिके अर्थमें प्रयोग किया जाता है यथा – ज्ञानकरि अर्थात् ज्ञानके द्वारा।

नि—इसका प्रयोग जिस शब्दके अन्तमें किया जाये उससे षष्ठी विभक्तिके बहुवचनका अर्थ समझना चाहिए। जैन कर्मनिकरिका अर्थ कर्मोंके द्वारा।

हु—इसका प्रयोग भी षष्ठी विभक्तिके बहुवचनमें किया गया है। यथा – कर्महुको दशाका अर्थ कर्मोंकी दशा है। कहीं-कहीं इसका प्रयोग 'हो' के अर्थमें भी हुआ है।

जु—का प्रयोग 'जो' के अर्थमें हुआ है।

सु—का प्रयोग 'सो' के अर्थमें हुआ है।

विषैं—या विर्षै—का प्रयोग सप्तमी विभक्तिके अर्थमें होता है। यथा – कुल विषैं यानी कुलमें।

ताईं—का अर्थ 'तक' है। जैसे – छठे ताईं – अर्थात् छठे गुणस्थान तक।

कह्या—कहा।

काहे—क्यों, किस कारण।

संते—संस्कृतके 'सति' के अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। जैसे ज्ञानके होते संते यानी ज्ञानके होते हुए।

इसी प्रकारके कुछ और भी शब्दोंका प्रयोग इस भाषा टीकामें हुआ है जिनका कि अर्थ पढ़ते हुए ही पाठकोंको समझमें आ जायेगा।

यह तो हुई टीकाकी भाषाके विषयमें सूचना। अर्थके विषयमें भी कुछ बातें सूचनाके योग्य हैं। यद्यपि भाषा टीकाकारने प्रत्येक पारिभाषिक शब्दकी व्याख्या करनेमें पूरी सावधानी रखी है और जहाँतक सम्भव हुआ – आगमानुकूल ही अर्थ किया है, पर कुछका अर्थ फिर भी विचारणीय है। जैसे सप्तभंगोके स्वरूपमें पाँचवें, छठे, सातवें भंगका स्वरूप; गाथा ३७ की टीकामें 'नियमित' का अर्थ; इसीके भावार्थमें क्षिप्र-अक्षिप्र-का अर्थ, ध्रुव-अध्रुवका अर्थ विचारणीय है। बहु-ईहाके अर्थको करते हुए 'बहुतको सन्देहरूप जानना' भी विचारणीय है। इनके अतिरिक्त कुछ और भी स्थल विचारणीय हैं, जिन्हें विद्वज्जन तो सहज ही समझ जायेंगे और साधारण जन प्रारम्भमें दी हुई संस्कृत टीकासे निर्णय कर सकेंगे।

भाषा टीकाकी शैलीको देखते हुए इसे हिन्दीभाष्य कहना उपयुक्त होगा, क्योंकि मूलमें अनुक्त ऐसे कितने ही विषयोंकी चर्चा स्वयं शंका उठा करके की गयी है। कितने ही गूढ़ विषयोंका भावार्थमें स्पष्टी-करण किया गया है। इससे यह भाषा टीका स्वाध्याय करनेवालोंके लिए बहुत ही उत्तम है। इसी बातको देख करके हमारे प्रधान सम्पादकोंने इसके प्रकाशनकी भावना प्रकट कर सहर्ष स्वीकृति प्रदान की।

पं० हेमराजजीने अपनी भाषा टीका जिस संस्कृत टीकाके आधारपर की है और जिसके वाक्य बीच-बीचमें देकर अपनी टीकाको समृद्ध किया है, उसके आदिमें न कोई मंगलाचरण पाया जाता है और न अन्तमें

-रचयिताकी प्रशस्ति आदि हो। इससे उसके कर्ता आदिके विषयमें कुछ नहीं कहा जा सकता। केवल इतना अवश्य कह सकते हैं कि आपके सामने भ० मल्लिभूषण-सुमतिकीर्तिकी संस्कृत टीका नहीं थी। अन्यथा अपनी वचनिकामें आप उसका अवश्य ही भरपूर उपयोग करते—या यों कहना चाहिए कि उसीको आधार बनाकर आप अपनी भाषा टीका लिखते।

संस्कृत टीकाकारके समान आपने भी 'कर्मप्रकृति' को 'कर्मकाण्ड' नामसे उल्लेख किया है और टीका-समाप्तिपर जो इति वाक्य लिखा है, उसमें स्पष्ट शब्दोंके द्वारा अपनी टीकाको 'कर्मकाण्ड' की टीका घोषित किया है। पर यह गो० कर्मकाण्डसे भिन्न एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है, यह बात मैं पहले ही बतला आया हूँ।

विषय-परिचय

प्रस्तुत ग्रन्थका नाम कर्मप्रकृति है और इसमें अपने नामके अनुरूप ही कर्मोंकी प्रकृति यानी स्वभाव या स्वरूपका वर्णन किया गया है।

यहाँ स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि कर्म क्या वस्तु है, और इसे स्वीकार करनेकी क्या आवश्यकता है, कर्मको माननेकी आवश्यकता हमारे महर्षियोंको इसलिए हुई कि तर्ककी कसौटीपर कसने या जाँचे जानेपर ससारका स्रष्टा ईश्वर आदि कोई सिद्ध नहीं होता। उसके विषयमें इतने प्रश्न उठ खड़े होते हैं कि न कोई जगत्का सर्जनहारा सिद्ध होता है और न असंख्य जातिका जगत्-वैचित्र्य किसी एकके द्वारा रचा जाना सम्भव है। वस्तुतः प्रत्येक प्राणी अपने व्यक्तिगत जगत्का स्वय स्रष्टा है! वह स्वय कैसे अपने शरीरादिका स्रष्टा है, यह बात कर्मसिद्धान्तके विवेचन और मननसे पाठकोंको स्वयं ही भली-भाँति विदित हो जायेगी। यत: ईश्वरके जगत्-कर्तृत्वका खण्डन या निराकरण जो न्यायके ग्रन्थोंमें बहुत अच्छी तरह किया गया है, अतः यहाँ पर उसकी चर्चा करना आवश्यक नहीं है।

कर्म क्या वस्तु है ?

इसका उत्तर यह है कि राग-द्वेषसे संयुक्त इस संसारी जीवके भीतर प्रतिसमय जो परिस्पन्दरूप एक प्रकारकी क्रिया होती रहती है उसके निमित्तसे आत्माके भीतर एक प्रकारका बीजभूत अचेतन द्रव्य आता है और वह राग-द्वेष रूप परिणामोंका निमित्त पाकर आत्माके साथ बँध जाता है। समय पाकर वही बीजभूत द्रव्य सुख-दुःखरूप फल देने लगता है, इसे ही कर्म कहते हैं। जीवके साथ इस प्रकारके कर्मका सम्बन्ध अनादिकालीन है। ऐसा नहीं है कि जीव अनादिकालसे सर्वथा शुद्ध चैतन्य रूपमें था, पीछे किसी समय उसका कर्मके साथ सम्बन्ध हो गया हो। ग्रन्थकारने इसी बातको अपने ग्रन्थकी दूसरी ही गाथामें यह दृष्टान्त देकर स्पष्ट किया है कि जिस प्रकार खानके भीतर स्वर्ण और पाषाणका अनादि-कालीन सम्बन्ध चला आ रहा है, उसी प्रकार जीव और कर्मका भी अनादिकालीन सम्बन्ध स्वयं सिद्ध जानना चाहिए।

यत. जीव और कर्मका सम्बन्ध अनादिसे है, अत मोटे तौरपर कर्मके दो भेद किये गये हैं — एक भावकर्म और दूसरा द्रव्यकर्म। जीवके जिन राग-द्वेषरूप भावोंका निमित्त पाकर अचेतन कर्मद्रव्य आत्माकी ओर आकृष्ट होता है, उन भावोंका नाम भावकर्म है और जो अचेतन कर्मद्रव्य आत्माके भीतर आता है उसका नाम द्रव्यकर्म है। इस द्रव्य और भावकर्मकी ऐसी ही कार्य कारण परम्परा अनादिसे चल रही है कि राग-द्वेषरूप भावकर्मका निमित्त पाकर द्रव्यकर्म आत्मासे बँधता है और उसका निमित्त पाकर आत्मामें पुनः राग-द्वेषका उदय होता है।

द्रव्यकर्म क्या वस्तु है? इसका उत्तर यह है कि जैनदर्शनकी मान्यताके अनुसार दो प्रकारके द्रव्य संसारमें पाये जाते हैं — १ चेतन, २ अचेतन। अचेतन द्रव्य भी पाँच प्रकारके हैं — धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल। इनमें-से चार प्रकारके द्रव्य तो अमूर्तिक एवं अरूपी हैं, अत. वे इन्द्रियोंके अगोचर हैं और इसीसे अग्राह्य भी हैं। केवल एक पुद्गल द्रव्य ही ऐसा है जो मूर्तिक और रूपी है और इसीसे वह

इन्द्रियों द्वारा दिखाई देता है, तथा वह पकड़ा और छोड़ा भी जाता है। "पूरणात् गलनात् पुद्गलः" इस निरुक्तिके अनुसार मिलना और बिछुड़ना इसका स्वभाव ही है। इस पुद्गल द्रव्यकी ग्राह्य-अग्राह्यरूपसे २३ प्रकारकी वर्गणाएँ जैनसिद्धान्तमें बतलायी गयी हैं, उनमें-से जो कर्म और नोकर्मवर्गणाएँ हैं उन्हें यह जीव अपनी चंचलता रूप क्रियाके द्वारा प्रति समय अपने भीतर खींचता रहता है, जिस प्रकारसे कि लोहेका गरम गोला पानीके भीतर डाले जानेपर चारों ओरसे अपने भीतर पानीको खींचता है। इनमें जो कर्मवर्गणाएँ हैं, वे ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंके रूपसे परिणत होती है और जो नोकर्मवर्गणाएँ हैं, वे शरीर रूपसे परिणत होती है। इन कर्मवर्गणाओंको ही आत्मासे संबद्ध हो जानेपर द्रव्यकर्म कहा जाता है। प्रस्तुत ग्रन्थमें इसी द्रव्यकर्मका सांगोपांग विवेचन किया गया है।

द्रव्यकर्मके मूलमे आठ भेद हैं—१ ज्ञानावरण २ दर्शनावरण ३ वेदनीय ४ मोहनीय ५ आयु ६ नाम ७ गोत्र और ८ अन्तराय। आत्माके जाननेकी शक्तिको ज्ञान कहते हैं और इस ज्ञानके आवरण करनेवाले कर्मको ज्ञानावरण कहते हैं। आत्माके देखनेकी शक्तिको दर्शन कहते हैं और उस दर्शन गुणके आवरण करनेवाले कर्मको दर्शनावरण कहते है। सुख और दुःखके अनुभव करानेवाले कर्मको वेदनीय कहते हैं। सासारिक पदार्थोमें मोहित करनेवाले कर्मको मोहनीय कहते हैं। मनुष्य-तिर्यंचादिके किसी एक शरीरमें नियत काल तक रोक रखनेवाले कर्मका नाम आयुकर्म है। मनुष्य-तिर्यंच आदिके शरीर, अंग-उपांग आदि बनानेवाले कर्मको नामकर्म कहते है। ऊँच-नीच कुलोमे उत्पन्न करनेवाले कर्मका नाम गोत्रकर्म है और जिसके उदयमे जीव मनोवाछित वस्तुको न पा सके उसका नाम अन्तराय कर्म है। प्रस्तुत ग्रन्थमें गाथा ८ से लेकर ३५वी गाथा तक उक्त आठो कर्मोके स्वरूप आदिका दृष्टान्तपूर्वक बहुत सुन्दर ढगसे विवेचन किया गया है, जिसे विशेष जिज्ञासुओंको वहीसे देखना चाहिए।

उक्त आठों कर्मोके उत्तरभेद जिन्हें कि उत्तर प्रकृति कहते हैं, इस प्रकार बतलाये गये हैं— ज्ञानावरणके ५, दर्शनावरणके ९, वेदनीयके २, मोहनीयके २८, आयुके ४, नामके ९३, गोत्रके २ और अन्तरायके ५। ये सब मिलकर आठो कर्मोके उत्तरभेद एक सौ अड़तालीस (१४८) हो जाते हैं।

मूल आठ कर्मोको दो भागोमे विभक्त किया गया है—१ घातिकर्म और २ अघातिकर्म। जो कर्म आत्माके ज्ञान-दर्शनादि गुणोका घात करते हैं उन्हे घातिकर्म कहते हैं। ऐसे घातिकर्म चार हैं – १ ज्ञानावरण २ दर्शनावरण ३ मोहनीय और ४ अन्तराय। जो कर्म आत्म-गुणोके घातनेमे असमर्थ हैं, उन्हें अघातिकर्म कहते हैं। उनके भी चार भेद है – १ वेदनीय, २ आयु, ३ नाम और ४ गोत्र। घातिकर्मके भी दो भेद है – १ देशघाति और २ सर्वघाति। जो कर्म आत्म-गुणोंको पूरे रूपसे घातते है उन्हें सर्वघाति कहते है और जो आत्म-गुणोके एक देशको घातते है, उन्हे देशघाति कहते हैं। ऊपर जो आठों कर्मोके उत्तरभेद बताये गये है, उनमे घातिया कर्मोके ४७ उत्तरभेद है। इनमें-से २१ प्रकृतियाँ तो सर्वघाती हैं और २६ प्रकृतियाँ देशघाती है। घातिया कर्मोको पाप रूप ही माना गया है, किन्तु अघातिया कर्मोमें पुण्य और पाप दोनो रूप पाये जाते है। इसका विशद विवेचन भी ग्रन्थमें यथास्थान किया गया है।

बन्धके भेद

कर्म-बन्धके चार भेद होते हैं—१ प्रकृतिबन्ध २ स्थितिबन्ध ३ अनुभागबन्ध और ४ प्रदेशबन्ध।

प्रकृतिबन्ध—प्रतिसमय आनेवाले कर्मपरमाणुओंमें आत्माके रागादि परिणामोंके निमित्तसे जो ज्ञान-दर्शन आदि गुणोको आवरण करनेका स्वभाव पड़ता है, उसे प्रकृतिबन्ध कहते हैं। प्रकृतिबन्धके ज्ञानावरण आदिक आठ मूल भद हैं, इन्हीके उत्तरभेद एक सौ अड़तालीस होते है और तर-तम भावोंकी अपेक्षा असंख्यात भेद होते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थमें प्रकृतिबन्ध प्रकरणके भीतर कर्मोके १४८ भेदोंका स्वरूप गा० १२१ तक बत-लाया गया है, जिसे विस्तार-भयसे यहाँ नहीं दे रहे है। पाठक ग्रन्थसे ही ज्ञात करें।

स्थितिबन्ध—आनेवाले कर्म-परमाणु जितने कालतक आत्माके साथ बँधे रहते हैं, उस कालकी मर्यादाको स्थितिबन्ध कहते हैं। यह स्थितिबन्ध दो प्रकारका है—उत्कृष्ट स्थितिबन्ध और जघन्य स्थितिबन्ध।

जब आत्मा क्रोधादि कषायोंके तीव्र उदयका निमित्त पाकर संक्लेश-परिणतिकी चरम सीमाको प्राप्त होता है उस समय उसके बँधनेवाले कर्मोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है और जब कषायोंका उदय अत्यन्त मन्द होनेसे आत्मा विशुद्धिसे परिणत होता है, उस समय उसके बंधनेवाले कर्मोंका जघन्य बन्ध होता है। उदाहरणके तौर-पर मोहनीयकर्मके उत्कृष्ट स्थितिबन्धका प्रमाण ७० कोड़ाकोडी सागरोपम काल है। यह उत्कृष्ट स्थितिबन्ध उस मिथ्यादृष्टि तीव्रकषायी जीवके होगा, जो संक्लेश परिणामोंकी चरमसीमा पर पहुँचा हुआ है। मोहनीय-कर्मके जघन्य स्थितिबन्धका प्रमाण अन्तर्मुहूर्त काल है इतनी अल्प स्थितिवाला मोहकर्मका बन्ध उस जीवके होगा जो मिथ्यात्वके महागर्तसे निकल कर आत्मपरिणामोंकी विशुद्धिसे सम्यग्दृष्टि हो ऊपरके गुणस्थानोंमें चढ़ता हुआ संयमी बनकर मोहकर्मकी २८ प्रकृतियोंमें-से २७ के नवीन बन्धका निरोध कर चुका है, पुरानी बँधी प्रकृतियोंके सत्त्वका विनाश कर चुका है, ऐसे कर्मक्षयके अभिमुख महासंयमीके नवें गुणस्थानके अन्तिम समयमें होगा। इसी प्रकारसे शेष कर्मोंके उत्कृष्ट और जघन्य स्थितिबन्धके विषयमें जानना चाहिए। स्थिति-बन्धके उक्त नियमकी ३ प्रकृतियाँ अपवादरूप भी हैं—देवायु, मनुष्यायु और तिर्यगायुकी उत्कृष्ट स्थितिका बन्ध उत्कृष्ट विशुद्धिकी अवस्थामें होता है और जघन्य स्थितिका बन्ध उत्कृष्ट संक्लेशकी अवस्थामें होता है। इस प्रकारसे सभी कर्म-प्रकृतियोंका उत्कृष्ट और जघन्य स्थितिबन्धका निरूपण प्रस्तुत ग्रन्थकी गाथा १२२ से लेकर १३९वी तक किया गया है।

अनुभागबन्ध—बँधनेवाले कर्मपरमाणुओंमें आत्माके संक्लेश या विशुद्ध परिणामोंका निमित्त पाकर जो सुख-दुःख या भले-बुरे फल देनेकी शक्ति पड़ती है, उसे अनुभागबन्ध कहते हैं। घातिया कर्मोंके अनुभागकी उपमा लता (बेलि), दारु (काठ), अस्थि (हड्डी) और शैल (पाषाण) के रूपमें दी गयी है। जिस प्रकार लतासे काठमें कठोरता अधिक होती है उससे हड्डीमें और उससे अधिक पाषाणमें कठोरता अधिक पाई जाती है, उसी प्रकार संक्लेश परिणामोंके तर-तम भावसे ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मोंकी ४७ प्रकृतियोंकी अनुभाग यानी फलदानशक्तिलता, दारु आदिके रूपसे चार प्रकारकी होती है। इसका अभिप्राय यह है कि उन प्रकृति-योंकी जैसी अनुभाग शक्ति होगी, उसीके अनुसार वे अपना फल भी हीनाधिक रूपमें देंगी। यत घातिया-कर्मोंकी सभी प्रकृतियोंको पापरूप ही माना गया है, अत उनका अनुभाग भी बुरे रूपमें ही अपना फल देता है। वेदनीय आदि चार अघातिया कर्मोंकी १०१ प्रकृतियोंका विभाजन पुण्य और पाप दोनोंमें किया गया है। सातावेदनीय, उच्चगोत्र आदि पुण्य प्रकृतियाँ हैं और असातावेदनीय, नीचगोत्र आदि पाप प्रकृतियाँ हैं। पाप प्रकृतियोंके अनुभागकी उपमा नीम, काँजी, विष और हालाहलसे दी गयी है। जैसे इन चारोंमें कड़वापन उत्त-रोत्तर अधिक मात्रामें पाया जाता है, उसी प्रकारसे पापप्रकृतियोंमें अपने फल देनेकी शक्ति भी चार प्रकारकी पायी जाती है। पुण्य प्रकृतियोंके अनुभागकी उपमा गुड़, खाँड, शक्कर और अमृतसे दी गयी है। जिस प्रकार इन चारोंमें मिष्टताकी मात्रा उत्तरोत्तर अधिक पायी जाती है उसी प्रकारसे पुण्य प्रकृतियोंके अनुभागमें भी चार प्रकारसे फल देनेकी शक्ति पायी जाती है। इस प्रकार कुछ अन्य विशेषताओंके साथ संक्षिप्त-सा वर्णन गा० १४० से लेकर १४३ तक किया गया है। अनुभागका विस्तृत विवेचन गो० कर्मकाण्डमें देखना चाहिए।

प्रदेशबन्ध—प्रति समय आत्माके साथ बँधनेवाले कर्मपुंजमें जितने परमाणु होते हैं, उनका यथा-सम्भव सब कर्मोंमें जो विभाजन होता है, उसका नाम प्रदेशबन्ध है। इसका यह नियम है कि एक समयमें बँधनेवाले कर्म-परमाणुओंमें-से आयुकर्मको सबसे कम परमाणु मिलते हैं, नाम और गोत्रकर्मको परस्परमें समान मिलते हुए भी आयुकर्मसे अधिक मिलते हैं। ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मको परस्परमें समान मिलते हुए भी नाम-गोत्रकी अपेक्षा अधिक भाग मिलता है। इन तीनों घाति कर्मोंकी अपेक्षा मोहकर्मको और भी अधिक हिस्सा मिलता है और वेदनीय कर्मको मोहसे भी अधिक हिस्सा मिलता है। ग्रन्थकारने यह विभाजनका वर्णन संक्षेपके कारण इस स्थलपर नहीं किया है, किन्तु जैसा कि पहले बतलाया गया है—मूडबिद्रीकी ताड़पत्रीय प्रतिमें उक्त अर्थकी प्रतिपादक 'आउगभागो थोओ' इत्यादि गाथा ग्रन्थके प्रारम्भमें पचीसवीं गाथाके पश्चात् पायी जाती है। उक्त वर्णनकी उपयोगिता को देखते हुए उसका यहाँ होना

प्रकरणसंगत है। किन्तु यह गाथा गोम्मटसार कर्मकाण्डमें प्रदेशबन्ध प्रकरणके भीतर ही दी गयी है।

प्रस्तुत ग्रन्थमें प्रदेश बन्ध-प्रकरणके भीतर पृथक्-पृथक् आठों कर्मोंके बन्ध-कारणोंका निरूपण किया गया है। यहाँ यह बात ज्ञातव्य है कि उक्त वर्णन गो० कर्मकाण्डमें प्रदेशबन्ध-प्रकरणके भीतर न करके ग्रन्थके अन्तमें प्रत्यय-प्ररूपणाके अन्तर्गत किया गया है। इस प्रकरणमें जो गाथाएँ वहाँ पायी जाती हैं, वे ही ज्योंकी त्यों यहाँ कर्मप्रकृतिके प्रदेश बन्ध-प्रकरणमें दी गयी हैं। और प्रदेशबन्ध सम्बन्धी वर्णन करनेवाली जो गाथाएँ गो० कर्मकाण्डके प्रदेशबन्ध अधिकारके भीतर पायी जाती हैं, उनमें-से एक भी गाथा यहाँ नहीं पायी जाती है। दोनों ग्रन्थोंके विषय-निरूपणकी यह विभिन्नता यद्यपि दोनोंके एक कर्तृत्वमें सन्देह उत्पन्न करती है, तथापि यत. बन्धका सम्बन्ध आस्रवसे है और तत्त्वार्थसूत्र आदि प्राचीन सूत्र एवं आगम ग्रन्थोंमें तत्प्रदोष, निह्नव आदिको आस्रव-कारणोंके रूपसे प्रतिपादन किया गया है, अतः उक्त परम्पराको सूचित करने या अपनानेकी दृष्टिसे ग्रन्थकारने ज्ञानावरणादि कर्मोंके प्रधान बन्ध-कारणोंका यहाँ प्रतिपादन करना उचित समझा हो।

जो कुछ भी हो, पर यहाँ एक बात अवश्य उल्लेखनीय है कि श्वेताम्बरीय प्राचीन कर्म ग्रन्थोंको नवीन कर्मग्रन्थ रूपसे रचनेवाले श्वेताम्बराचार्य देवेन्द्रसूरिने अपने कर्मविपाक नामक प्रथम कर्मग्रन्थके अन्तमें कुछ शब्द-परिवर्तनके साथ उक्त गाथाओंको स्थान दिया है, जब कि गर्ग ऋषि प्रणीत कर्मविपाक नामक प्राचीन प्रथम कर्मग्रन्थमे उक्त वर्णन इस स्थलपर नहीं है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि देवेन्द्रसूरिका समय विक्रमकी तेरहवी शताब्दी है जब कि आचार्य नेमिचन्द्र विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दीमें हुए हैं।

दि० श्वे० कर्म-साहित्यमें समता और विषमता

मोटे तौरपर प्राचीन दिगम्बर और श्वेताम्बर कर्म-साहित्यमें कोई विषमता या विभिन्नता नहीं है। किन्तु जब उनके स्थानपर नवीन पंचसंग्रह और नवीन कर्मग्रन्थोंकी रचना की गयी, तबसे कर्मप्रकृतियोंके स्वरूपमें तथा उनके बन्ध, उदय, सत्त्व आदि सूक्ष्म बातोंके वर्णनमें कही कुछ विभिन्नता दृष्टि-गोचर होने लगी, इस बातका कुछ जिक्र मैंने दि० पंचसंग्रहकी प्रस्तावनामें किया है। प्रकृत ग्रन्थमें यत. केवल कर्मकी प्रकृतियोके स्वरूपका निरूपण ही प्रधानतासे किया गया है, अत यहाँपर जिन प्रकृतियोके स्वरूप आदिमें कुछ अन्तर है, वह दिखाया जाता है :

प्रकृति-नाम	दि० मान्यता	श्वे० मान्यता
१. निद्रा –	जिसके उदयसे चलता व्यक्ति खड़ा रह जाये, खड़ा हुआ बैठ जाये और बैठा हुआ गिर जाये। (कर्मप्र० गा० ५०)	जिसके उदयसे हलकी नींद आये, सोता हुआ जीव जरा-सी आवाजसे जग जाये। (प्रा० कर्मवि० गा० २२, न० कर्मवि० गा० ११)
२. प्रचला –	जिसके उदयसे जीव कुछ जागता और कुछ सोता-सा रहे। (कर्मप्र० गा० ५१)	जिसके उदयसे खड़े-खड़े या बैठे-बैठे नींद आ जाये। (प्रा० कर्मवि० गा० २३, न० कर्मवि० गा० ११)
३. प्रचला-प्रचला –	जिसके उदयसे मुखसे लार बहे और सोतेमें जीवके हाथ-पाँव आदि चलें। (कर्मप्र० ५०)	जिसके उदयसे मनुष्यको चलते-फिरते भी नींद आ जाये। (कर्मवि० गा० ११)
४. सम्यक्त्वप्रकृति –	जिसके उदयसे सम्यग्दर्शनमें चल-मलिनादि दोष लगें। ( )	जिसके उदयसे जीव सर्वज्ञ-प्रणीत तत्त्व श्रद्धान करे। (प्रा० कर्मवि० गा० ३७ न० ,, ,, १५)

प्रकृति-नाम	दि० मान्यता	श्वे० मान्यता
५. सम्यग्मिथ्यात्व –	जिसके उदयसे जीवके तत्त्व और अतत्त्वश्रद्धानरूप दोनों प्रकारके भाव हों। ( )	जिसके उदयसे जीवके जिन-धर्ममें न राग हो और न द्वेष हो। (प्रा० कर्म० गा० ३८, न० ,, ,, १६)
६. जुगुप्सा –	जिसके उदयसे जीव अपने दोष छिपावे और परके दोष प्रकट करे। (कर्मप्र० टी० गा० ६२)	जिसके उदयसे जीवके गन्दी वस्तुओंपर घृणा या ग्लानि हो। (प्रा० कर्मवि० गा० ६०, न० ,, टी० २२)
७. गतिनामकर्म –	जिसके उदयसे जीव भवान्तरको जाता है। (कर्मप्र० ६७)	जिसके उदयसे जीवको मनुष्य, तिर्यंच आदि पर्यायकी प्राप्ति हो। (कर्मवि० गा० २४ टीका)
८. शरीरके संयोगी भेद –	पाँचों शरीरोंके संयोगी भेद १५ है। (कर्मप्र० गा० ६९)	पाँचों शरीर सम्बन्धी बन्धननामकर्मके संयोगी भेद १५ होते है। (प्रा० कर्मवि० गा० ९३–१०१ न० ,, ,, ३७)
९. परघात –	जिसके उदयसे दूसरोंके घात करनेवाले शरीरके अवयव उत्पन्न हो, दाढ़ोंमे विष आदि हो। (कर्मप्र० गा० ९५ टीका)	जिसके उदयसे जीव दूसरे बलवानोंके द्वारा भी अजेय हो वह परघातकर्म है। (न० कर्मवि० गा० ४४) नोट – प्राचीनकर्म विपाकमे परघातका स्वरूप दि० स्वरूपके समान है। (प्रा० कर्मवि० गा० १२०)
१०. आनुपूर्वीनामकर्म–	जिसके उदयसे विग्रहगतिमे जीवका आकार पूर्वशरीरके समान बना रहे। (कर्मप्र० गा० ९३)	जिसके उदयसे समश्रेणिसे गमन करता हुआ जीव विश्रेणि गमन करके उत्पत्ति-स्थानको पहुँचे। (कर्मवि० गा० २५ टी०)
११. स्थिरनामकर्म –	जिसके उदयसे उग्र तपश्चरण करनेपर भी परिणाम स्थिर रहें। (राजवा० अ० ८) जिसके उदयसे शरीरके धातु अधातु अपने अपने स्थानपर स्थिर रहें। (कर्मप्र० गा० ९९ टी०)	जिस कर्मके उदयसे दाँत, हड्डी, ग्रीवा आदि शरीरके अवयव स्थिर रहें। (प्रा० कर्मवि० गा० १४०, न० ,, ,, ५०)
१२. अस्थिरनामकर्म –	जिस कर्मके उदयसे जरासे उपवासादि करनेपर परिणाम चंचल हो जायें। (राजवा० अ० ८ सू०····) जिसके उदयसे शरीरके धातु-उपधातु, स्थिर न रहें। (कर्मप्र० गा० १०० टी०)	जिस कर्मके उदयसे जीभ, कान आदि अवयव चचल रहें। (प्रा० कर्मवि० गा० १४१, न० ,, टी० ५१)
१३. आदेयकर्म –	जिसके उदयसे शरीरमें प्रभा हो। (कर्मप्र० गा० ९९ टीका)	जिसके उदयसे जीवकी चेष्टा वचनादि सर्वमान्य हो। (प्रा० कर्मवि० गा० १४६ न० ,, ५१ टी०)

प्रकृति-नाम	दि० मान्यता	श्वे० मान्यता
१४. अनादेयकर्म —	जिसके उदयसे शरीरमें प्रभा न हो। (कर्मप्र० गा० १०० टीका)	जिसके उदयसे जीवकी चेष्टा, वचनादि सर्वमान्य न हों। (प्रा० कर्मवि० गा० १४६ न० ,, ,, ५१ टी०)
१५. शुभनाम —	जिस कर्मके उदयसे शरीरके अवयव सुन्दर हों। (कर्मप्र० गा० ९९ टी०)	जिस कर्मके उदयसे नाभिसे ऊपरके अवयव सुन्दर हों (प्रा० कर्मवि० गा० १४२ न० ,, ,, ५०)
१६. अशुभनाम —	जिस कर्मके उदयसे शरीरके अवयव कुरूप हों। (कर्मप्र० गा० १०० टी०)	जिस कर्मके उदयसे नाभिसे नीचेके अवयव असुन्दर हों। (प्रा० कर्मवि० गा० १४३ न० ,, ,, ५०)
१६. निर्माणनामकर्म —	इसके दो भेद किये गये हैं — स्थाननिर्माण और प्रमाणनिर्माण। स्थाननिर्माणके उदयसे अंगोपाग अपने स्थानपर होते है और प्रमाणनामकर्मके उदयसे जिस अगका जितना प्रमाण होना चाहिए उतना होता है। (कर्मप्र० गा० ९९ टीका)	श्वे० शास्त्रोंमे इसके दो भेद नही किये गये हैं और इसका कार्य अंगोपांगोको अपने अपने स्थानमें व्यवस्थित करना इतना ही माना गया है। (कर्मवि० गा० २५ टीका)
१७. यशस्कीर्ति —	जिसके उदयसे संसारमें यश फैले। (कर्म० गा० ९९ टी०)	जिसके उदयसे दान-तपादि जनित यश फैले। एक दिशामे फैलनेवाली ख्यातिको यश और सर्वदिशामें फैलनेवाली ख्यातिको कीर्ति कहते है। (कर्मवि० गा० ५१ टीका)
१८. उच्चगोत्र —	जिस कर्मके उदयसे लोक-पूजित, कुलमें जन्म हो। (कर्मप्र० गा० १०१ टी०)	जिस कर्मके उदयसे बुद्धि-विहीन, निर्धन एवं कुरूप भी व्यक्ति लोकमें पूजा जावे। (प्रा० कर्मवि० गा० १५४)
१९. नीचगोत्र —	जिस कर्मके उदयसे जीव लोक-निंद्य कुलमे उत्पन्न हो। (कर्मप्र० गा० १०१ टी०)	जिस कर्मके उदयसे बुद्धिमान्, धनवान् और रूपवान् भी व्यक्ति लोकमे निन्दा पावे। (प्रा० कर्मवि० १५५)
२०. वीर्यान्तरायकर्म —	जिस कर्मके उदयसे जीवके बल-वीर्यकी प्राप्ति न हो, किसी कार्यके करनेका उत्साह न हो। (कर्मप्र० गा० १०२ टीका)	जिस कर्मके उदयसे बलवान्, नीरोग और सामर्थ्यवान् होते हुए भी वीर्यसे विहीन हो। (प्रा० कर्मवि० गा० १६६)

उपर्युक्त विभिन्नताके अतिरिक्त एक और सबसे बड़ी दोनों सम्प्रदायोंमें कर्मप्रकृतियोंके पुण्य-पापमें विभाजनकी है। वह यह कि दिगम्बर सम्प्रदायके सभी कर्मविषयक ग्रन्थोंमे घातिया कर्मो की सभी प्रकृतियोंको पाप प्रकृतिमें परिगणित किया गया है, तब श्वेताम्बर सम्प्रदायमें मोहनीय कर्मके अन्तर्गत दर्शनमोहकी सम्यक्त्व प्रकृतिको, तथा चारित्र मोहके अन्तर्गत जो नव नोकषाय प्रकृतियाँ हैं उनमें-से हास्य, रति और पुरुषवेद इन तीन प्रकृतियोंको पुण्यप्रकृतियोंमें गिना गया है। (देखो तत्त्वार्थ भाष्य अ० ८, सू० २६)

विषय-सूची

गाथा-संख्या

गाथा-संख्या

गाथा-संख्या

श्रीनेमिचन्द्राचार्यविरचिता

कर्मप्रकृतिः

महावीरं प्रणम्यादौ विश्वतत्त्वप्रकाशकम् ।
भाष्यं हि कर्मकाण्डस्य वक्ष्ये भव्यहितङ्करम् ॥१॥
विद्यानन्दि[1]सुमङ्गलादि[2]भूषलक्ष्मीन्दुसद्गुरुम् ।
वीरेन्दुं ज्ञानभूषं हि वन्दे सुमतिकीर्त्तिकः[3] ॥२॥

सिद्धान्त[4]परिज्ञानचक्रवर्तिश्रीनेमिचन्द्रकविः ग्रन्थप्रारम्भे पूर्वं ग्रन्थनिर्विघ्नपरिसमाप्त्यर्थमिष्टदेवनेमिनाथं[5] नमस्कुर्वन्[6] गाथामाह—

पणमिय सिरसा णेमिं गुणरयणविहूसणं महावीरं ।
सम्मत्तरयणणिलयं पयडिसमुक्कित्तणं वोच्छं ॥१॥

वोच्छं अहं[7] नेमिचन्द्रकविः वक्ष्ये । किम् ? प्रकृतिसमुत्कीर्त्तनम्, प्रकृतीनां ज्ञानावरणादिमूलोत्तरभेदयुक्तानां विवरणमित्यर्थः । किं कृत्वा ? पूर्वं पणमिय सिरसा णेमिं इति । शिरसा मस्तकेन नेमिं तीर्थङ्करं स्वामिनं प्रणिपत्य । किं लक्षणं नेमिम् ? गुणरयणविहूसणं । गुणाः अहिंसादयः, त एव रत्नानि तान्येव विभूषणानि यस्य स गुणरत्नविभूषणस्तम् । पुनरपि कथम्भूतं नेमिम् ? महावीरम् । विशिष्टां ईं लक्ष्मीं राति ददाति आत्मीयत्वेन गृह्णातीति वा वीरः । महांश्चासौ वीरश्च महावीरस्तम् । भूयोऽपि कथम्भूतम् ? सम्मत्तरयणणिलयं । सम्यक्त्वरत्ननिलयं स्वस्वरूपलाभः सम्यक्त्वम्, सप्तप्रकृतिक्षयलक्षणं क्षायिकसम्यक्त्वं वा । तदेव रत्नं तस्य निलयः स्थानं तं सम्यक्त्वरत्ननिलयम् ॥१॥

प्रकृतिसमुत्कीर्त्तनं वक्ष्ये इति नमस्कारगाथायामुक्तम् । तर्हि का प्रकृतिरित्याशङ्कायामाह—

पयडी सील सहावो जीवंगाणं अणाइसंबंधो ।
कणयोवले मलं वा ताणत्थित्तं सयं सिद्धं[3] ॥२॥

मङ्गलाचरण और ग्रन्थ-निरूपण-प्रतिज्ञा—

मैं (ग्रन्थकार नेमिचन्द्र) अनन्त ज्ञानादि गुणरूप रत्नोंके आभूषण धारण करनेवाले, महान् बलशाली और क्षायिक सम्यक्त्वरूप रत्नके स्थान ऐसे नेमिनाथ तीर्थंकरको, तथा उक्त विशेषणोंसे विशिष्ट एवं धर्मतीर्थरूप रथके चक्रकी धुराको धारण करनेवाले ऐसे महावीर तीर्थंकरको नमस्कार करके प्रकृतिसमुत्कीर्त्तन नामक अधिकारको कहता हूँ ॥१॥

प्रकृति शब्दका अर्थ तथा जीव-कर्मके सम्बन्धकी अनादिता—

प्रकृति, शील और स्वभाव ये कर्मके पर्यायवाची नाम है। जीव और कर्मका सम्बन्ध

---

१. त क विभूसणं । २. गो० क० १ । ३. गो० क० २ ।

1. ज श्री । 2. ब मङ्गलादि । 3. ब कीर्त्तिकं । 4. ज सिद्धान्तस्य परिज्ञान । 5. ब नेमिं । 6. ब कुर्वन्नाह । 7. ब अहं कवि. ।

प्रकृतिः शीलं स्वभाव इति प्रकृतेः पर्यायनामानि। स्वभावस्य लक्षणं किमिति चेत् कारणान्तर-निरपेक्षत्वं स्वभावः[1]। यथाऽग्नेरूर्ध्वगमनं स्वभावः, वायोस्तिर्यग्गमनं स्वभाव, जलस्य च निम्नगमनं स्वभावः। स च स्वभावः स्वभाववन्तमपेक्षते[2]। स स्वभावः कयोः? जीवाङ्गयोः। अङ्गशब्देन कर्म लभ्यते, जीवकर्मणोरित्यर्थः। तत्र जीवकर्मणोर्मध्ये आत्मनः रागादिपरिणमनं स्वभावः, कर्मण रागाद्युत्पादकत्वं स्वभाव.। स्वभावो हि स्वभाववन्तमन्तरेण न भवति, स्वभाववान् स्वभावं विना न भवतोरित्युच्यमाने इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्ग[3] स्यात। तत्परिहारार्थमनयोर्जीवकर्मणो सम्बन्धोऽनादिर्वर्तत इत्युक्तम्। कयोरिव? कनकोपलयोर्मलमिव। यथा कनकपाषाणे मलसम्बन्धोऽनादि, तथा जीवकर्मणोरनादिसम्बन्ध। तयोर्जीव-कर्मणोरस्तित्वं कथं सिद्धम्? स्वत सिद्धम्। कथमिति चेत् [4]अहम्प्रत्ययवेद्यत्वेन आत्मनोऽस्तित्वं सिद्ध-मिति एको दरिद्र, एक श्रीमान् इति विचित्रपरिणमनात् कर्मणोऽस्तित्वं सिद्धमिति ॥२॥

संसारिणां जीवानां कर्म-नोकर्मग्रहणप्रकारगाथामाह—

देहोदएण सहिओ[1] जीवो आहरदि कम्म-णोकम्मं।
पडिसमयं सव्वंगं तत्तायसपिंडओ व्व जलं[2] ॥३॥

देहा औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणशरीराणीति नामानः। तत्र पञ्चभेदभिन्नेषु मध्ये कार्मण-देहनामोदयजनितयोगेन सहितो जीव ज्ञानावरणाद्यष्टविधं कर्म आहरति आकर्षति। पुन औदारिकशरीरोद-येन सहितो जीव औदारिकनोकर्म आहरति, वैक्रियिकदेहोदयेन सहित आत्मा वैक्रियिकनोकर्म आकर्षति, आहारकदेहोदयेन सहितो जीव आहारकनोकर्म आहरति, तैजसकायोदयेन सहितः प्राणी तैजसनोकर्म आकर्षति। कदा आहरतीति चेत् प्रतिसमयम्। तेषामौदारिकादिशरीराणामुदयकाले समयं समय प्रति आहरतीत्यर्थं। केन प्रकारेणाऽऽहरति? सर्वाङ्गं यथा भवति तथा सर्वात्मन प्रदेशैरित्यर्थं। किमिव? तप्तायसपिण्ड जलमिव। यथा तप्तो लोहमयपिण्डः सर्वप्रदेशैर्जलमाहरति, तथा शरीरनामोदयेन सहितो जीव. प्रतिसमयं कर्म नोकर्म आहरतीत्यर्थं ॥३॥

अनादिकालिक है। जिस प्रकार कनकोपल (सुवर्ण-पाषाण) में सोने और पाषाणरूप मलका मिलाप अनादिकालिक है और इसीलिए सुवर्ण-पाषाणके अनादिकालिक अस्तित्वके समान जीव और कर्मका अस्तित्व भी स्वयं सिद्ध है॥२॥

भावार्थ—संसारी जीवका स्वभाव रागादिरूपसे परिणत होनेका है और कर्मका स्वभाव रागादिरूपसे परिणमानेका है, इस प्रकार जीव और कर्मका यह स्वभाव अनादि-कालसे चला आ रहा है, अतएव जीव और कर्मकी सत्ता अनादिकालसे जानना चाहिए।

अब ग्रन्थकार बतलाते हैं कि यह जीव कर्म-नोकर्मका ग्रहण किस प्रकारसे करता है—

जिस प्रकार अग्निसे सन्तप्त लोहेका गोला प्रतिसमय अपने सर्वाङ्गसे जलको खींचता है, उसी प्रकार शरीरनामक नामकर्मके उदयसे चंचलताको प्राप्त हुआ यह जीव प्रतिसमय सर्व ओरसे कर्म और नोकर्म वर्गणाओंको ग्रहण करता है॥३॥

भावार्थ—जो पुद्गल वर्गणाएँ ज्ञानावरणादि आठ कर्मरूपसे परिणत होती हैं, उन्हें कर्मवर्गणा कहते हैं और जो औदारिकादि शरीररूपसे परिणत होती हैं, उन्हें नोकर्मवर्गणा

---

१. त सहियो। २. गो० क० ३।

1. ब यः कारणान्तरं विना उत्पद्यते स स्वभावः, इत्यधिकः पाठः। 2. ब आत्मानं वाञ्छति, इत्यधिकः पाठः। 3. ब यथा द्रव्यं विना गुणो न भवति, गुणं विना द्रव्यं न भवति, इदमपि अन्योन्याश्रय-दूषणम्। 4. अहमिति ज्ञानेन आत्मा ज्ञायते।

कियत्सङ्ख्योपेतान् तत्परमाणूनाहरतीति चेत् प्राह—

सिद्धाणंतिमभागं अभव्वसिद्धादणंतगुणमेव ।
समयपबद्धं बंधदि जोगवसादो दु विसरित्थं ॥४॥

सिद्धेभ्योऽनन्तैकभागं सिद्धराश्यनन्तैकभागं अभव्यसिद्धेभ्यः अनन्तगुणं अभव्यजीवेभ्योऽनन्तगुणं कर्म-नोकर्मद्रव्यं जीवो बध्नाति । कथं (किं) बध्नाति ? समयप्रबद्धम् । समये समये प्रबध्यते इति समयप्रबद्धस्तम् । कुतो बध्नाति ? योगवशात्, मनोवचनकाययोगवशात् । कीदृशं बध्नाति ? विसदृशमनेकरूपमित्यर्थ. । समयप्रबद्धस्य लक्षणमाह—

परमाणूहिं अणंतहिं वग्गणसण्णा दु हवदि एक्का दु ।
ताहिं अणंताहिं णियमा समयपबद्धो हवइ एक्को ॥ १ ॥
वर्गः शक्तिसमूहोऽणोरणूनां वर्गणोदिता ।
वर्गणानां समूहस्तु स्पर्धकः स्पर्धकापहैः ॥ २ ॥

अथप्रतिसमयभवस्य बन्धस्य प्रमाणं कथयित्वा उदयसत्त्वप्रमाणं कथयति—

जीरदि समयपबद्धं पओगदो णेगसमयबद्धं[2] वा ।
गुणहाणीण दिवड्ढं समयपबद्धं हवे सत्तं[3] ॥५॥

अस्य जीवस्य प्रतिसमयमेकः कार्मणसमयप्रबद्धः जीर्यते हानो भवति । पुन एतस्याऽऽत्मनः प्रतिसमयं एकः कार्मणसमयप्रबद्ध उदेति उदयं प्राप्नोति । वा अथवा सातिशयक्रियासहितस्य जीवस्य प्रयोगतः सम्यक्त्वादिप्रयोगलक्षणहेतुना एकादशनिर्जरा [स्थान] विवक्षया अनेकसमयप्रबद्धो जीर्यते । द्व्यर्धगुणहानिमात्रसमयप्रबद्ध प्रतिसमयं सत्त्वं भवति ॥५॥

कहते हैं ये दोनों प्रकारकी पुद्गलवर्गणाएँ सारे संसारमें भरी हुई हैं, उन्हें यह जीव अपने मन-वचन-कायकी चंचलतासे प्रतिसमय ग्रहण करता रहता है; जैसे कि गर्म किया हुआ लोहेका गोला पानीमें डालनेपर सर्वाङ्गसे जलको अपने भीतर खींचता रहता है ।

अब ग्रन्थकार प्रतिसमय ग्रहण की जानेवाली उन वर्गणाओंका प्रमाण बतलाते हैं—

साधारणतः यह संसारी जीव सिद्धराशिके अनन्तवें भाग और अभव्यराशिसे अनन्तगुणित समयप्रबद्धरूप कर्म-नोकर्मवर्गणाओंको प्रतिसमय ग्रहण कर अपने साथ सम्बद्ध करता है । किन्तु योगोंकी विशेषतासे अर्थात् मन्दता या तीव्रतासे हीन या अधिक परिमाणमें भी बाँधता है ॥४॥

इस प्रकार कर्म-परमाणुओंके बन्धका प्रमाण बतलाकर अब ग्रन्थकार उनके उदय और सत्त्वका प्रमाण बतलाते हैं—

साधारणतः एक समयमें एक समयप्रबद्धप्रमाण कर्म-परमाणु उदयमें आकर और अपना फल देकर निर्जीर्ण हो जाते हैं अर्थात् झड़ जाते हैं । किन्तु तपश्चरणादि विशेष प्रयोगसे अनेक समयप्रबद्ध भी निर्जीर्ण हो जाते हैं । तथापि कुछ कम डेढ़ गुणहानि आयामगुणित समयप्रबद्ध सत्त्वरूपसे अवस्थित रहते हैं ॥५॥

विशेषार्थ—पूर्वोक्त दो गाथाओंमें प्रतिसमय बंधनेवाले, उदयमें आनेवाले और सत्तामें रहनेवाले कर्म-परमाणुओंका परिमाण बतलाया गया है । जिसका खुलासा इस प्रकार है—

---

१ गो० क० ४ । २. आ—समयपबद्धं । ३. गो० क० ५ ।

1. श्लोकोऽयं ख प्रतौ नास्ति ।

सामान्य तौर पर यह जीव एक समयमें एक समयप्रबद्ध-प्रमाण कर्म-परमाणुओंको बाँधता है, और गुणश्रेणी निर्जराकी अविवक्षासे इतनेकी ही निर्जरा करता है, फिर भी उसकी सत्ता कुछ कम डेढ़ गुणहानिसे गुणित समयप्रबद्ध-प्रमाण पायी जाती है। यहाँ यह शंका स्वभावतः उत्पन्न होती है कि जब प्रत्येक समयमें जितना आता है उतना ही चला जाता है तब सत्त्व इतना अधिक कैसे रहता है ? खासकर उस दशामें जब कि आय और व्यय दोनों समान हैं, तब यह कैसे सम्भव है ? क्या जो आता है वही जाता है या इसके अन्तर्गत कुछ और रहस्य है ? इनमें-से दूसरी शंकाका समाधान कर देनेपर पहली शंकाका समाधान सुगम हो जायेगा। अतः पहले उसीका समाधान किया जाता है।

जीवके भीतर एक समयमें सिद्धराशिके अनन्तवें भाग-प्रमाण और अभव्य-राशिसे अनन्त-गुणित कर्म परमाणु आते हैं, इसे ही दूसरे शब्दोंमें यों कह सकते है कि जीव अपने आत्म-प्रदेशोंकी चंचलता रूप योग-शक्तिसे उक्त परिमाण अनन्त परमाणुओंको प्रतिसमय बाँधता है। वे परमाणु आयुकर्मके बन्ध न होनेकी दशामें शेष सात कर्मोंके बन्ध-योग्य होते हैं, क्योंकि आयुकर्मका बन्ध सदा नहीं होता, किन्तु त्रिभाग आदि विशेष अवसरपर ही होता है। अब इन प्रतिसमय बँधनेवाले कर्मपरमाणुओंमें फल देनेकी जो शक्ति है वह तुरन्त फल नहीं देने लगती, किन्तु कुछ समयके बाद फल देना प्रारम्भ करती है। जितने समय तक फल नहीं देती उसे ही शास्त्रकी भाषामें अबाधा-काल कहते हैं। जैसे कोई भी बीज बोये जानेके तुरन्त बाद ही नहीं उग आता, कुछ समयके बाद ही उगता है, यही हाल कर्मोंका है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि आनेवाले कर्मकी एक निश्चित काल-मर्यादा भी आनेके साथ ही पड़ जाती है, सो आनेवाले कर्मको आत्माके साथ रहनेकी काल-मर्यादाका नाम ही स्थितिबन्ध है। उसे और भी सुगम शब्दोंमें कर्मस्थिति-काल कह सकते है। इस कर्म-स्थिति-कालमें-से अबाधा-कालको छोड़कर शेष कालमे उक्त बँधे हुए कर्मपरमाणु एक निश्चित व्यवस्थाके अनुसार अपना फल देकर झड़ते हुए चले जाते हैं। उनके इस प्रकार झड़नेका क्रम कर्मस्थितिके अन्तिम काल तक चलता है। एक समयमें जितने कर्म-परमाणु उस विवक्षित समयप्रबद्धमें-से झड़ते हैं उसका नाम निषेक है। यह व्यवस्था इस प्रकार की है कि अबाधा-कालके बाद पहले समयमें कर्म-परमाणु सबसे अधिक निर्जीर्ण होते है दूसरे समयमें उससे कम। तीसरे समयमें उससे कम। इस प्रकार उत्तरोत्तर कम होते हुए अन्तिम समयमें सबसे कम कर्म-परमाणु अपना फल देकर झड़ जाते हैं। इस प्रकार समयप्रबद्धमें उत्तरोत्तर कमती-कमती होनेका नाम ही शास्त्रीय भाषामें गुणहानि है। उक्त क्रमके भीतर भी कुछ समय तक एक निश्चित परिमाणमें परमाणु कम-कम होते हैं। पुनः कुछ समयके बाद उससे आधे कर्म-परमाणु एक निश्चित संख्याको लेकर कम होते हैं। इस प्रकारका यह क्रम बन्ध और उदयमें अन्तिम समय तक चला जाता है। निश्चित एक परिमाणसे जहाँतक संख्या घटती जाती है, उसका नाम एक गुणहानि है और उतने समय तकके निश्चित कालका नाम एक गुणहानि-आयाम है। उत्तरोत्तर आधे-आधे परिमाणको लिये हुए जितनी गुणहानियाँ होती हैं उन्हें नाना गुणहानि कहते हैं। इसे स्पष्ट करनेके लिए एक अंक-राशिको लेते हैं—एक समयमें आनेवाले कर्म-परमाणुओंकी संख्याको ६३०० मान लीजिए, इसीका नाम एक समयप्रबद्ध है। उसकी पूरी स्थिति ५१ समयकी कल्पना कीजिए। उसमें-से अबाधाकाल ३ समय रखिए और फल देनेका काल जिसे कि निषेककाल या निषेक-रचनाकाल कहते हैं वह ४८ समयका मानिए। इसमें उत्तरोत्तर आधे-आधे होकर जिस क्रमसे उक्त परमाणु विभक्त होंगे। ऐसी गुणहानियोंकी संख्या ६ होगी और प्रत्येक गुणहानिका काल ८ समय होगा। इस प्रकार अबाधाकालके बाद ८×६=४८ समयोंमें वे बँधे हुए कर्म-परमाणु विभक्त होंगे। इनमें-से

पहली गुणहानिमें ३२००। दूसरीमें १६००, तीसरीमें ८००, चौथीमें ४००, पाँचवीमें २०० और छठीमें १००। सबका जोड़ ६३०० हो जायेगा। यतः प्रत्येक गुणहानिका काल ८ समय है, अतः ऊपर बतलाये गये प्रत्येक गुणहानिके ३२००, १६०० आदि परमाणु इन आठ-आठ समयोंके भीतर विभक्त होते हैं। उनमें-से प्रत्येक समयमें प्राप्त होनेवाले परमाणुओंकी जो विधि आगममें बतलायी गयी है उसके अनुसार पहली गुणहानिके प्रथम समयमें ५१२, दूसरेमें ४८०, इस प्रकारसे ३२-३२ कम होते हुए ८ वें समयमें २८८ परमाणु प्राप्त होंगे। पुनः दूसरी गुणहानिका प्रारम्भ होगा। पहलीकी अपेक्षा दूसरीमें प्रतिसमय ३२ के आधे अर्थात् १६-१६ परमाणु कम होकर प्राप्त होंगे। तदनुसार पहले समयमें २५६, दूसरे समयमें २४०। इस प्रकार १६-१६ कम होते हुए ८ वें समयमें १४४ परमाणु रहेंगे। पुनः तीसरी गुणहानिका प्रारम्भ होगा। उसमें १६ के आधे अर्थात् ८-८ कम होते हुए परमाणु रहेंगे। तदनुसार पहले समयमें १२८, दूसरेमें १२० इस प्रकार आठवें समयमें ७२ कर्म-परमाणु रहेंगे। पुनः चौथी गुणहानिका प्रारम्भ होगा। इसमें तीसरेसे आधे अर्थात् ४-४ कर्म-परमाणु प्रतिसमय कम-कम होकर रहेंगे। तदनुसार पहले समयमें ६४, दूसरेमें ६०, इस प्रकार कम होते हुए आठवें समयमें ३६ कर्म-परमाणु रहेंगे। पुनः पाँचवी गुणहानि प्रारम्भ होगी। इसमें चौथीके ४ की अपेक्षा आधे अर्थात् २-२ कर्म-परमाणु प्रतिसमय कम होंगे। तदनुसार पहले समयमें ३२, दूसरेमें ३०, इस प्रकारसे आठवें समयमें १८ कर्म-परमाणु रहेंगे। पुनः छठी गुणहानि प्रारम्भ होगी। इसमें पाँचवीं के २ की अपेक्षा आधे अर्थात् १-१ ही कम होकर प्रतिसमय परमाणु रहेंगे। तदनुसार पहले समयमें १६, दूसरेमें १५ इस प्रकार एक-एक कम होकर आठवें समयमें ९ कर्म-परमाणु रहेंगे।

इस प्रकार बन्ध और उदय दोनोंकी अपेक्षा ४८ समयोंमें प्राप्त होनेवाले परमाणुओंकी अंक-संदृष्टि इस प्रकार होगी—

समय	प्रथम गुणहानि	द्वितीय गुणहानि	तृतीय गुणहानि	चतुर्थ गुणहानि	पंचम गुणहानि	षष्ठ गुणहानि	
१	५१२	२५६	१२८	६४	३२	१६	
२	४८०	२४०	१२०	६०	३०	१५	
३	४४८	२२४	११२	५६	२८	१४	
४	४१६	२०८	१०४	५२	२६	१३	
५	३८४	१९२	९६	४८	२४	१२	
६	३५२	१७६	८८	४४	२२	११	
७	३२०	१६०	८०	४०	२०	१०	
८	२८८	१४४	७२	३६	१८	९	
सर्व धन	३२००	१६००	८००	४००	२००	१००	= ६३००

यह तो हुआ विवक्षित एक समयमें बँधने और उदयमें आनेवाले कर्म-परमाणुओंकी रचनाका क्रम। इसे ही शास्त्रीय भाषामें निषेक-रचना कहते हैं। इसी क्रमके अनुसार अनादि कालसे प्रति समय प्रत्येक जीवके कर्म-परमाणु बँधते और उदय होते चले आ रहे हैं। अतः हम अब भी जिस किसी समय बँधने और उदयमें आनेवाले परमाणुओंको देखेंगे तो वे हमेशा ही एक समयप्रबद्ध-प्रमाण बँधते और उदय होते हुए दिखायी देंगे। इसका कारण यह है कि पहले जैसे हम एक विवक्षित वर्तमान समयमें आनेवाले कर्म-परमाणुओंकी निषेक-रचना बतला आये हैं उसी प्रकारकी निषेक-रचना उससे एक समय पूर्व बँधे हुए परमाणुओंकी भी हुई है, दो समय पूर्व बँधे हुए परमाणुओंकी भी हुई है, तीन समय पूर्व बँधे हुए कर्म-परमाणुओंकी भी हुई है। इस प्रकार हम पूर्वोक्त काल्पनिक संदृष्टिके अनुसार ४८ समय पूर्व तककी रचनाको सामने रखकर विचार करें तो दिखाई देगा कि विवक्षित वर्तमान समयसे ४८ समय पूर्व बँधे हुए समय-प्रबद्धके अन्तिम निषेकके ९ परमाणु इस समय निर्जीर्ण हो रहे हैं। उसके बाद अर्थात् ४७ समय पूर्व बँधे हुए समय-प्रबद्धके उपान्त्य निषेकके १० परमाणु इस समय निर्जीर्ण हो रहे हैं। ४६ समय पूर्वके बँधे हुए में-से ११ परमाणु, ४५ समय पूर्वमें बँधे हुए में-से १२ परमाणु निर्जीर्ण हो रहे हैं। इस प्रकारसे आगे-आगे बढ़ते जानेपर आप देखेंगे कि ४८ समयोंके भीतर बँधे हुए कर्म-परमाणुओंके निर्जीर्ण होनेका क्रम इस प्रकार है—

यहाँ ४८ समयका कथन अबाधा-कालकी विवक्षा न करके किया गया है। यहाँ दिशा-बोधके लिए यह संक्षिप्त त्रिकोण-रचनाका संकेत किया जा रहा है। पूरी त्रिकोण-रचना परिशिष्टमें देखिए।

कर्मणः सामान्यादिभेदप्रभेदान् गाथाद्वयेनाऽऽह —

कम्मत्तणेण इक्कं[1] दव्वं भावो त्ति होइ दुविहं खु।
पुग्गलपिंडो दव्वं तस्सत्ती[2] भावकम्मं[3] तु[4] ॥६॥

पूर्वोक्तं कर्म सामान्यकर्मत्वेन एकं भवति। तु पुनः तत् कर्म द्विविधं भवति—द्रव्यकर्म-भावकर्म-भेदात्। तत्र द्रव्यकर्म पुद्गलपिण्डो भवति। तस्य पुद्गलपिण्डस्य या शक्तिः रागद्वेषाद्युत्पादिका रागद्वेष-परिणामो वा भावकर्म भवति ॥६॥

उक्त त्रिकोण-रचनामें स्पष्ट रूपसे दिखाई देगा कि प्रत्येक समयमें जिस परिमाणमें काल्पनिक रूपसे ६३०० परमाणुका पिण्ड जैसे एक समयमें आ रहा है उसी प्रकार विभिन्न समयोंमें बँधे हुए समय-प्रबद्धोंके जो-जो निषेक प्रतिसमय उदयमें आकर निर्जीर्ण हो रहे हैं उन सबका परिमाण भी एक समय-प्रबद्ध प्रमाण अर्थात् ६३०० ही है। यह हुई एक समयमें बँधने और उदयमें आनेवाले द्रव्यके परिमाणकी बात।

अब इसी त्रिकोण-रचनामें देखिए कि जहाँ सीधी पंक्तिमें प्रतिसमय बँधनेवाले समय-प्रबद्धकी निषेक-रचना दृष्टिगोचर हो रही है, वहाँ ऊपरसे नीचेकी पंक्तिमें उदयागत निषेकोंके समय-प्रबद्ध प्रमाण परमाणु भी निर्जीर्ण होते हुए दिखाई दे रहे हैं। अब हम किसी भी विवक्षित समयमें काल्पनिक संदृष्टिके अनुसार ४८ वें समयमें सत्त्वका परिमाण यदि जानना चाहते हैं तो वहाँ उसके नीचेसे खींची गयी पंक्ति नम्बर२ पर दृष्टिपात कीजिए। इसके नीचेका सर्वद्रव्य समुच्चय रूपसे सदा ही सत्तामें मिलेगा। इस द्रव्यका प्रमाण कितना है, इसीका उत्तर गाथाके उत्तरार्धमें दिया गया है कि वह कुछ कम डेढ़ गुणहानि आयामसे गुणित समय-प्रबद्ध प्रमाण है।

जैसा कि हम पहले बतला आये हैं एक गुणहानिका आयाम ८ समय है उसके आधे ४ होते हैं, दोनोंका जोड़ १२ होता है। उससे समय-प्रबद्धका प्रमाण जो ६३०० परमाणु है उसमें गुणा कर देनेपर ६३००×१२=७५६०० प्रमाण संख्या होती है और उक्त त्रिकोण-रचनामें विविध समय-प्रबद्धोंके जो परमाणु सत्तामें पड़े हुए हैं उनका जोड़ ७१३०४ होता है। इसलिए सत्ताके द्रव्यको कुछ कम डेढ़ गुणहानि-आयामसे गुणित समय-प्रबद्ध प्रमाण कहा है।

इस प्रकार उक्त दोनों गाथाओंमें जो यह कहा गया है कि जीवके प्रतिसमय एक समय-प्रबद्ध बँधता है, एक उदयमें आता है और कुछ कम डेढ़ गुणहानि आयामसे गुणित समयप्रबद्ध-प्रमाण द्रव्य सत्तामें रहता है वह सर्वथा युक्ति-युक्त ही कहा गया है।

यहाँ इतनी विशेषता और समझनी चाहिए कि जब यह संसारी जीव सम्यग्दर्शनादि विशेष गुणोंको प्राप्त करता है, तब उसके पूर्वोक्त क्रमको उल्लंघन कर गुणश्रेणी रचना आदिके द्वारा सम्यक्त्वोत्पत्ति आदि ग्यारह स्थानोंमें प्रतिसमय असंख्यात गुणश्रेणी रूपसे अनेक समय-प्रबद्धोंकी भी निर्जरा करता है जिसका निर्देश गाथामें 'पओगदो णेगसमयबद्धं वा' इस वाक्यके द्वारा किया गया है।

अब दो गाथाओंके द्वारा कर्मके भेद-प्रभेदोंका निरूपण करते हैं—

अभेद या सामान्यकी अपेक्षा कर्म एक प्रकारका है। भेदकी अपेक्षा द्रव्य और भावके भेदसे दो प्रकारका है। उनमें ज्ञानावरणादि रूप पुद्गलपरमाणुओंके पिण्डको द्रव्यकर्म कहते

---

१ आ इक्कं। २. पिण्डगतशक्तिः कार्ये कारणोपचारात्, शक्तिजनिताज्ञानादिर्वा भावकर्म (गो० क० टी०)। ३. त—कम्मो त्ति। ४. गो० क० ६।

तं पुण अट्ठविहं वा अडदालसयं असंखलोगं वा।
ताणं पुण घादि त्ति अघादि त्ति य होंति सण्णाओ[1] ॥७॥

पुनः तत्सामान्यं कर्म ज्ञानावरणादिभेदेन अष्टविधं भवति। वा अथवा तत्कर्म प्रकृतिभेदेन अष्टचत्वारिंशच्छतविधं १४८ भवति। वा अथवा तत्कर्म असंख्यातलोकप्रमाणं भवति। वा शब्दोऽत्र समुच्चयार्थः। तेषां चाष्टविधादीनां पृथक्-पृथक् घातिरिति अघातिरिति च द्वे संज्ञे भवतः ॥७॥

प्रथमोद्दिष्टाष्टविधं कर्म तद्घात्यघातिभेदौ च गाथाद्वयेन सूरिराह—

णाणस्स दंसणस्स य आवरणं वेयणीय मोहणियं।
आउग णामं गोदंतरायमिदि अट्ठ पयडीओ[2] ॥८॥

ज्ञानावरणं १ दर्शनावरणं २ वेदनीयं ३ मोहनीयं ४ आयुः ५ नाम ६ गोत्रं ७ अन्तराय ८ इत्येति मूलप्रकृतयोऽष्टौ ॥८॥

आवरण मोह विग्घं घादी जीवगुणघादणत्तादो।
आउग णामं गोदं वेयणियं तह अघादि त्ति[4] ॥९॥

ज्ञानावरणं १ दर्शनावरणं २ मोहनीयं ३ अन्तराय ४ इत्येति चत्वारि कर्माणि घातिनामानि स्युः। कुतः? जीवानां ज्ञानादिगुणघातकत्वात्। आयुष्यं १ नाम २ गोत्र ३ वेदनीयं ४ चेति चत्वारि कर्माणि

हैं और उस द्रव्यकर्मरूप पिण्डमें फल देनेकी जो शक्ति है उसे भावकर्म कहते है। अथवा उस शक्तिसे उत्पन्न हुए अज्ञानादि तथा रागादि भावोंको भी भावकर्म कहते हैं ॥६॥

वह कर्म मूल प्रकृतियोंकी अपेक्षा आठ प्रकारका भी है, अथवा उत्तरप्रकृतियोंकी अपेक्षा एक सौ अड़तालीस प्रकारका भी है, अथवा बन्धके कारणभूत कषायाध्यवसायस्थानोंकी अपेक्षा असंख्यात लोकोंके जितने प्रदेश होते हैं, उतने भेदरूप भी है। कर्मोंके जो आठ भेद हैं, उनमें-से चार कर्मोंकी घातिसंज्ञा है और चार कर्मोंकी अघातिसंज्ञा है ॥७॥

अब कर्मोंके आठ भेदोंका निरूपण करते हैं —

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ये कर्मोंके आठ मूलभेद हैं ॥८॥

विशेषार्थ—आत्माके ज्ञानगुणके आवरण करनेवाले कर्मको ज्ञानावरणीय कहते हैं। दर्शनगुणके आवरण करनेवाले कर्मको दर्शनावरणीय कहते हैं। सुख-दुःखका वेदन करानेवाले कर्मको वेदनीय कहते हैं। सांसारिक वस्तुओंमें मोहित करनेवाले कर्मको मोहनीय कहते हैं। नरकादि गतियोंमें रोककर रखनेवाले कर्मको आयु कहते हैं। नाना प्रकारके शरीरादिकके निर्माण करनेवाले कर्मको नाम कहते हैं। ऊँच और नीच कुलोंमें उत्पन्न करनेवाले कर्मको गोत्र कहते हैं। तथा इष्ट वस्तुकी प्राप्तिमें विघ्न करनेवाले कर्मको अन्तराय कहते हैं।

अब उक्त कर्मोंमें घाति-अघातिका विभाजन करते हैं—

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय ये चार घातिया कर्म हैं क्योंकि ये जीवके ज्ञानादि गुणोंका घात करते हैं। आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय, ये चार अघातिया

---

१. त पुव। ब पुध। २. गो० क० ७। ३. गो० क० ८। भाव सं० ३३०। ४. गो० क० ९।

तथा न चैव, जीवगुणघातकप्रकारेण अप्रवृत्तत्वात् अघातिसंज्ञानि भवन्ति श्रीगोम्मटसारे (?) सर्वघाति-देशघातिप्रकृतिसंज्ञा कथ्यते—"केवलणाणावरणं दंसणछक्कं च मोहबारसयं। ता सव्वघाइसण्णा मिस्सं मिच्छत्तमेयवीसदिमं ॥१॥" केवलज्ञानावरणं १ निद्रा १ निद्रानिद्रा २ प्रचला ३ प्रचलाप्रचला ४ स्त्यानगृद्धिः ५ केवलदर्शनावरणं ६ अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानचतुष्कं मोहद्वादशकं १२ मिश्रसम्यक्त्वं १ मिथ्यात्वं १ एवं २१ प्रकृतयः सर्वघातिसंज्ञाः भवन्ति। देशघातिप्रकृतयः २६। "णाणावरणचउक्कं दंसणतिगमंतराइग पंच। ता होंति देसघादी सम्मं संजलण णोकसाया य ॥२॥" मत्याद्यावरणचतुष्कं ४ चक्षुरादित्रिकं ३ दानादि-पञ्चकं ५ सम्यक्त्वप्रकृतिः १ संज्वलनचतुष्कं ४ नव नोकषाया ९ एवं २६ देशघातिप्रकृतयः। अन्याः प्रकृतयः १०१ अघातिसंज्ञिका। सर्वघातयः २१ देशघातयः २६ अघातिप्रकृतय. १०१ एवं सर्वाः १४८ प्रकृतय ॥९॥

तान् जीवगुणानाह—

केवलणाणं दंसणमणंतविरियं च खइयसम्मं च।
खइयगुणे मदियादी खओवसमिए य घादी दु[1] ॥१०॥

केवलज्ञानं १ केवलदर्शनं २ अनन्तवीर्यं ३ क्षायिकसम्यक्त्वं ४ चशब्दात् क्षायिकचारित्रं द्वितीय-चशब्दात क्षायिकदान-लाभभोगोपभोगाश्च एतान् नव क्षायिकगुणान्; तु पुनः मतिश्रुतावधिमनःपर्ययाख्यान् क्षायोपशमिकगुणान् च घ्नन्तीति घातीनि कर्माणि भवन्ति ॥१०॥

आयुःकर्मकार्यमाह—

कम्मकयमोहवड्ढियसंसारम्हि य अणादिजुत्तम्हि।
जीवस्स अवट्ठाणं करेदि आऊ हलिव्व णरं[2] ॥११॥

कर्मकृते मोहवर्धिते अनादियुक्ते एवम्भूते संसारे चतुर्गतिषु आयुःकर्मोदयः जीवस्यावस्थानं स्थितिं

कर्म हैं; क्योंकि वे जीवके ज्ञानादि गुणोंके घात करनेमें असमर्थ हैं ॥९॥

अब ग्रन्थकार घातियाकर्मोंसे घात किये जानेवाले गुणोंको बतलाते हैं—

केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तवीर्य और क्षायिकसम्यक्त्व, तथा 'च' शब्दसे सूचित क्षायिकचारित्र और क्षायिकदानादिरूप क्षायिक गुणोंको; तथा मतिज्ञानादि क्षायोपशमिक गुणोंको भी ये ज्ञानावरणादि कर्म घात करते हैं, इसलिए उन्हें घातिया कर्म कहते हैं ॥१०॥

विशेषार्थ—क्षायिक भावके नौ भेद हैं—क्षायिकज्ञान, क्षायिक दर्शन, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र, तथा क्षायिक दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य। क्षायोपशमिक भावोंके अठारह भेद हैं—मति, श्रुत, अवधि मनः पर्यय ये चार ज्ञान; कुमति, कुश्रुत और कुअवधि ये तीन अज्ञान; चक्षु, अचक्षु और अवधि ये तीन दर्शन; दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य; ये पाँच लब्धियाँ; क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, चारित्र और संयमासंयम। इन दोनों प्रकारके भावोंको घातनेके कारण ज्ञानावरणादि कर्मोंको घातिया कहते हैं।

अब अघातिया कर्मोंमें से पहले आयुकर्मका कार्य बतलाते हैं—

कर्मोंके उदयसे उत्पन्न हुए मोह, अज्ञान, असंयम और मिथ्यात्व भावसे वृद्धिको प्राप्त इस अनादिकालीन संसारमें जो मनुष्यको हलि या खोडेके समान जीवको रोक रखे उसे आयुकर्म कहते हैं ॥११॥

---

१. गो० क० १०। २. गो० क० ११।

करोति। क इव? हलिरिव। छिद्रितकाष्ठविशेषो हडिः। यथा हडिः नरस्यावस्थितिं करोति, तथा आयुष्कर्म जीवस्य संसारे स्थितिकारकं भवतीत्यर्थः ॥११॥

नामकर्मकार्यमाह—

गदि आदि जीवभेदं देहादी पोग्गलाण भेयं च।
गदि-अंतरपरिणमणं करेदि णामं अणेयविहं ॥१२॥

गत्याद्यनेकविधं[1] नामकर्म कर्तृभूतं सत्[2] नारकादिजीवपर्यायभेदं औदारिकादिशरीरपुद्गलभेदं गत्यन्तरपरिणमनं च करोति, तेन कारणेन तन्नामकर्म जीव-पुद्गल-क्षेत्रविपाकि भवति। चशब्दाद् भवविपाकि च भवति। तत्कथमित्याह—ज्ञानावरणपञ्चकं ५ दर्शनावरणनवकं ९ मोहनीयाष्टाविंशतिकं २८ अन्तरायपञ्चकं ५ वेदनीयद्वयं २ गोत्रद्विकं २ प्रशस्ताप्रशस्तविहायोगतिद्वयं २ नरकादिगतिचतुष्कं ४ एकेन्द्रियादिजातिपञ्चक[3] ५ उच्छ्वासं १ तीर्थकरत्वं स्थावरत्रसे २ यशोऽयशसी २ बादरसूक्ष्मे २ पर्याप्तापर्याप्ते २ सुस्वरदुःस्वरे २ आदेयानादेये २ सुभगदुर्भगे २ एवमेकीकृताः अष्टसप्ततिः ७८ प्रकृतयो जीवविपाकिन्यो भवन्ति। औदारिकादिशरीर ५ बन्धन ५ संघात ५ संस्थान ६ अङ्गोपाङ्ग ३ संहनन ६ रस ५ गन्ध २ वर्ण ५ स्पर्श ८ अगुरुलघु १ उपघात १ परघात १ आतप १ उद्योत १ निर्माण १ प्रत्येक-साधारण २ स्थिरास्थिर २ शुभाशुभ २ एवं समुच्चयीकृताः द्वाषष्टिः प्रकृतयः ६२ पुद्गलविपाकिन्यो भवन्ति। नरकतिर्यङ्मनुष्यदेवगत्यानुपूर्व्यश्चतस्रः ४ क्षेत्रविपाकिन्यो भवन्ति। नरकतिर्यङ्मनुष्यदेवायुष्कं च ४ भवविपाकिन्यो भवन्ति ॥१२॥

भावार्थ—जैसे किसी मनुष्यके पाँवको यदि किसी मोटी लकड़ीके छेदमें डालकर उसमें कील ठोक दी जाय, तो वह मनुष्य उस स्थानसे इधर-उधर नहीं जा सकता है, उसी प्रकार आयुकर्म भी इस चतुर्गतिरूप संसारमें जीवको रोक रखता है, उसे अपने अभीष्ट स्थानपर नहीं जाने देता। गाथाके पूर्वार्ध द्वारा ग्रन्थकारने यह भाव प्रकट किया है कि यद्यपि संसार-की वृद्धि तो मिथ्यात्व आदिके कारण होती हैं पर संसारमें जीवका अवस्थान आयुकर्मके कारण होता है।

अब नामकर्मका कार्य बतलाते हैं—

नामकर्म अनेक प्रकारका है। वह गति, जाति आदि जीवोंके भेदोंको, शरीर, अङ्गोपाङ्ग आदि पुद्गलोंके भेदोंको, तथा जीवके एक गतिसे दूसरी गतिरूप परिणमनको करता है॥१२॥

विशेषार्थ—नामकर्मकी उत्तर प्रकृतियाँ तिरानवे हैं, उनमें कितनी ही प्रकृतियाँ जीव-विपाकी हैं, कितनी ही पुद्गलविपाकी हैं और कितनी ही क्षेत्रविपाकी हैं, सो इन सबका वर्णन स्वयं ग्रन्थकार आगे करेंगे। यहाँ इतना जान लेना चाहिए कि जिन गति, जाति आदि प्रकृतियोंका फल जीवमें होता है, उन्हें जीवविपाकी कहते हैं। जिनकी फल शरीर, संस्थान आदिके रूपसे पुद्गलमें होता है उन्हें पुद्गलविपाकी कहते हैं और जिनका फल विग्रहगति-रूप क्षेत्र-विशेषमें ही होना है ऐसी प्रकृतियोंको क्षेत्रविपाकी कहते हैं। जिन प्रकृतियोंका फल नारक आदि भव-विशेषमें ही होता है, उन्हें भवविपाकी कहते हैं। सो यथार्थतः आयुकर्मकी चारों प्रकृतियोंको ही भवविपाकी माना है, परन्तु यतः गतिनामा नामकर्म आयुकर्मका अविनाभावी है, अतः उपचारसे उसे भी भवविपाकी कहा जा सकता है, ऐसी सूचना गाथा-पठित 'च' शब्दसे मिलती है, ऐसा टीकाकार सूचित करते हैं।

---

१. गो० क० १२।

1. ब प्रकारं। 2. अ सतं तत्। 3. ब एकद्वित्रिचतु पञ्चेन्द्रियजातिपंचकं।

गोत्रकर्मकार्यमाह—

संताणकमेणागयजीवायरणस्स गोदमिदि सण्णा ।
उच्चं णीचं चरणं उच्चं णीचं हवे गोदं[1] ॥१३॥

सन्तानक्रमेणागतजीवाचरणस्य गोत्रमिति संज्ञा स्यात् । तच्च गोत्रं द्विविधम्—उच्चैर्नीचैर्भेदात् । तत्रोच्चाचरणमुच्चैर्गोत्रम्, नीचाचरणं नीचैर्गोत्रं च भवति ॥१३॥

वेदनीयकर्मकार्यमाह—

अक्खाणं अणुभवणं वेयणियं सुहसरूवयं सादं ।
दुक्खसरूवमसादं तं वेदयदीदि वेयणीयं[2] ॥१४॥

इन्द्रियाणामनुभवनं इन्द्रियविषयसुखानुभूतिः वेदनीयम् । तच्च सुखस्वरूपं सातं वेदनीयं भवति । दुःखस्वरूपमसातावेदनीयं भवति । ते द्वे सातासाते वेदनीये वेदयति ज्ञापयतीति वेदनीयम् ॥१४॥

अथ सामान्यतः जीवानां[1] दर्शनादिगुणस्वरूपमाह—

अत्थं देक्खिय जाणदि पच्छा सद्दहदि सत्तभंगीहिं ।
इदि दंसणं च णाणं सम्मत्तं हुंति जीवगुणा[3] ॥१५॥

अयं संसारी जीवः अर्थं पदार्थं दृष्ट्वा जानाति, तमेवार्थं पुनः सप्तभङ्गीभिर्निश्चित्य पश्चात् श्रद्दधाति रोचते इत्यनेन प्रकारेण दर्शनं ज्ञानं सम्यक्त्वं च जीवगुणा भवन्ति ॥१ ॥

अब गोत्रकर्मका स्वरूप बतलाते हैं—

सन्तान-क्रमसे अर्थात् कुलकी परम्परासे चले आये आचरणकी गोत्र यह संज्ञा है। उसके दो भेद हैं; उनमें-से कुल-परम्परागत उच्च (उत्तम) आचरणको उच्चगोत्र कहते हैं और निन्द्य आचरणको नीचगोत्र कहते हैं ॥१३॥

अब वेदनीय कर्मका स्वरूप बतलाते हैं—

जो कर्म इन्द्रियोंके विषयोंका अनुभवन अर्थात् वेदन करावे, उसे वेदनीय कहते हैं। उसके दो भेद हैं, उनमें-से जो सुखरूप इन्द्रिय-विषयोंका अनुभव करावे उसे सातावेदनीय कहते हैं और जो दुःख-स्वरूप इन्द्रिय-विषयोंका अनुभव करावे उसे असातावेदनीय कहते हैं ॥१४॥

अब आवरणका क्रम बतलानेके लिए पहले जीवके कुछ प्रधान गुणोंका निर्देश करते हैं—

संसारी जीव पहले पदार्थको देखकर जानता है, पीछे सात भंगवाली नयोंसे निश्चय कर उनका श्रद्धान करता है। इस प्रकार दर्शन, ज्ञान और सम्यक्त्व ये तीन जीवके गुण सिद्ध होते हैं। अर्थात् देखना दर्शनगुण है, जानना ज्ञानगुण है और श्रद्धान करना सम्यक्त्वगुण है ॥१५॥

---

१. गो० क० १३ । २. गो० क० १४ । ३. गो० क० १५ ।

1. ब जीवगुणस्वरूपमाह ।

सप्तभङ्गानां नामानि दर्शयन्नाह—

सिय अत्थि णत्थि उभयं अव्वत्तव्वं पुणो वि तत्तिदयं।
दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि ॥१६॥

खु स्फुटं द्रव्यं सप्तभङ्गं सम्भवति। केन? आदेशवशेन पूर्वसूरिकथनवशेन। ते सप्त भङ्गाः के? इति चेदुच्यन्ते—'सिय अत्थि' इत्यादि। स्याच्छब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते—[1]स्यादस्ति १ स्यान्नास्ति २ स्यादस्तिनास्ति ३ स्यादवक्तव्यम् ४। पुनरपि तृतीयं स्यादस्त्यवक्तव्यम् ५ स्यान्नास्त्यवक्तव्यम् ६ स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्यम् ७। तथा—

एकस्मिन्नविरोधेन प्रमाणनयवाक्यत।
सदादिकल्पना या च सप्तभङ्गीति सा मता ॥ २ ॥

स्यादस्ति—स्यात्कथञ्चित् विवक्षितप्रकारेण स्वद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया द्रव्यमस्तीत्यर्थः १। [स्यान्नास्ति—स्यात्कथञ्चित् विवक्षितप्रकारेण परद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया द्रव्यं नास्तीत्यर्थः २] स्यादस्ति-नास्ति—स्यात् कथञ्चित् विवक्षितप्रकारेण क्रमेण स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया द्रव्यमस्तिनास्तीत्यर्थः ३। स्यादवक्तव्यम्—स्यात् कथञ्चित् विवक्षितप्रकारेण युगपद्वक्तुमशक्यत्वात् 'क्रमप्रवर्त्तिनी भारती' ति वचनात् युगपत् स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया द्रव्यमवक्तव्यमित्यर्थः ४। स्यादस्त्यवक्तव्यम्—स्यात् कथञ्चित्

अब सात भंग कैसे संभव हैं, इस बातको बतलाते हैं—

वस्तु स्यात् अस्तिरूप है, स्यात् नास्तिरूप है, स्यात् उभयरूप है और स्यात् अवक्तव्यरूप है। पुनः स्यात् अस्ति अवक्तव्यरूप है, स्यात् नास्ति अवक्तव्यरूप है और स्यात् अस्ति-नास्ति अवक्तव्यरूप है। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्यके प्रति उपर्युक्त सात भंग आदेश अर्थात् विवक्षाके वशसे संभव हैं ॥१६॥

विशेषार्थ—स्यात् शब्द, कथंचित् विवक्षाविशेषका वाचक है। प्रत्येक पदार्थ अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है, इसलिए वह स्यात् अस्तिरूप कहा जाता है। किन्तु वही पदार्थ अन्य द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा नहीं पाया जाता है, इसलिए वह स्यात् नास्तिरूप कहलाता है। अर्थात् प्रत्येक पदार्थ द्रव्यकी अपेक्षा अस्तिरूप है और पर्यायकी अपेक्षा नास्तिरूप है। जब पदार्थके इन अस्ति-नास्ति रूपोंकी क्रमशः कथन करनेकी विवक्षा होती है तब वह स्यात् उभयरूप कहलाता है और जब इन दोनों ही धर्मोंके एक साथ कथन करनेकी विवक्षा होती है, तब वह स्यात् अवक्तव्यरूप सिद्ध होता है, इसका कारण यह है कि किसी भी वस्तुके परस्पर विरोधी दो धर्मोंका एक

---

१ पंचास्तिका० १४।

1. ब प्रतौ इतोऽग्रे टीकापाठो भिन्नप्रकारः। तद्यथा—स्यात् कथञ्चित् स्वद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया द्रव्यमस्ति १। स्यात् कथञ्चित् परद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया द्रव्यं नास्ति २। स्यात् कथञ्चित् स्व-परद्रव्यादि-चतुष्टयापेक्षया द्रव्यमस्तिनास्ति ३। स्यात् कथञ्चित् युगपत्स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया वक्तुमशक्यत्वा-द्द्रव्यमवक्तव्यम् ४। स्यात् कथञ्चित् स्वद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया युगपत् स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया च वक्तुमशक्यत्वाद्द्रव्यमस्त्यवक्तव्यम् ५। स्यात् कथञ्चित् परद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया युगपत् स्वपरद्रव्यादि-चतुष्टयापेक्षया च वक्तुमशक्यत्वाद् द्रव्यं नास्त्यवक्तव्यम् ६। स्यात् कथञ्चित्स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया युगपत् स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया च वक्तुमशक्यत्वाद् द्रव्यमस्तिनास्त्यवक्तव्यम् ७।

विवक्षितप्रकारेण स्वद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया युगपत् स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया च द्रव्यमस्त्यवक्तव्यमित्यर्थः ५। स्यान्नास्त्यवक्तव्यम्—स्यात् कथञ्चित् विवक्षितप्रकारेण परद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया युगपत् स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया च द्रव्यं नास्त्यवक्तव्यमित्यर्थः ६। स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्यम्—स्यात् कथञ्चित् विवक्षितप्रकारेण क्रमेण स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया युगपत् स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया च द्रव्यमस्ति-नास्त्यवक्तव्यमित्यर्थः। × एकमपि द्रव्यं कथं सप्तभङ्गात्मकं भवतीति प्रश्ने परिहारमाह—यथैकोऽपि देवदत्तो गौण-मुख्यविवक्षावशेन बहुप्रकारो भवति। कथमिति चेत् पुत्रापेक्षया पिता भण्यते, सोऽपि स्वकीयपित्रपेक्षया पुत्रो भण्यते, मातुलापेक्षया भागिनेयो भण्यते, स एव भागिनेयापेक्षया मातुलो भण्यते, भार्यापेक्षया भर्ता भण्यते, भगिन्यपेक्षया भ्राता भण्यते, विपक्षापेक्षया शत्रुर्भण्यते, इष्टापेक्षया मित्रं भण्यते इत्यादि। तथैकमपि द्रव्यं गौणमुख्यविवक्षावशेन सप्तभङ्गात्मकं भवतीति नास्ति दोष इति[1] × ॥१६॥

अथ तदावरणानां पाठक्रमं प्रतीतिपूर्वकमाह—

अब्भरिहिदादु पुव्वं णाणं तत्तो दु दंसणं होदि।
सम्मत्तमदो विरियं जीवाजीवगदमिदि चरिमे ॥१७॥

अभ्यर्हितात् पूज्यात् पूर्वं ज्ञानं भणितम्, '[2]अभ्यर्हितं पूर्वम्', इति सूत्रसद्भावात्। ततो हि दर्शनं भवति। अतः सम्यक्त्वं भवति। वीर्यं तु जीवाजीवेषु प्राप्तमिति हेतोः चरिमं अन्ते पठितम् ॥१७॥

साथ कहना असंभव है। इस प्रकार ये चार भंग सिद्ध हो जाते हैं। पुनः वक्ता जब वस्तुके अस्तिरूपके साथ अवक्तव्यरूप धर्मके कहनेकी विवक्षा करता है, तब स्यात्-अवक्तव्यरूप पाँचवाँ भंग बन जाता है। जब वस्तुके नास्तिरूपके साथ अवक्तव्यरूप धर्मके कहनेकी विवक्षा करता है, तब स्यात् नास्ति-अवक्तव्यरूप छठा भंग बन जाता है और जब अस्ति और नास्तिरूप दोनों धर्मोंके क्रमशः कथन करनेके साथ युगपत् कथनकी विवक्षा करता है, तब स्यात् अस्ति-नास्ति-अवक्तव्यरूप सातवाँ भंग बनता है। गाथाकारने प्रारंभके चार भंगोंका स्पष्टरूपसे नाम-निर्देश करके शेष तीन भंगोंके जाननेकी सूचना 'पुणोवि तत्तिदयं' इस पदके द्वारा कर दी है। ये सात भंग जैन दर्शनके मूल या प्राण हैं, इसलिए प्रत्येक पदार्थका स्वरूप-वर्णन इसी सप्त भंगरूप वाणीके द्वारा किया जाता है, यही संकेत ग्रन्थकारने प्रस्तुत गाथाके द्वारा किया है।

ग्रन्थकारने 'अत्थं देक्खिय जाणदि' इस गाथामें जिस क्रमसे जीवके गुणोंका निर्देश किया है, तदनुसार पहले दर्शनावरणका और पीछे ज्ञानावरण कर्मका निर्देश करना चाहिए था, परन्तु वैसा न करके पहले ज्ञानावरणकर्मका जो निर्देश आगम-परम्परामें पाया जाता है, सो क्यों? इस शंकाका समाधान ग्रन्थकार युक्तिपूर्वक करते हैं—

जीवके सर्व गुणोंमें ज्ञानगुण प्रधान है, इसलिए, उसके आवरण करनेवाले कर्मका सबसे पहले नाम-निर्देश किया गया है। उसके पश्चात् दर्शन और सम्यक्त्वगुणके आवरण करने या घातनेवाले कर्मोंका निर्देश किया गया है। वीर्यगुण शक्तिरूप है और यह शक्तिरूप गुण जीव और अजीव दोनोंमें पाया जाता है, इसलिए उसके घात करनेवाले अन्तराय कर्मका सब कर्मोंके अन्तमें निर्देश किया गया है ॥१७॥

---

१. गो० क० १६।

1. सन्दर्भोऽयं पञ्चास्तिकायजयसेनीयतात्पर्यवृत्त्या सह शब्दशः समानः।

× ब प्रतौ चिह्नान्तर्गतपाठो नास्ति। 2. ब यथावितं।

घादीवि अघादिं वा णिस्सेसं घादणे असक्कादो ।
णामतियणिमित्तादो विग्घं पठिदं[1] अघादिचरिमम्हि[2] ॥१८॥

अन्तरायकर्म घात्यपि अघातिवद् ज्ञातव्यम् । कुतः ? निःशेषजीवगुणघातने अशक्यत्वात्, नामगोत्र-वेदनीयनिमित्तत्वाच्च । नामगोत्रवेदनीयान्येव निमित्तं कारणं यस्यान्तरायस्य तत्तथोक्तम् । तस्मादघातिनां चरमे प्रान्ते पठितं पतितं वा । आयुर्नामगोत्रसंज्ञाघातिनां प्रान्ते कथितम् । अथवा घातिनां चरमे पठितम् ॥१८॥

आउबलेण अवट्ठिदि भवस्स इदि णाममाउपुव्वं तु ।
भवमस्सिय णीचुच्चं इदि गोदं णामपुव्वं तु[3] ॥१९॥

तु पुनः आयुर्बलाधानेना[1]वस्थिति । कस्य ? नामकर्मकार्यगतिलक्षणभवस्य । इति हेतोः नामकर्म आयुःकर्मपूर्वकं भवति । आयुःकर्म पूर्वमस्येति नामकर्मणः । तत्तु पुनः गतिलक्षणभवमाश्रित्य नीचत्व-मुच्चत्वं चेति हेतोः गोत्रकर्म नामकर्मपूर्वकं कथितम् । नामकर्म पूर्वं यस्य गोत्रस्य तत् ॥१९॥

घादिं व वेयणीयं मोहस्स बलेण घाददे जीवं ।
इदि घादीणं मज्झे मोहस्सादिम्हि पठिदं[4] तु[5] ॥२०॥

वेदनीयं कर्म घातिकर्मवत् मोहनीयविशेषरत्यरत्युदयबलेनैव जीवं घातयति, सुखदुःखरूपसाता-सातनिमित्तेन्द्रियविषयानुभवनेन हन्तीति हेतोः घातिकर्मणां मध्ये मोहनीयस्यादौ वेदनीयं पठितम् ॥२०॥

यहाँपर पुनः शंका उत्पन्न होती है कि अन्तराय तो घातियाकर्म है उसका अघातिया कर्मोंके अन्तमें क्यों नाम-निर्देश किया गया है ? ग्रन्थकार इसका समाधान करते हुए कहते हैं—

यद्यपि अन्तराय घातिया कर्म है, तथापि अघातिया कर्मोंके समान वह जीवके वीर्य-गुणको सम्पूर्णरूपसे घात करनेमें समर्थ नहीं, तथा नाम, गोत्र और वेदनीय इन तीन कर्मोंके निमित्तसे ही वह अपना कार्य करता है, इसलिए उसे अघातिया कर्मोंके अन्तमें कहा गया है ॥१८॥

अब ग्रन्थकार शेष कर्मोंके क्रमकी सार्थकता बतलाते हैं—

आयुकर्मके बलसे जीवका विवक्षित भव या चतुर्गतिरूप संसारमें अवस्थान होता है, इसलिए आयुकर्मके निर्देशके पश्चात् नामकर्मका निर्देश किया गया है । तथा शरीररूप भवका आश्रय लेकर ही नीच और ऊँचपनेका व्यवहार होता है, इसलिए नामकर्मके पश्चात् गोत्र-कर्मका निर्देश किया गया है ॥१९॥

यहाँ पर शंका उत्पन्न होती है कि वेदनीय कर्म तो अघातिया है, फिर उसका पाठ घातिया कर्मोंके बीचमें क्यों किया गया है ? इसका ग्रन्थकार समाधान करते हैं—

यद्यपि वेदनीयकर्म अघातिया है, तथापि वह मोहनीयकर्मके बलसे घातिया कर्मोंके समान ही जीवका घात करता है, इसलिए घातिया कर्मोंके मध्यमें और मोहनीय कर्मके आदिमें उसका नाम-निर्देश किया गया है ॥२०॥

---

१. ब पढिदं । २. गो० क० १७ । ३. ब पढिदं । ४. गो० क० १८ । ५. गो० क० १९ ।
1 ब बलाधारेण ।

णाणस्स दंसणस्स य आवरणं वेयणीयं मोहणियं ।
आउग णामं गोदंतरायमिदि पठिदमिदि सिद्धं[1] ॥२१॥

ज्ञानावरणीयं १ दर्शनावरणीयं २ वेदनीयं ३ मोहनीयं ४ आयु. ५ नाम ६ गोत्रं ७ अन्तरायः ८ इति पूर्वोक्तपाठक्रम एवं सिद्धः। तेषां निरुक्तिः कथ्यते—ज्ञानमावृणोतीति ज्ञानावरणीयम्। तस्य का प्रकृतिः? ज्ञानप्रच्छादनता। किंवत्? देवतामुखवस्त्रवत्। दर्शनमावृणोतीति दर्शनावरणीयम्। तस्य का प्रकृति? दर्शनप्रच्छादनता। किं वत? राजद्वारप्रतिहारवत्। राजद्वारे प्रतिनियुक्तप्रतिहारवत। वेदयतीति वेदनीयम्। तस्य का प्रकृतिः? सुखदुःखोत्पादनता। किंवत्? मधुलिप्तासिधारावत्। मोहयतीति मोहनीयम्। तस्य का प्रकृतिः? मोहोत्पादनता। किंवत्? मद्यधत्तूरमदनकोद्रववत्। भवधारणाय एति गच्छतीत्यायुः। तस्य का प्रकृति? भवधारणता। किंवत्? शृङ्खलाहडिवत्। नाना मिनोतीति नाम। तस्य का प्रकृति? नर-नारकादिनानाविधकरणता। किंवत्? चित्रकारकवत्। उच्चं नीचं गमयतीति गोत्रम्। तस्य का प्रकृति? उच्चत्वनीचत्वप्रापकता। किंवत्? कुम्भकारवत। दातृ-पात्रयोरन्तरमेतीत्यन्तरायः। तस्य का प्रकृतिः? विघ्नकरणता। किंवत? भाण्डागारिकवत् ॥२१॥

जीवपएसेक्केक्के कम्मपएसा हु अंतपरिहीणा।
होंति घणणिविडभूओ संबंधो होइ णायव्वो[2] ॥२२॥

जीवराशिरनन्तः। प्रत्येकमेकैकस्य जीवस्यासङ्ख्याताः प्रदेशाः। आत्मन एकैकस्मिन् प्रदेशे कर्मप्रदेशाः हु स्फुट अन्तपरिहीना इति अनन्ता भवन्ति। एतेषां आत्म-कर्मप्रदेशानां सम्यक् बन्धो भवति सम्बन्धः। किंलक्षणो ज्ञातव्यः? घननिविडभूतः—घनवत् लोहमुद्गरवत् निबिडभूतः दृढतर इत्यर्थः॥२२॥

अत्थि अणाईभूओ बंधो जीवस्स विविहकम्मेण[3] ।
तस्सोदएण जायइ भावो पुण राय-दोसमओ[4] ॥२३॥

जीवस्य विविधकर्मणा सह अनादिभूतो बन्धोऽस्ति। तस्य द्रव्यकर्मबन्धस्योदयेन जीवस्य पुनः रागद्वेषमयः भावः परिणामः भावकर्म इति यावत् जायते उत्पद्यते ॥२३॥

भावार्थ—जब तक जीवके मोहकर्मका सद्भाव रहता है, तब तक ही वेदनीकर्म जीवको सुख-दुःखका अनुभव कराकर उसे अपने ज्ञानादिगुणोंमें उपयुक्त नहीं रहने देता, प्रत्युत पर पदार्थोंमें सुख-दुःखकी कल्पना उत्पन्न कर उन्हें सुखी या दुःखी बनाता रहता है इस कारण उसका नाम-निर्देश मोहकर्मके पूर्व घातिया कर्मोंके बीचमें किया गया है।

इस प्रकारसे कर्मोंका जो पाठक्रम सिद्ध हुआ उसका ग्रन्थकार उपसंहार करते हैं—

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय, इस प्रकारसे आगममें जो कर्मोंके पाठका क्रम है वही युक्ति-पूर्वक सिद्ध होता है ॥२१॥

अब ग्रन्थकार जीवके प्रदेशोंके साथ कर्मके प्रदेशोंके सम्बन्ध होनेका निरूपण करते हैं

जीवके एक-एक प्रदेश के ऊपर कर्मोंके अन्त-परिहीन अर्थात् अनन्त प्रदेश अत्यन्त सघन प्रगाढ़ रूपसे अवस्थित होकर सम्बन्धको प्राप्त हो रहे हैं, ऐसा जानना चाहिए ॥२२॥

अब ग्रन्थकार जीव और कर्मके अनादिकालीन सम्बन्धका निरूपण करते हैं—

इस जीवका नाना प्रकारके कर्मोंके साथ अनादिकालीन सम्बन्ध है। पुनः उन कर्मोंके उदयसे जीवके राग-द्वेषमय भाव उत्पन्न होता है ॥२३॥

---

१. गो० क० २०। २. भावसं० ३२५। ३. क कम्मेहिं। ४. भावसं० ३२६।

भावेण तेण पुणरवि अण्णे बहुपुग्गला हु लग्गंति ।
जह तुप्पियगत्तस्स य णिविडा रेणुव्व लग्गंति[1] ॥२४॥

पुनरपि तेन रागद्वेषमयेन भावेन अन्ये बहवः कर्मपुद्गलाः आत्मनः लगन्ति बन्धं प्राप्नुवन्ति । यथा घृतविलिप्तगात्रस्य निबिडा रेणवो लगन्ति, [1] + तथा रागद्वेषक्रोधादिपरिणामस्निग्धाक्लिष्टात्मनः निबिडकर्मरजसो लगन्तीत्यर्थः + ॥२३॥

एकसमएण बद्धं कम्मं जीवेण सत्तभेएहिं ।
परिणमइ आउकम्मं बंधं भूयाउ [भुत्ताउ] सेसेण[2] ॥२५॥

जीवेन एकसमयेन बद्धं यत्कर्म तत्कर्म आयुष्कर्म विना ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीय-मोहनीय-नाम-गोत्रान्तरायसप्तभेदैः परिणमति बन्धं प्राप्नोति । च पुनः यदायु कर्म तद् भुक्तायुःशेषेण भुक्तायुस्तृतीयभागेन [2] त्रिभागानुक्रमेण बन्धं प्राप्नोति ॥२५॥

पुनः उस राग-द्वेषमय भावके निमित्तसे बहुतसे अन्य कर्मपुद्गल-परमाणु जीवके साथ सम्बन्धको प्राप्त होते हैं। जैसे कि घृतसे लिप्त शरीरके साथ धूलि-कण अति सघनताके साथ चिपक जाते हैं ॥२४॥

अब ग्रन्थकार एक समयमें बंधनेवाले कर्मोंके विभागका क्रम बतलाते हैं—

जीवके द्वारा एक समयमें बांधा गया कर्म आयुकर्मके विना शेष सात कर्मोंके स्वरूपसे परिणमित होता है। किन्तु जो आयु कर्म है, वह भुज्यमान आयुके (त्रिभागके) शेष शेष रहने पर बन्धको प्राप्त होता है ॥२५॥

भावार्थ—जीवके राग-द्वेषरूप भावोंका निमित्त पाकर प्रति समय जो अनन्त कर्म-परमाणु आत्माके साथ सम्बन्धको प्राप्त होते हैं, वे प्रति समय ही आयुकर्मके विना शेष सात कर्मोंके रूपसे परिणत होते रहते हैं। किन्तु आयु कर्मका बन्ध प्रति समय नहीं होता, किन्तु जो आयु कर्म भोगा जा रहा है, उसके दो भाग भोग लिये जानेपर तथा तीसरा भाग शेष रहनेपर नवीन आयुका बन्ध होगा। यदि इस प्रथम त्रिभागके शेष रहनेपर परभव-सम्बन्धी आयुका बन्ध किसी कारणसे नहीं हो सके, तो शेष जो आयु बची है, उसके भी दो भाग भोग लेने और एक भाग शेष रहनेपर नवीन आयुका बन्ध होगा। यही नियम आगे भी जानना चाहिए। जैसे यदि किसी जीवकी आयु ८१ वर्षकी हो, तो उसके ५४ वर्ष व्यतीत होनेपर एक अन्तर्मुहूर्त काल तक नवीन आयुके बन्धका अवसर प्राप्त होगा। यदि किसी कारणवश उस समय आयु-बन्ध न हो, तो शेष जो २७ वर्ष बची हैं, उनमेंसे दो भाग बीतने और एक भागके शेष रहनेपर अर्थात् ७२ वर्षकी आयुमें आयु-बन्धका अवसर प्राप्त होगा। इसके भी खाली जानेपर ८० वर्षमें तीसरी बार नवीन आयुके बन्धका अवसर प्राप्त होगा। इसी प्रकार आगे भी जानना। इस प्रकार भुज्यमान आयुके त्रिभाग शेष रहनेपर आठ अवसर नवीन आयुबंधके प्राप्त होते हैं। यदि इन सभी त्रिभागोंमें नवीन आयुका बन्ध न हो सके, तो मरणसे कुछ काल पूर्व नियमसे नवीन आयुका बन्ध हो जायेगा। यहाँ इतना विशेष ज्ञातव्य है कि किसी जीवके नवीन आयुका बन्ध एक ही त्रिभागमें होता है, किसीके दो त्रिभागोंमें होता है, इस प्रकार अधिकसे अधिक आठ बार तक जीव विवक्षित एक ही आयुका बन्ध कर सकता है।

---

१. भावसं० ३२७। २. भावसं० ३२८।

1. ब प्रतौ चिह्नान्तर्गतपाठो नास्ति। 2. ब त्रिभंग्यनुक्रमेण।

सो बंधो चउभेओ णायव्वो होदि सुत्तणिद्दिट्ठो ।
पयडि-ट्ठिदि-अणुभाग-पएसबंधो पुरा कहियो[1] ॥२६॥

स पूर्वोक्तकर्मबन्धश्चतुर्भेदो ज्ञातव्यो भवति । स कथम्भूतः ? जिनागमे कथितः । ते चत्वारो भेदाः के ? प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशाः । बन्धस्य अथ भेदः पुरा पूर्वोक्तगाथासु कथितः । उक्तं हि—

प्रकृतिः परिणामः स्यात् स्थितिः कालावधारणम् ।
अनुभागो रसो ज्ञेयः प्रदेशः प्रचयात्मकः[1] ॥ ४ ॥

पूर्वोक्तज्ञानावरणादिकर्मणां क्रमेण दृष्टान्तमाह—

पड-पडिहारसिमज्जा-हडि-चित्त-कुलाल-भंडयारीणं ।
जह एदेसिं भावा तहविह कम्मा मुणेयव्वा[2] ॥२७॥

देवतामुखवस्त्र १ राजद्वारप्रतिनियुक्तप्रतिहार २ मधुलिप्तासिधारा ३ मद्य ४ हडि[2] ५ चित्रक ६ कुलाल ७ भाण्डागारिकाणां ८ एतेषां भावा यथा तथैव यथास्वरूपं ज्ञानावरणादिकर्माणि ज्ञातव्यानि ॥२७॥

अब ग्रन्थकार बन्धके भेदोंका निरूपण करते हैं—

जीवके एक समयमें जो कर्मबन्ध होता है, वह प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बन्धके रूपसे आगमसूत्रमें चार प्रकारका पुरातन आचार्यों-द्वारा निर्देश किया गया है, ऐसा जानना चाहिए ॥२६॥

विशेषार्थ—प्रतिसमय बँधनेवाले कर्म परमाणुओंके भीतर ज्ञान दर्शन आदि आत्म-गुणोंको आवरणादि करनेका जो स्वभाव पड़ता है, उसे प्रकृतिबन्ध कहते हैं। वे बँधे हुए कर्म-परमाणु जितने समय तक आत्माके साथ रहेंगे, उस कालकी मर्यादाको स्थितिबन्ध कहते हैं। उन कर्म-परमाणुओंमें जो सुख-दुःखादिरूप फल देनेकी शक्ति होती है उसे अनुभागबन्ध कहते हैं और आनेवाले कर्म-परमाणुओंका जो पृथक्-पृथक् कर्मोंमें विभाजन होकर आत्माके साथ सम्बन्ध होता है, उसे प्रदेशबन्ध कहते हैं।

अब दृष्टान्तपूर्वक आठों कर्मोंके स्वभावका निरूपण करते हैं—

पट (वस्त्र), प्रतीहार (द्वारपाल), मधु-लिप्त असि, मद्य (मदिरा), हलि (पैरको फाँसकर रखनेवाला काठका यन्त्र-खोड़ा), चित्रकार, कुलाल (कुम्भकार) और भण्डारीके जैसे अपने-अपने कार्य करनेके भाव होते हैं उसी प्रकार क्रमसे आठों कर्मोंके कार्य जानना चाहिए ॥२७॥

विशेषार्थ—ज्ञानके आवरण करनेवाले कर्मको ज्ञानावरण कहते हैं। इसका स्वभाव देव-मूर्त्तिके मुखपर ढके हुए वस्त्रके समान है। जिस प्रकार देवमूर्त्तिके मुखपर ढका हुआ वस्त्र देवतासम्बन्धी विशेष ज्ञान नहीं होने देता उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म ज्ञानको रोकता है, उसे प्रकट नहीं होने देता। आत्माके दर्शनगुणको आवरण करनेवाले कर्मको दर्शनावरण कहते हैं। इसका स्वभाव द्वारपालके समान कहा है। जैसे द्वारपाल आगन्तुक व्यक्तिको राजद्वार-पर ही रोक देता है, भीतर जाकर राजाके दर्शन नहीं करने देता, उसी प्रकार यह कर्म भी

---

१. भावसं० ३२९। २. गो० क० २१।

1. सं० पञ्चसं० ४, ३६६। ब प्रतौ नास्त्ययं श्लोकः। 2. बा हलि।

अथाष्टकर्मणां ज्ञानावरणादीनामुत्तरप्रकृतिसङ्ख्यार्थं तेषां च स्वभावनिर्देशनार्थं गाथाष्टकमाह—

णाणावरणं कम्मं पंचविहं होइ सुत्तणिद्दिट्ठं ।
जह पडिमोवरि खित्तं कप्पडयं छादयं होइ[1] ॥२८॥

ज्ञानावरणं कर्म पञ्चविधं सूत्रनिर्दिष्टं जिनागमे कथितं भवति । तत्स्वभावदृष्टान्तमाह—यथा प्रतिमोपरि क्षिप्तं कर्पटकं छादकं भवति, तथा ज्ञानावरणं कर्म जीवगुणज्ञानाच्छादकं भवति ॥२८॥

दंसण-आवरणं पुण जह पडिहारो हु णिवदुवारम्हि ।
तं णवविहं पउत्तं फुडत्थवाईहिं[2] सुत्तम्हि[3] ॥२९॥

पुन दर्शनावरणं कर्म किं स्वभावम् ? यथा नृपद्वारे प्रतिहार राजदर्शननिषेधको भवति, तथा दर्शनावरणं कर्म वस्तुदर्शननिषेधकं भवति । तद्दर्शनावरणं कर्म नवप्रकारं स्फुटार्थवाग्भिर्गणधरदेवादिभि[1] सूत्रे सिद्धान्ते प्रोक्तम्[2] ॥२९॥

आत्माके दर्शनगुणको प्रकट नहीं होने देता। जो सुख-दुःखका वेदन या अनुभव करावे, उसे वेदनीय कर्म कहते है। इसका स्वभाव शहद लपेटी तलवारकी धारके समान है जिसे चखनेसे पहले कुछ सुख होता है परन्तु पीछे जीभके कट जानेपर अत्यन्त दुःख होता है। इसी प्रकार साता और असाता वेदनीय कर्म जीवको सुख और दुःखका अनुभव कराते है। जो जीवको मोहित या अचेत करे उसे मोहनीय कर्म कहते है इसका स्वभाव मदिराके समान है। जैसे मदिरा जीवको अचेत कर देती है उसी प्रकार मोहनीय कर्म भी आत्माको मोहित कर देता है उसे अपने स्वरूपका कुछ भी मान नहीं रहता। जो जीवको किसी एक पर्याय-विशेषमें रोक रखता है उसे आयुकर्म कहते हैं। इसका स्वभाव लोहेकी साँकल या काठके खोड़के समान है। जिस प्रकार साँकल या काठका खोड़ा मनुष्यको एक ही स्थानपर रोक रखता है, दूसरे स्थान-पर नहीं जाने देता; उसी प्रकार आयुकर्म भी जीवको मनुष्य-पशु आदिकी पर्यायमें रोक रखता है। जो शरीर और उसके अंग-उपांग आदिकी रचना करे उसे नामकर्म कहते हैं। इसका स्वभाव चित्रकारके समान है। जैसे चित्रकार अनेक प्रकारके चित्र बनाता है उसी प्रकार नामकर्म भी जीवके मनुष्य-पशु आदि अनेक रूपोंका निर्माण करता है। जो जीवको ऊँच या नीच कुलमें उत्पन्न करे उसे गोत्रकर्म कहते हैं। इसका स्वभाव कुम्भकारके समान है। जैसे कुम्भकार मिट्टीके छोटे-बड़े नाना प्रकारके बरतन बनाता है उसी प्रकार गोत्रकर्म भी जीवको ऊँच या नीच कुलमें उत्पन्न करता है। जो जीवको मनोवांछित वस्तुकी प्राप्ति न होने दे, उसे अन्तराय कर्म कहते है। इसका स्वभाव राजभण्डारीके समान है। जैसे भण्डारी दूसरेको इच्छित द्रव्य प्राप्त करनेमें विघ्न करता है उसी प्रकार अन्तराय कर्म भी जीवको इच्छित वस्तुकी प्राप्ति नहीं होने देता।

ज्ञानावरण कर्म आगमसूत्रमें पाँच प्रकारका कहा गया है। जिस प्रकार प्रतिमाके ऊपर पड़ा हुआ कपड़ा प्रतिमाका आच्छादक होता है उसी प्रकार यह कर्म आत्माके ज्ञानगुणका आच्छादन करता है ॥२८॥

जिस प्रकार राजद्वारपर बैठा हुआ प्रतिहार (द्वारपाल) किसीको राजाके दर्शन नहीं करने देता उसी प्रकार दर्शनावरणकर्म आत्माके दर्शन नहीं करने देता। यह कर्म स्पष्टवादी आचार्योंने परमागमसूत्रमें नौ प्रकारका कहा है ॥२९॥

---

१. भावसं० ३३१ । २. ब फुडत्थवाग्यिर्हि । ३. भावसं० ३३२ ।

1. ब जिनैः । 2. ब कथितम् ।

महुलित्तखग्गसरिसं दुविहं पुण होइ वेयणीयं तु ।
सायासायविभिण्णं सुह-दुक्खं देइ जीवस्स[1] ॥३०॥

पुनः वेदनीयं कर्म द्विविधं भवति । कथम्भूतम् ? मधुलिप्तखड्गसदृशम् । तत्सातासातभेदप्राप्तं सत् जीवस्य सुख-दुःखं ददाति ॥३०॥

मोहेइ मोहणीयं [2]जह मयिरा अहव कोद्दवा पुरिसं ।
तं अडवीसविभिण्णं णायव्वं जिणुवदेसेण[3] ॥३१॥

मोहनीयं कर्म आत्मानं मोहयति । यथा पुरुषं मदिरा मोहयति । अथवा कोद्रवाः पुरुषं मोहयन्ति । तन्मोहनीयं अष्टाविंशति-भेदभिन्नं जिनोपदेशेन ज्ञातव्यम् ॥३१॥

आऊ[4] चउप्पयारं णारय-तिरिच्छ-मणुय-सुरगइगं ।
हडिखित्त पुरिससरिसं जीवे भवधारणसमत्थं[5] ॥३२॥

आयुःकर्म चतुःप्रकारम्—नारक-तिर्यङ्-मनुष्य-सुरगतिप्राप्तं सत् । कथम्भूतम् ? हडिक्षिप्तपुरुष-सदृशम् । पुनः किं लक्षणम् ? जीवानां भवधारणसमर्थं भवति ॥३२॥

चित्तपडं[6] व विचित्तं णाणाणामे णिवत्तणं णामं ।
तेयाणवदी गणियं गइ जाइ-सरीर-आईयं[7] ॥३३॥

नामकर्म गति-जाति-शरीरादिकं त्रिनवति ९३ संख्यागणितं भवति । पुनः तन्नामकर्म किम्भूतम् ? चित्रपटवद् विचित्रं भवति । पुनः किम्भूतम् ? नानाप्रकारनामनिष्पादकं भवति ॥३३॥

गोदं कुलालसरिसं णीचुच्चकुले[8] सुपायणे दच्छं ।
घडरंजणाइकरणे कुंभायारो जहा णिउणो[9] ॥३४॥

गोत्रं कर्म कुलालसदृशं नीचोच्चकुलेषु समुत्पादने दक्षं समर्थं भवति । यथा कुम्भकारो [1]घटरञ्ज-

---

मधुलिप्त खड्गके सदृश वेदनीयकर्म है। वह दो प्रकारका है, जो सातावेदनीयकर्म है वह जीवको सुख देता है और जो असातावेदनीय कर्म है वह जीवको दुःख देता है ॥३०॥

जिस प्रकार मदिरा अथवा मत्तौनिया कोदों पुरुषको मोहित करते हैं उसी प्रकार मोहनीयकर्म जीवको मोहित करता है। जिनेन्द्रदेवके उपदेशसे उसे अट्ठाईस भेदरूप जानना चाहिए ॥३१॥

नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देवायुके भेदसे आयुकर्म चार प्रकारका कहा गया है। यह कर्म हडि (खोड़े) में डाले गये पुरुषके सदृश जीवोंको किसी एक भवमें धारण करनेके लिए समर्थ है ॥३२॥

चित्रकारके सदृश नामकर्म जीवके नानाप्रकारके आकारोंका निर्माण करता है। यह गति, जाति, शरीर आदिके भेदसे तेरानबे प्रकारका कहा गया है ॥३३॥

कुलाल (कुम्भकार) के सदृश गोत्रकर्म नीच और उच्चकुलोंमें उत्पादन करनेमें समर्थ कहा गया है। जिस प्रकार कुम्भकार घट-सिकोरा आदि बनानेमें निपुण होता है उसी प्रकार

---

१. भावसं० ३३४। २. ब जिह। ३. भावस० ३३३। ४ ब आउ। ५ भावसं० ३३५। ६. ब पडव्व।७ भावसं० ३३६। ८. ज समुपायणे। ९. भावसं० ३३७।

1. ब घटालंजरादिकरणे।

नादिकरणे निपुणो भवति तथा गोत्रकर्म नीचोच्चकुलेषूत्पादने समर्थं भवति ॥३४॥

जह भंडयारि पुरिसो धणं णिवारेइ राइणा दिण्णं ।
तह अंतरायपणगं णिवारयं होइ[1] लद्धीणं[2] ॥३५॥

यथा भाण्डागारिकपुरुषः राज्ञा दत्तं धनं निवारयति, तथा अन्तरायपञ्चकं दानलाभभोगोपभोग-वीर्यलब्धीनां[1] निवारकं भवति ॥३५॥

ज्ञानावरणादीना[2]मुत्तरप्रकृत्युत्पत्तिक्रममाह—

पंच णव दोण्णि अट्ठावीसं[3] चउरो कमेण तेणवदी ।
तेउत्तरं सयं वा दुग पणगं उत्तरा होंति[4] ॥३६॥

*ज्ञानावरणादीनां कर्मणां यथासंख्यमुत्तरभेदान् कथयन्ति सूरयः-पञ्च नव द्वावष्टाविंशतिश्चत्वारस्त्रिनवति ९३ स्त्र्युत्तरशतं वा १०३ द्वौ पंच भवन्ति । तद्यथा—ज्ञानावरणीयं १ दर्शनावरणीयं २ वेदनीयं ३ मोहनीय ४ आयु ५ नाम ६ गोत्र ७ मन्तरायश्चेति ८ मूलप्रकृतयः ८ । ज्ञानावरणस्य पञ्च प्रकृतयो भवन्ति ५ । दर्शनावरणस्य नव प्रकृतयो भवन्ति ९ । वेदनीयस्य द्वे प्रकृती भवतः २ । मोहनीयस्य अष्टाविंशतिः प्रकृतयो भवन्ति २८ । आयुष्कर्मणश्चतस्रः प्रकृतयः सन्ति ४ । नामकर्मणः त्रिनवतिः ९३ त्र्यधिकशतप्रकृतयो वा १०३ भवन्ति । गोत्रकर्मणः द्वे प्रकृती भवतः २ । अन्तरायकर्मणः पञ्च प्रकृतयो भवन्ति ५ । अनुक्रमेण ज्ञानावरणादीनां प्रकृतिसंख्या ज्ञातव्या ॥३६॥

तत्र ज्ञानावरणीयं पञ्चप्रकारम्—मति-श्रुतावधि-मनःपर्ययज्ञानावरणीयं केवलज्ञानावरणीयं चेति । मतिज्ञानावरणादिस्वरूपं गाथापञ्चकेनाऽऽह—

अहिमुहणियमियबोहणमाभिणिबोहियमणिंदि-इंदियजं ।
बहुआदि ओग्गहादिय-कयछत्तीसतिसयभेयं[4] ॥३७॥

स्थूलवर्तमानयोग्यदेशावस्थितोऽर्थः अभिमुखः । अस्येन्द्रियस्यायमेवार्थ इत्यवधारितो नियमितः । अभिमुखश्चासौ नियमितश्च अभिमुखनियमितः । तस्यार्थस्य बोधनं ज्ञानं आभिनिबोधिकं मतिज्ञानमित्यर्थः ।

यह गोत्रकर्म भी नीच और ऊँच कुलोंमें जीवको पैदा करनेमें समर्थ है ॥३४॥

जिस प्रकार राजाके द्वारा दिये गये धनको भण्डारी देनेसे रोकता है उसी प्रकार पाँच प्रकारका अन्तरायकर्म दान आदि लब्धियोंका निवारक कहा गया है ॥३५॥

उक्त आठों कर्मोंके क्रमशः पाँच, नौ, दो, अट्ठाईस, चार, तेरानवे अथवा एक सौ तीन, दो और पाँच उत्तर भेद होते हैं ॥३६॥

अब ग्रन्थकार ज्ञानके पाँच भेदोंमें-से पहले मतिज्ञानका स्वरूप कहते हैं—

इन्द्रिय और अनिन्द्रिय (मन) की सहायतासे अभिमुख और नियमित पदार्थके जाननेवाले ज्ञानको आभिनिबोधिक कहते हैं। यह प्रत्येक अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणाके भेदसे तथा बहु आदिके भेदसे तीन सौ छत्तीस प्रकारका कहा गया है ॥३७॥

---

१. ब लद्धीणं । २. भावसं० ३३८ । ३. ब अट्ठवीसं । ४. गो० क० २२ । पञ्चसं० १, १२१ । गो० जी० ३०५ ।

1. ब दानादिलब्धीनां । 2. ब ज्ञानावरणादीनामिति पाठो नास्ति । * अ प्रतौ चिह्नान्तर्गतपाठो नास्ति ।

स्पर्शनादीन्द्रियाणां स्थूलविषयेषु ज्ञानजननशक्तित्वात् सूक्ष्मार्थेषु परमाणुषु अन्तरितार्थेषु नरकस्वर्गपटलादिषु दूरार्थेषु मेर्वादिषु ज्ञानजननशक्तिर्न सम्भवतीत्यर्थः। अनेन मतिज्ञानस्वरूपं निवेदितम्। तत्कथम्भूतम्? अनिन्द्रियेन्द्रियजम्—अनिन्द्रियं मनः, इन्द्रियाणि स्पर्शनादीनि पञ्च। एभ्यो जातं अनिन्द्रियेन्द्रियजम्। अनेन इन्द्रिय-मनसो मतिज्ञानोत्पत्तिकारणत्वं भणितमिति मतिज्ञानं षोढा कथितम्। पुनः प्रत्येकैकस्य मतिज्ञानस्य अवग्रहादयश्चत्वारो भेदा भवन्ति। तद्यथा—मानसोऽवग्रहः १ मानसीहा २ मानसोऽवायः ३ मानसी धारणा ४ इति चत्वारः। एवं स्पर्शनेन्द्रियजाः अवग्रहादयश्चत्वारः ४। रसनजाः अवग्रहादयश्चत्वारः ४। घ्राणजाः अवग्रहादयश्चत्वारः ४। चाक्षुषाः अवग्रहादयश्चत्वारः ४। श्रोत्रजाः अवग्रहादयश्चत्वारः ४। एवं मतिज्ञानभेदाश्चतुर्विंशतिः २४ भवन्ति। बहुः १ अबहुः २ बहुविधः ३ अबहुविधः ४ क्षिप्र ५ अक्षिप्रः ६ अनिस्सृत ७ निस्सृतः ८ अनुक्तः ९ उक्त १० ध्रुव. ११ अध्रुवः १२ एतैर्द्वादशभिर्गुणिताश्चतुर्विंशतिः २४ मतिज्ञानस्य भेदा. अष्टाशीत्युत्तरद्विशतं २८८ भवन्ति। एते अष्टाशीत्यधिकद्विशतभेदाः २८८ अर्थस्य स्थिरस्थूलरूपस्य पदार्थस्य भवन्ति। व्यञ्जनस्य अव्यक्तवस्तुनः एकोऽवग्रहो भवति। स तु व्यञ्जनावग्रहः बह्वादिभिर्द्वादशभिः १२ गुणितः द्वादशप्रकारो भवति। स तु द्वादशात्मकः चक्षुरनिन्द्रियाभ्यां विना स्पर्शनरसनघ्राणश्रोत्रैश्चतुर्भिः ४ गुणितोऽष्टचत्वारिंशत् ४८ भेदा भवन्ति। एवं एकत्रीकृता. षट्त्रिंशदधिकत्रिशतभेदाः ३३६ मतिज्ञानस्य भवन्ति। मतिज्ञानमावृणोतीति [1]आव्रियतेऽनेन वेति मतिज्ञानावरणीयम् ॥२७॥

अथ श्रुतज्ञानस्वरूपमाह—

> अत्थादो अत्थंतरमुवलंभं तं भणंति सुदणाणं।
> आभिणिबोहियपुव्वं णियमेणिह सद्दजप्पमुहं[2] ॥२८॥

अर्थात् मतिज्ञानेन निश्चितार्थात् अर्थान्तरं तत्सम्बद्धं अन्यार्थं उपलभ्यमानं ज्ञायमानं श्रुतज्ञाना-

---

विशेषार्थ—स्थूल, वर्तमान योग्य क्षेत्रमें अवस्थित पदार्थको अभिमुख कहते हैं। प्रत्येक इन्द्रियके निश्चित विषयको नियमित कहते हैं। इन दोनों प्रकारके पदार्थोंका मन और इन्द्रियोंकी सहायतासे जो ज्ञान होता है उसे आभिनिबोधिक या मतिज्ञान कहते हैं। इस प्रकार पाँच इन्द्रिय और मनकी अपेक्षा उक्त ज्ञानके छह भेद होते हैं। इसमें भी प्रत्येकके अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार-चार भेद होते है। वस्तुके सामान्य ज्ञानको अवग्रह कहते हैं,जैसे कि यह मनुष्य है। इससे अधिक विशेष जाननेकी इच्छाको ईहा कहते हैं जैसे कि यह मनुष्य दक्षिणी है या उत्तरी। इसीके आकार-प्रकार एवं बोल-चाल आदिके द्वारा निश्चय करनेको अवाय कहते हैं, जैसे कि उक्त मनुष्य दक्षिणी ही है। और आगे कालान्तरमें इसे नहीं भूलनेको धारणा कहते हैं। पुनः उनके बहु, बहुविध आदि बारह प्रकारके पदार्थोंकी अपेक्षा (२४×१२=२८८) दो सौ अठासी भेद हो जाते हैं। ये सब अर्थावग्रहके भेद हैं। व्यक्त पदार्थके ज्ञानको अर्थावग्रह कहते हैं। अव्यक्त पदार्थके जाननेको व्यंजनावग्रह कहते हैं। यह मन और नेत्रइन्द्रियके बिना शेष चार इन्द्रियोंसे केवल अवग्रह रूप ही होता है और बहु-आदि बारह पदार्थोंकी अपेक्षा उसके (४×१२=४८) अड़तालीस भेद होते हैं। इन्हें उपर्युक्त दो सौ अठासी भेदोंमें जोड़ देनेपर (२८८+४८=३३६) तीन सौ छत्तीस भेद मतिज्ञानके हो जाते हैं।

---

१. ब 'सत्यज' इति पाठ। २. पञ्चसं० १, १२२। गो० जी० ३१४।

1. ब पाठोऽयं नास्ति।

वरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमजातं जीवस्य ज्ञानपर्यायं श्रुतज्ञानम्, इति मुनीश्वरा भणन्ति। तत्कथं भवेत्? आभिनिबोधिकपूर्वं नियमेन आभिनिबोधिकं मतिज्ञानं पूर्वं कारणं यस्य तदाभिनिबोधिकपूर्वं मतिज्ञानावरणक्षयोपशमेन मतिज्ञानं पूर्वमुत्पद्यते। पश्चात्तद्-गृहीतार्थमवलम्ब्य तद्बलाधानेनार्थान्तरविषयं श्रुतज्ञानमुत्पद्यते। इहास्मिन् श्रुतज्ञानप्रकरणे अक्षरानक्षरात्मकयोः शब्दज-लिङ्गजयोः श्रुतज्ञानभेदयोर्मध्ये शब्दजं वर्णपदवाक्यात्मकशब्दजनितं श्रुतजातं[1] ज्ञान प्रमुखं प्रधानं दत्तग्रहणशास्त्राध्ययनादिसकलव्यवहाराणां सम्मूलत्वात्। अनक्षरात्मकं तु लिङ्गजं श्रुतज्ञानमेकेन्द्रियादि—पञ्चेन्द्रियपर्यन्तेषु जीवेषु विद्यमानमपि व्यवहारानुपयोगित्वादप्रधानं भवति। श्रूयते श्रोत्रेन्द्रियेण गृह्यते इति श्रुतः शब्दः, तस्मादुत्पन्नमर्थज्ञानमिति व्युत्पत्तेरक्षरात्मकप्राधान्याश्रयणात्प्रधान [मक्षरात्मकं श्रुतज्ञानम्।] श्रुतज्ञानमावृणोति, "आव्रियतेऽनेनेति वा श्रुतज्ञानावरणीयम् ॥३८॥

अवधिज्ञानस्वरूपमाह—

अवधीयदि त्ति ओही सीमाणाणेत्ति वण्णियं समये।
भव-गुणपच्चयविहियं जमोहिणाणेत्ति णं विंति ॥३९॥

अवधीयते द्रव्यक्षेत्रकालभावैः परिमीयते मर्यादीक्रियत इत्यवधिः। मतिश्रुतकेवलवद् द्रव्यादिभिरपरिमितविषयत्वाभावात् यत्तृतीयं सीमाविषयं ज्ञानं समये परमागमे जिनेन कथितं तदिदमवधिज्ञानमित्यर्हदादयो ब्रुवन्ति। तत्कतिप्रकारम्? भव-गुणप्रत्ययविहितम्। भवो नारकादिपर्यायः। गुणः सम्यग्दर्शनविशुद्ध्यादिः। भव गुणौ नारकादिपर्यायसम्यग्दर्शनविशुद्ध्याद्यौ प्रत्ययौ कारणे निमित्तौ ताभ्यां विहितमुक्तभवगुणप्रत्ययविहितम्। भवप्रत्ययत्वेन गुणप्रत्ययत्वेन च अवधिज्ञानं द्विविधं कथितमित्यर्थः। भवप्रत्ययावधिज्ञानं सुराणां नारकाणां चरमभवतीर्थङ्कराणां च सम्भवति। गुणप्रत्ययमवधिज्ञानं पर्याप्तानां नराणां संज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्ततिरश्चां च सम्भवति। तदुक्तं श्रीगोम्मटसारे—

भवपच्चयगो सुर-णिरयाण तित्थेवि सव्वअंगुत्थो।
गुणपच्चयगो णर-तिरियाण संखादिचिण्हभवो[3] ॥५॥

तेषां देव-नारक-तीर्थंकराणां सर्वाङ्गप्रदेशस्थावधिज्ञानावरणवीर्यान्तरायकर्मद्वयक्षयोपशमोत्थ अवधि-

---

श्रुतज्ञानका स्वरूप—

आभिनिबोधिक ज्ञानके विषयभूत पदार्थसे भिन्न पदार्थके जाननेको श्रुतज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान नियमसे आभिनिबोधिक ज्ञानपूर्वक होता है। इसके अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक अथवा शब्दजन्य और लिंगजन्य ये दो भेद हैं। इनमें शब्दजन्य या अक्षरात्मक श्रुतज्ञान मुख्य है ॥३८॥

विशेषार्थ—वर्ण, पद और वाक्यके द्वारा होनेवाले ज्ञानको शब्द-जनित अक्षरात्मक श्रुतज्ञान कहते हैं और शब्दके बिना ही इन्द्रियोंके संकेत आदिसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानको लिंगज या अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान कहते हैं। ११ अंग और १४ पूर्वरूप भेद अक्षरात्मक श्रुतज्ञानके हैं।

अवधिज्ञानका स्वरूप—

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षासे जिसके विषयकी सीमा निश्चित है ऐसे भूत, भविष्यत् और वर्तमानकालवर्ती सीमित पदार्थोंके जाननेवाले ज्ञानको अवधिज्ञान कहते हैं।

---

१. पञ्चसं० १, १२३, गो० जी० ३६९।

1. ब श्रुतज्ञातज्ञानं। 2. ब पाठोऽयं नास्ति। 3. गो० जी० ३७०।

ज्ञानं भवति । तिरश्चां पञ्चेन्द्रियसंज्ञिपर्याप्तानां नाभेरुपरि शङ्ख-पद्म-स्वस्तिकादिशुभचिह्नप्रदेशस्थावधिज्ञानं भवति ।

अवधिज्ञानमावृणोत्याव्रियतेऽनेनेति वा अवधिज्ञानावरणीयम् ॥३९॥

अथ मनःपर्ययज्ञानस्वरूपमाह—

चिंतियमचिंतियं वा अद्धं चिंतियमणेयभेयगयं ।
मणपज्जवं ति वुच्चइ जं जाणइ तं खु णरलोए[1] ॥४०॥

चिन्तितं चिन्ताविषयीकृतम्, अचिन्तितं चिन्तयिष्यमाणम्, अर्धचिन्तितं असम्पूर्णचिन्तितं वा इत्यनेकभेदगतमर्थं परमनसि स्थितं यज्ज्ञानं जानाति तत् खु स्फुटं मनःपर्ययज्ञानमित्युच्यते । तस्योत्पत्ति-प्रवृत्ती नरलोके मनुष्यक्षेत्रे एव; न तु तद्बहिः । मनःपर्ययज्ञानं द्विविधम्—ऋजुमतिविपुलमतिभेदात् । मनःपर्ययज्ञानमावृणोत्याव्रियतेऽनेनेति वा मनःपर्ययज्ञानावरणीयम् ॥४०॥

केवलज्ञानस्वरूपमाह—

संपुण्णं तु समग्गं केवलमसवत्त सव्वभावगयं ।
लोयालोयवितिमिरं केवलणाणं मुणेयव्वं[2] ॥४१॥

जीवद्रव्यस्य शक्तिगतसर्वज्ञानाविभागप्रतिच्छेदानां व्यक्तिगतत्वात्सम्पूर्णम् । मोहनीय-वीर्यान्तराय-निरवशेषक्षयात् अप्रतिहतशक्तियुक्तत्वाच्च समग्रम् । द्वितीय[1]सहायनिरपेक्षत्वात्केवलम् । घातिचतुष्टय-प्रक्षयादसपत्नम् । क्रमकरणव्यवधानरहितत्वेन सकलपदार्थगतत्वात्सर्वभावगतम् । लोकालोकयोर्विगतति-

---

सीमित जाननेकी अपेक्षा परमागममें इसे सीमाज्ञान कहा गया है । जिनेन्द्रदेवने इसके दो भेद कहे हैं । एक भव-प्रत्यय-अवधि और दूसरा गुण-प्रत्यय-अवधि ॥३९॥

विशेषार्थ—नारक और देवभवकी अपेक्षासे अवधिज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होकर जो अवधिज्ञान उत्पन्न होता है उसे भव-प्रत्यय-अवधि कहते हैं । यह देव, नारकी और तीर्थंकरोंके होता है । जो अवधिज्ञान सम्यग्दर्शनादि गुणोंकी अपेक्षासे अवधिज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होकर उत्पन्न होता है उसे गुण-प्रत्यय-अवधि कहते हैं । यह मनुष्य और तिर्यंचोंके होता है ।

मनःपर्ययज्ञानका स्वरूप—

जो चिन्तित, अचिन्तित अथवा अर्धचिन्तित आदि अनेक भेदरूपसे दूसरेके मनमें स्थित पदार्थको जाने उसे मनःपर्ययज्ञान कहते हैं । यह ज्ञान तपस्वी मनुष्योंके मनुष्यलोकमें ही होता है, बाहर नहीं ॥४०॥

केवलज्ञानका स्वरूप—

जो ज्ञान सम्पूर्ण, समग्र, केवल (असहाय), असपत्न (प्रतिपक्षरहित), सर्वपदार्थगत और लोक-अलोकमें अन्धकाररहित होता है उसे केवलज्ञान कहते हैं ॥४१॥

विशेषार्थ—त्रिलोक और त्रिकालवर्ती समस्त चराचर वस्तुओंके युगपत् जाननेवाले ज्ञानको केवलज्ञान कहते हैं । यह सम्पूर्ण ज्ञानावरण कर्मके क्षयसे उत्पन्न होता है और समस्त पदार्थोंका जाननेवाला है इसलिए यह सम्पूर्ण है । मोहनीय और अन्तराय कर्मके

---

१. पञ्चसं० १, १२५ । गो० जी० ४३७ । २. पञ्चसं० १, १२६ । गो० जी० ४५९ ।

1. ब इन्द्रिय ।

मिदं प्रकाशकमेवम्भूतं द्रव्यं केवलज्ञानं मन्तव्यं ज्ञातव्यम्। केवलज्ञानमावृणोत्याव्रियतेऽनेनेति वा केवलज्ञानावरणीयम् ॥४१॥

ज्ञानावरणस्य पञ्चप्रकृतिनामान्याह—

मदि-सुद-ओही-मणपज्जव-केवलणाण-आवरणमेवं।
पंचवियप्पं णाणावरणीयं जाण [1]जिणभणियं ॥४२॥

मतिज्ञानावरणं १ श्रुतज्ञानावरणं २ अवधिज्ञानावरणं ३ मनःपर्ययज्ञानावरणं ४ केवलज्ञानावरणं ५ एवममुना प्रकारेण पञ्चविकल्पं पञ्चप्रकारं ज्ञानावरणीयं जिनैर्भणितं हे शिष्य ! त्वं जानीहि ॥४२॥

अथ दर्शनस्वरूपमाह

जं सामण्णं गहणं भावाणं णेव कट्टुमायारं।
अविसेसिदूण अट्ठे दंसणमिदि भण्णए समये[2] ॥४३॥

भावानां पदार्थानां सामान्य[1] विशेषात्मकबाह्यवस्तूनां[2] आकारं भेदग्रहणं अकृत्वा यत्सामान्यग्रहणं स्वरूपमात्रावभासनं तद्दर्शनमिति परमागमे भण्यते। वस्तुस्वरूपमात्रग्रहणं कथम् ? अर्थान् बाह्यपदार्थान् अविशेष्य जातिक्रियागुणप्रकारैरविकल्प्य [3]स्वरूपसत्तावभासनं [4]दर्शनमित्यर्थः। दर्शनमावृणोत्याव्रियतेऽनेनेति वा दर्शनावरणीयम्[5] ॥४३॥

चक्षुरचक्षुर्दर्शनद्वयस्वरूपमाह—

चक्खूण जं पयासइ दीसइ[3] तं चक्खुदंसणं विंति।
सेसिंदियप्पयासो णायव्वो सो अचक्खु त्ति[4] ॥४४॥

क्षयके साथ उत्पन्न होता है अतएव अप्रतिहत शक्तियुक्त होनेसे उसे समग्र कहते हैं। इन्द्रिय, मन, प्रकाश आदि बाहरी पदार्थोंकी सहायता न रखनेसे इसे केवल या असहाय कहते हैं। समस्त पदार्थोंके जाननेमें उसका कोई बाधक नहीं है अतएव उसे असपत्न या प्रतिपक्षरहित कहते हैं। कोई भी ज्ञेय पदार्थ इस ज्ञानके विषयसे बाहर नहीं है।

उपर्युक्त मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञानके आवरण करनेसे ज्ञानावरणीय कर्म पाँच विकल्परूप जिनभगवान्ने कहा है ऐसा हे शिष्य, तू जान ॥४२॥

अब ग्रन्थकार दर्शनका स्वरूप कहते हैं—

पदार्थोंके आकाररूप-विशेष अंशका ग्रहण न करके जो केवल सामान्य अंशका निर्विकल्परूपसे ग्रहण होता है उसे परमागममें दर्शन कहते हैं ॥४३॥

विशेषार्थ—प्रत्येक पदार्थमें सामान्य और विशेषरूप दो धर्म रहते हैं उनमें-से केवल सामान्य धर्मकी अपेक्षा जो स्व-पर पदार्थोंकी सत्ताका प्रतिभास होता है उसे दर्शन कहते हैं। इसका विषय वचनोंके अगोचर है इसलिए इसे निर्विकल्प कहा गया है। परमागममें इसके चार भेद कहे गये हैं—१ चक्षुदर्शन २ अचक्षुदर्शन ३ अवधिदर्शन और ४ केवलदर्शन।

अब ग्रन्थकार क्रमशः उनका स्वरूप कहते हुए पहले चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शनका स्वरूप निरूपण करते हैं—

---

१. त जाणिदं बोद्धुं। २. पञ्चसं० १, १३८। गो० जी० ४८१। ३. त दिस्सइ। ४. पञ्चसं० १, १३९। गो० जी० ४८३।

1. ब सदृशपरिणामः सामान्यं विसदृशपरिणामो विशेष। 2. ब पदार्थानाम्। 3. ब स्वपरसत्ता। 4. ब पश्यति दृश्यतेऽनेन दर्शनमात्रं वा दर्शनम्। 5 ब पाठोऽयं नास्ति।

चक्षुषोः नयनयोः सम्बन्धि यद्रूपादि वस्तुसामान्यग्रहणं प्रकाशते पश्यति वा तत् नेत्रसम्बन्धिवस्तु दृश्यते जीवेन अनेनेति कृत्वा चक्षुर्विषयप्रकाशनमेव [1] तच्चक्षुर्दर्शनमिति जिना ब्रुवन्ति कथयन्ति । शेषेन्द्रियाणां स्पर्शनरसनघ्राणश्रोत्राणां सम्बन्धिवस्तुतो योऽसौ प्रकाश दर्शनं स ज्ञातव्योऽचक्षुर्दर्शनमिति । चक्षुर्दर्शनमावृणोत्याव्रियतेऽनेनेति वा चक्षुर्दर्शनावरणीयम् १ । अचक्षुर्दर्शनमावृणोत्याव्रियतेऽनेनेति वा अचक्षुर्दर्शनावरणीयम् २ ॥४४॥

अथावधिदर्शनस्वरूपमाह—

> परमाणुआदिआइं[1] अंतिमखंधं ति मुत्तिदव्वाइं ।
> तं ओहिदंसणं पुण जं पस्सइ ताइं पच्चक्खं[2] ॥४५॥

परमाणोरारभ्य महास्कन्धपर्यन्तं मूर्तिद्रव्याणि, तानि यद्दर्शनं प्रत्यक्षं पश्यन्ति; तत्पुनः अवधिदर्शनं भवति । अवधिदर्शनमावृणोत्याव्रियतेऽनेनेति वा अवधिदर्शनावरणीयम् ॥४५॥

केवलदर्शनस्वरूपमाह—

> बहुविह-बहुप्पयारा उज्जोवा परिमियम्मि खेत्तम्मि ।
> लोयालोयवितिमिरो जो केवलदंसणुज्जोवो[3] ॥४६॥

बहुविधा. तीव्रमन्दमध्यमादिभेदेनानेकविधाः बहुप्रकाराश्चोद्योता चन्द्रसूर्यरत्नादिभेदेनानेकप्रकारा उद्योताः प्रकाशविशेषाः लोके परिमितक्षेत्रे एव प्रकाशन्ते । यः केवलदर्शनाख्य उद्योतः स लोकालोकयोः सर्वसामान्याकारे वितिमिरः करणक्रमव्यवधानरहितत्वेन सदाऽवभासमानः स केवलदर्शनाख्य उद्योतो भवति । केवलदर्शनमावृणोत्याव्रियतेऽनेनेति वा केवलदर्शनावरणीयम् ॥४६॥

चक्षु इन्द्रियके द्वारा जो पदार्थका सामान्य प्रकाश होता है या वस्तुका सामान्य रूप दिखाई देता है उसे चक्षुदर्शन कहते हैं । चक्षुरिन्द्रियके सिवाय शेष इन्द्रियों और मनके द्वारा होनेवाले अपने-अपने विषयभूत सामान्य प्रकाश या प्रतिभासको अचक्षुदर्शन जानना चाहिए ॥४४॥

अवधिदर्शनका स्वरूप—

अवधिज्ञान होनेके पूर्व उसके विषयभूत परमाणुसे लेकर महास्कन्धपर्यन्त मूर्तद्रव्यको जो सामान्य रूपसे देखता है उसे अवधिदर्शन कहते हैं । इस अवधिदर्शनके अनन्तर अवधिज्ञान उत्पन्न होता है जो अपने विषयभूत परमाणु आदिको स्पष्ट रूपसे प्रत्यक्ष जानता है ॥४५॥

केवलदर्शनका स्वरूप—

तीव्र, मन्द, मध्यम आदि अनेक अवस्थाओंकी अपेक्षा तथा चन्द्र-सूर्य आदि पदार्थोंकी अपेक्षा अनेक प्रकारके प्रकाश लोकके परिमित क्षेत्रमें ही रहते हैं, किन्तु जो केवलदर्शनरूप उद्योत (प्रकाश) है वह लोक और अलोकको अन्धकाररहित स्पष्ट रूपसे प्रकाशित करता है ॥४६॥

---

१. ब –'दव्वं' इति पाठः । २. पञ्चसं० १, १४० । गो० जी० ४८४ । ३. पञ्चसं० १, १४१ । गो० जी० ४८५ ।

1. ब यच्चक्षुषा दृश्यते तच्चक्षुर्दर्शनम् ।

दर्शनावरणप्रकृतिनामनवकमाह—

चक्खु-अचक्खू-ओही-केवलआलोयणाणमावरणं।
[1]एत्तो पभणिस्सामो पण णिद्दा दंसणावरणं ॥४७॥

चक्षुर्दर्शनावरणं १ अचक्षुर्दर्शनावरणं २ अवधिदर्शनावरणं ३ केवलदर्शनावरणम् ४। अतः परं पञ्चप्रकारं निद्रादर्शनावरणं वयं नेमिचन्द्राचार्या[1] प्रभणिष्यामः ॥४७॥

पञ्चधा निद्रा का इति चेदाह—

अह थीणगिद्धि णिद्दाणिद्दा य तहेव पयलपयला य।
णिद्दा पयला एवं णवभेयं दंसणावरणं ॥४८॥

अथेत्यनन्तरं स्त्यानगृद्धि १ निद्रानिद्रा च २ तथैव प्रचलाप्रचला ३ निद्रा ४ प्रचला ५ एवं समुदितं दर्शनावरणं नवभेदं भवति। स्त्यानगृद्ध्यादिनिद्राणां लक्षणमाह—[स्त्याने] स्वप्ने यथा वीर्यविशेषप्रादुर्भावः सा स्त्यानगृद्धि.। अथवा स्त्याने स्वप्ने गृद्ध्यते दीप्यते यदुदयात् आर्त्तं रौद्रं बहु च कर्मकरणं सा स्त्यानगृद्धिः। इति स्त्यानगृद्धिदर्शनावरणम् १। यदुदयात् निद्राया उपरि उपरि प्रवृत्तिस्तन्निद्रानिद्रादर्शनावरणम् २। यदुदयात् आत्मा पुनः पुनः प्रचलयति तत्प्रचलाप्रचला दर्शनावरणम्। शोकश्रममदादिप्रभवा उपविष्टस्य पुंस नेत्रगात्रविक्रियासूचिका [प्रचला] सैव पुनः पुनरावर्तमाना प्रचलाप्रचलेत्यर्थः ३। यदुदयात् मदखेदक्लमविनाशार्थं शयनं तन्निद्रादर्शनावरणम् ४। यदुदयात् या क्रिया आत्मानं प्रचलयति तत्प्रचलादर्शनवारणमिति[2] ५ ॥४८॥

पुनः स्त्यानगृद्ध्यादिलक्षणं गाथात्रयेणाऽऽह—

थीणुदएणुट्ठविदे सोवदि कम्मं करेदि [2]जंपदि वा।
णिद्दाणिद्दुदएण य ण दिट्ठिमुग्घाडिदुं सक्को[3] ॥४९॥

स्त्यानगृद्धिदर्शनावरणोदयेन उत्थापितेऽपि स्वपिति निद्रायां कर्म करोति जल्पति च १। निद्रानिद्रा—[दर्शना] वरणोदयेन[3] बहुधा सावधानीक्रियमाणोऽपि दृष्टिमुद्घाटयितुं न शक्नोति २ ॥४९॥

उक्त चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवलदर्शनके आवरण करनेवाले कर्मको दर्शनावरण कहते हैं। इस कर्मके नौ भेद हैं जिनमें-से चार भेदोंका स्वरूप कह दिया। अब पाँच निद्राओंका स्वरूप आगे कहते हैं ॥४७॥

दर्शनावरण कर्मके भेद—

चक्षुदर्शनावरण आदि चार भेदोंके साथ स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला तथा निद्रा और प्रचला इन पाँच निद्राओंके मिला देनेपर दर्शनावरण कर्मके नौ भेद हो जाते हैं ॥४८॥

स्त्यानगृद्धि और निद्रानिद्राका स्वरूप—

स्त्यानगृद्धिकर्मके उदयसे जीव उठाये जानेपर भी सोता ही रहता है, सोते हुए ही नींदमें अनेक कार्य करता है और बोलता भी रहता है पर संज्ञाहीन रहता है। निद्रानिंद्रा कर्मके उदयसे जगाये जानेपर भी आँखें नहीं उघाड़ सकता है ॥४९॥

---

१. ज ब तत्तो। २. ज ब अप्पदि। ३ गो० क० २३।

1. ब नास्त्ययं पाठः। 2. एष सन्दर्भः सर्वार्थसिद्धि ८ सू० ७ व्याख्यया प्रायः समानः। 3. ब निद्रानिद्रोदयेन।

पयलापयलुदएण य वहेदि लाला चलंति अंगाइं ।
णिद्दुदए गच्छंतो ठाइ पुणो वइसदि पडेदि[1] ॥५०॥

प्रचलाप्रचलोदयेन मुखात् लाला वहति, अङ्गानि चलन्ति ३ । निद्रोदयेन गच्छन् तिष्ठति, स्थितः पुनरुपविशति पतति च ४ ॥५०॥

पयलुदएण य जीवो ईसुम्मीलिय सुवेदि सुत्तो वि ।
ईसं ईसं जाणदि मुहुं मुहुं सोवदे मंदं[2] ॥५१॥

प्रचलोदयेन जीवः ईषदुन्मील्य स्वपिति सुप्तोऽपि ईषदीषज्जानाति, मुहुर्मुहुः मन्दं स्वपिति ५ ॥

द्विविधं वेदनीयं द्विविधं मोहनीयं चाह—

दुविहं खु वेयणीयं सादमसादं च वेयणीयमिदि ।
पुण दुवियप्पं मोहं दंसण-चारित्तमोहमिदि ॥५२॥

खु स्फुटं वेदनीयं द्विविधम्—सातवेदनीयं असातवेदनीयं चेति । तत्र यद् रतिमोहनीयोदयबलेन जीवस्य सुखकारणेन्द्रियविषयानुभवनं कारयति तत् सातवेदनीयम् १ । यद् दुःखकारणेन्द्रियविषयानुभवनं कारयति अरतिमोहनीयोदयबलेन तदसातवेदनीयम् २ । पुनः मोहनीयं द्विविकल्पं द्विप्रकारम्—दर्शन-मोहनीयं चारित्रमोहनीयं चेति । तत्र दर्शनमोहनीयं त्रिधा—मिथ्यात्व १ सम्यग्मिथ्यात्व २ सम्यक्त्वप्रकृति-३ भेदात् । चारित्रमोहनीयं पञ्चविंशतिविधम्—कषायनोकषायभेदात् ॥५२॥

प्रचलाप्रचला और निद्राका स्वरूप—

प्रचलाप्रचला कर्मके उदयसे मुखसे लार बहती है और अंग-उपांग चलते रहते हैं। निद्राकर्मके उदयसे जीव गमन करता हुआ भी खड़ा हो जाता है, बैठ जाता है, गिर पड़ता है इत्यादि नाना क्रियाएँ करता है ॥५०॥

प्रचलाका स्वरूप—

प्रचला कर्मके उदयसे यह जीव कुछ-कुछ आँखोंको उघाड़कर सोता है और सोता हुआ भी थोड़ा-थोड़ा जानता है और जागते हुए बार-बार मन्द-मन्द नींद लेता रहता है ॥५१॥

अब ग्रन्थकार आधी गाथाके द्वारा वेदनीयकर्मके भेदोंका प्रतिपादन करते हैं—

वेदनीय कर्मके दो भेद हैं, १-सातावेदनीय २-असातावेदनीय।

अब मोहनीय कर्मके भेदोंका निरूपण करते हैं—

मोहनीय कर्म दो प्रकारका है १-दर्शन मोहनीय २-चारित्र मोहनीय। जो आत्माके सम्यग्दर्शन गुणका घात करे उसे दर्शन मोहनीय कहते हैं और सम्यक् चारित्र गुणका घात करनेवाले कर्मको चारित्र मोहनीय कहते हैं ॥५२॥

---

१. गो० क० २४। २. गो० क० २५।

तत्र त्रिप्रकारं दर्शनमोहनीयं दर्शयन्नाह—

बंधादेगं मिच्छं उदयं सत्तं पडुच्च तिविहं खु।
दंसणमोहं मिच्छं मिस्सं सम्मत्तमिदि जाणे ॥५३॥

बन्धात् बन्धापेक्षया दर्शनमोहनीयं मिथ्यात्वरूपमेकं भवति। तदेव दर्शनमोहनीयं उदयं सत्त्वं च प्रतीत्य आश्रित्य त्रिविधं खु स्फुटं भवति—मिथ्यात्वं १ मिश्रं २ सम्यक्त्वं ३ चेति त्रिप्रकारं उदयसत्त्वापेक्षया जानीहि। तद्यथा—यस्योदयात्सर्वज्ञप्रणीतमार्गपराङ्मुखो जीवादितत्त्वार्थश्रद्धाननिरुत्सुको हिताहितविचारासमर्थो मिथ्यादृष्टिर्भवति तन्मिथ्यात्वम्। तदेव मिथ्यात्वं प्रक्षालनविशेषात् क्षीणाक्षीणमदशक्तिकोद्रववत् समीषत् शुद्धरसं स्वशक्तियुतं तदुभयं मिश्रं च कथ्यते सम्यग्मिथ्यात्वमिति यावत्। यस्योदयादात्मनोऽर्धशुद्धमदनकोद्रवौदनोपयोगापादितमिश्रपरिणामः तदुभयात्मको भवति। तदेव मिथ्यात्वं सम्यक्त्वं भवति यदा शुभपरिणामनिरुद्धस्वरसं औदासीन्येनावस्थितमात्मनः श्रद्धानं न निरुणद्धि, तद्वेदयमानः सन् पुरुषः सम्यग्दृष्टिरभिधीयते[1], सा सम्यक्त्वप्रकृतिः ॥५३॥

दर्शनमोहनीय कर्मके भेद—

दर्शनमोहनीय कर्म बन्धकी अपेक्षा एक मिथ्यात्व रूप ही है किन्तु उदय और सत्त्वकी अपेक्षा तीन प्रकारका जानना चाहिए—१ मिथ्यात्व २ मिश्र (सम्यग्मिथ्यात्व) और ३ सम्यक्त्वप्रकृति ॥५३॥

विशेषार्थ—जिस कर्मके उदयसे जीव सर्वज्ञ-प्रणीत मार्गसे प्रतिकूल उन्मार्गपर चलता है, सन्मार्गसे पराङ्मुख रहता है, जीव-अजीवादिक तत्त्वोंके ऊपर श्रद्धान नहीं करता है और अपने हित-अहितके विचार करनेमें असमर्थ रहता है उसे मिथ्यात्वकर्म कहते हैं। जिस कर्मके उदयसे जीवको तत्त्वके साथ अतत्त्वकी, सन्मार्गके साथ उन्मार्गकी और हितके साथ अहितकी मिश्रित श्रद्धा होती है, उसे सम्यग्मिथ्यात्व कहते हैं। जिस कर्मके उदयसे सम्यग्दर्शन तो बना रहे, किन्तु उसमें चल-मलिन आदि दोष उत्पन्न हों, उसे सम्यक्त्वप्रकृति कहते हैं। यहाँ इतना विशेष ज्ञातव्य है कि सम्यक्त्वप्रकृतिका उदय चौथे गुणस्थानसे लेकर सातवें गुणस्थान तक होता है। और यदि कोई जीव लगातार ६६ सागर तक मनुष्य और देव-योनियोंमें आता-जाता रहे तो तबतक उसके सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय बना रह सकता है। सम्यग्मिथ्यात्वका उदय यतः केवल तीसरे गुणस्थानमें ही होता है, अतः उसका उदय एक अन्तर्मुहूर्त्तसे अधिक नहीं रहता। मिथ्यात्वकर्मका उदय पहले ही गुणस्थानमें होता है अतः उसका उदय अभव्य जीवोंकी अपेक्षा अनादिकालसे चला आ रहा है और अनन्तकाल तक चला जायेगा। जो भव्य अनादि मिथ्यादृष्टि हैं, उनके मिथ्यात्वका उदय यद्यपि अनादिकालसे आ रहा है, तथापि यतः एक-न-एक दिन उसका नियमसे अन्त होगा, अतः वह अनादिसान्त कहलाता है। किन्तु जो सादि मिथ्यादृष्टि भव्य हैं, अर्थात् एकादि बार जिनके सम्यक्त्व उत्पन्न हो चुका है, उसका मिथ्यात्व सादि-सान्त कहलाता है और इसलिए उसके उसका उदय कमसे-कम एक अन्तर्मुहूर्त और अधिकसे-अधिक कुछ कम अर्धपुद्गल परिवर्तन काल तक बना रह सकता है। अनादिकालसे सभी जीवोंके दर्शनमोहनीयकी केवल एक मिथ्यात्व प्रकृति ही बन्ध, उदय और सत्तामें रहती है। किन्तु प्रथम बार सम्यक्त्वकी

१ न जाणि।

1. सन्दर्भोऽयं सर्वार्थसिद्धि ८ सू० ९ व्याख्यया शब्दशः समानः।

तस्य दर्शनमोहनीयस्य त्रिप्रकारस्य दृष्टान्तमाह[1]—

जंतेण कोद्दवं वा पढमुवसमसम्मभावजंतेण ।
[1]मिच्छादव्वं तु तिधा[2] असंखगुणहीणदव्वकमा[3] ॥५४॥

यन्त्रेण घरट्टेण कोद्रवो दलितो यथा तुष-तन्दुल-कणिकारूपेण त्रिधा भवति, तथा प्रथमोपशम-सम्यक्त्वभावयन्त्रेण मिथ्यात्वद्रव्यं दलितं सत् मिथ्यात्व-सम्यग्मिथ्यात्व-सम्यक्त्वप्रकृतित्वरूपेणासङ्ख्यात-गुणहीनद्रव्यक्रमेण त्रिधा भवति ॥५४॥

पुनः द्विविध-[चारित्र-] मोहनीयस्वरूपं गाथाष्टकेनाऽऽह—

दुविहं चरित्तमोहं कसायवेयणीय णोकसायमिदि ।
पढमं सोलवियप्पं विदियं णवभेयमुद्दिट्ठं ॥५५॥

चरति चर्यतेऽनेन चरणमात्रं वा चारित्रम् । तच्चारित्रं मोहयति मुह्यतेऽनेनेति वा चारित्रमोहनीयम् । तच्चारित्रमोहनीयं द्विविधम्—कषायवेदनीयं [2]नोकषायवेदनीयं चेति । तत्र प्रथमं कषायवेदनीयं षोडश-प्रकारम् १६ । द्वितीयं नोकषायवेदनीयं नवभेदं नवप्रकारं ९ जिनैरुद्दिष्टं कथितम् ॥५५॥

उत्पत्तिके कारणभूत अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण परिणामोंके निमित्तसे उस अनादिकालीन मिथ्यात्वके तीन टुकड़े हो जाते है। अतः उदय और सत्त्वकी अपेक्षा दर्शन मोहके उक्त तीन भेद जानना चाहिए। किन्तु बन्धकी अपेक्षा वह एक मिथ्यात्वरूपसे ही बँधता है।

दर्शनमोहके तीन भेद होनेका दृष्टान्तपूर्वक वर्णन—

यन्त्र (जाँता या चक्की) से दले हुए कोदोंके समान प्रथमोपशम सम्यक्त्व परिणाम-रूप यन्त्रसे मिथ्यात्वरूप कर्म द्रव्य तीन प्रकारका हो जाता है, और वह द्रव्य प्रमाणमें क्रमसे असंख्यात गुणित असंख्यात गुणित हीन होता है ॥५४॥

विशेषार्थ—जिस प्रकार कोदोंको चक्कीसे दलनेपर उसके तन्दुल (चावल), कण और भूसी ये तीनरूप हो जाते हैं, उसी प्रकार प्रथमोपशम सम्यक्त्वरूप परिणामोंके निमित्त-से अनादिकालीन एक मिथ्यात्व कर्मके तीन टुकड़े हो जाते हैं जिनके नाम क्रमशः मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति हैं। इनमें अनादिकालीन मिथ्यात्व द्रव्यके कर्म परमाणु क्रमशः असंख्यातगुणित रूपसे कम-कम होते हैं। इसीलिए पूर्व गाथामें यह कहा गया है कि दर्शनमोहनीय कर्म बन्धकी अपेक्षा एक मिथ्यात्वरूप है और उदय तथा सत्त्वकी अपेक्षा तीन भेद रूप है।

चारित्र मोहकर्मके भेद—

मोहनीय कर्मका दूसरा भेद जो चारित्र मोहनीय कर्म है वह दो प्रकारका है—कषाय वेदनीय और नोकषाय वेदनीय। उनमें प्रथम कषाय वेदनीय सोलह और द्वितीय नोकषाय वेदनीय नौ प्रकारका कहा गया है ॥५५॥

---

१. त मिच्छं दव्वं । २. ब तिहा । ३. गो० क० २६ ।

1. ब स्वरूपमाह । 2. ब ईषत्कषाया नोकषाया ।

अणमप्पच्चक्खाणं पच्चक्खाणं तहेव संजलणं ।
कोहो माणो माया लोहो सोलस कसायभेदे ॥५६॥

अनन्तानुबन्धिनः क्रोधमानमायालोभाश्चत्वार ४ । अप्रत्याख्यानावरणाः क्रोधमानमायालोभाश्चत्वार ४ । प्रत्याख्यानावरणाः क्रोधमानमायालोभाश्चत्वार ४ । तथैव संज्वलनाः क्रोधमानमायालोभाश्चत्वारः ४ । इत्येते एकत्रीकृताः षोडश कषाया भवन्ति ॥५६॥

सिल-पुढविभेद-धूली-जलराइसमाणओ हवे कोहो ।
णारयतिरियणरामरगईसु उप्पायओ कमसो[1] ॥५७॥

शिलाभेद-पृथ्वीभेद-धूलिरेखाजलरेखासमान. उत्कृष्टानुत्कृष्टाजघन्यजघन्यशक्तिविशिष्टः क्रोधकषाय । स नारकतिर्यङ्नरामरगतिषु क्रमशो यथाक्रममुत्पादको भवति जीवस्य । तद्यथा—शिलाभेदसदृशोत्कृष्टशक्तिविशिष्टानन्तानुबन्धिक्रोधकषाय. जीवं नरकगत्यामुत्पादयति १ । पृथ्वीभेदसमानानुत्कृष्टशक्तिकोऽप्रत्याख्यानावरणक्रोधकषायः तिर्यग्गतौ जीवमुत्पादयति २ । धूलिरेखातुल्याजघन्यशक्तियुक्तः प्रत्याख्यानावरणक्रोधो जीवं मनुष्यगत्यामुत्पादयति ३ । जलरेखासदृशजघन्यशक्तियुक्संज्वलनक्रोधो जीवं देवगतौ नयति ४ । तत्तच्छक्तियुक्तक्रोधकषायपरिणतजीवस्तत्तद्गत्युत्पत्तिकारणतत्तदायुर्गत्यानुपूर्व्यादिप्रकृतीः बध्नातीत्यर्थः । अत्र राजिशब्दो रेखार्थवाची । यथा शिलाभेदादीनां चिरतर-चिर-शीघ्र-शीघ्रतर कालैर्विनाऽनुसन्धानं न घटते, तथा उत्कृष्टादिशक्तियुक्तक्रोधपरिणतो जीवस्तथाविधकालैर्विना क्षमालक्षणसन्धानयोग्यो न भवेत् इत्युपमानोपमेययो सादृश्यं सम्भवतीति तात्पर्यार्थ. ॥५७॥

[2]सिल-अट्ठि-कट्ठ-वेत्ते णियभेएणणुहरंतओ माणो ।
णारयतिरियणरामरगईसु उप्पायओ कमसो[3] ॥५८॥

शैलास्थिकाष्ठवेत्रसमानरवोत्कृष्टादिशक्तिभेदैरनुहरन्[1] उपमीयमान मानकषायः क्रमशो नारकतिर्यङ्-

---

कषाय वेदनीयके भेद—

कषाय वेदनीयके सोलह भेद इस प्रकार हैं—अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ और संज्वलन क्रोध मान माया लोभ ॥५६॥

चारों प्रकारकी क्रोधकषायके उपमान और फल—

उनमें-से अनन्तानुबन्धी क्रोध पत्थरकी रेखाके समान, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध पृथ्वीकी रेखाके समान, प्रत्याख्यानावरणक्रोध धूलिकी रेखाके समान और संज्वलन क्रोध जलकी रेखाके समान परिणामवाला कहा गया है। ये चारों प्रकारके क्रोध क्रमशः नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगतिमें उत्पन्न करनेवाले हैं ॥५७॥

चारों प्रकारकी मानकषायके उपमान और फल—

अनन्तानुबन्धी मान पत्थरके समान, अप्रत्याख्यानावरण मान हड्डीके समान, प्रत्याख्यानावरण मान काठके समान और संज्वलन मान बेंतके समान कठोर परिणामवाला कहा गया है। ये चारों प्रकारके मान क्रमशः नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगतिमें उत्पन्न करनेवाले हैं ॥५८॥

---

१. गो० जी० २८३ । २. त ब सेलट्ठि । ३. गो० जी० २८४ ।

1. ब तुल्यो भवन् ।

नरामरगतिषु जीवमुत्पादयति । तद्यथा—शिलास्तम्भसमानोत्कृष्टशक्तियुक्तानन्तानुबन्धिमानकषायः जीवं नारकगतावुत्पादयति १ । अस्थिसमानानुत्कृष्टशक्तियुक्ताप्रत्याख्यानावरणमानकषायो जीवं तिर्यग्गत्यामुत्पादयति २ । काष्ठसमानाजघन्यशक्तिसहितप्रत्याख्यानावरणमानकषायो जीवं मनुष्यगतावुत्पादयति ३ । वेत्रसमानजघन्यशक्तियुक्तसंज्वलनमानकषायो जीवं देवगतावुत्पादयति ४ । यथा चिरतरादिकालैर्विना शैलास्थिकाष्ठवेत्राः नामयितुं न शक्यन्ते, तथा उत्कृष्टादिशक्तियुक्तमानपरिणतो जीवोऽपि तथाविधकालैर्विना मानं परिहृत्य विनयरूपनमनं कर्तुं न शक्नोतीति सादृश्यसम्भवोऽत्र ज्ञातव्यः । तत्तच्छक्तियुक्तमानकषायपरिणतो जीवस्तत्तद्गत्युत्पत्तिहेतुतत्तदायुर्गत्यानुपूर्वीनामादिकर्म बध्नातीति तात्पर्यम् ॥५८॥

वेणुवमूलोरब्भयसिंगे गोमुत्तए य खोरुप्पे ।
सरिसी माया णारयतिरियणरामरगईसु खिवदि जियं[1] ॥५६॥

वेणूपमूलोरभ्रकशृङ्गगोमूत्रक्षुरप्रसदृशोत्कृष्टादिशक्तियुक्ता माया वञ्चना यथाक्रमं नारकतिर्यङ्नरामरगतिषु जीवं निक्षिपति । तद्यथा—वेणूपमूलं वंशमूलग्रन्थि., तेन समानोत्कृष्टशक्तियुक्तानन्तानुबन्धिमायाकषायः जीवं नरकगतौ निक्षिपति १ । उरभ्रको मेष, तच्छृंगसदृशानुत्कृष्टशक्तियुक्ताप्रत्याख्यानावरणमायाकषायः जीवं तिर्यग्गतौ प्रक्षिपति २ । गोमूत्रसमानाजघन्यशक्तियुक्तप्रत्याख्यानावरणमायाकषायः आत्मानं मनुष्यगतौ निक्षिपति ३ । क्षुरप्रसमानजघन्यशक्तियुक्तसंज्वलनमायाकषायः जीवं देवगतौ निक्षिपति ४ । यथा वेणूपमूलादयश्चिरतरादिकाल विना स्वस्ववक्रतां परिहृत्य ऋजुत्वं न प्राप्नोति, तथा जीवोऽप्युत्कृष्टादिशक्तियुक्तमायाकषायपरिणतस्तथाविधकालैर्विना स्वस्ववक्रतां परिहृत्य ऋजुपरिणामो न स्यात् [इति] सादृश्यं युक्तम् । तत्तदुत्कृष्टादिशक्तियुक्तमायाकषायपरिणतजीवस्तत्तद्गतिक्षेपकारणं तत्तदायुर्गत्यानुपूर्व्यादि कर्म बध्नातीत्यर्थः ॥५९॥

किमिराय-चक्क-तणुमल-हरिद्दराएण सरिसओ लोहो ।
णारयतिरिक्खमाणुसदेवेसुप्पायओ कमसो[2] ॥६०॥

कृमिराग-चक्रमल-तनुमल-हरिद्रारागबन्धसमानोत्कृष्टादिशक्तियुक्तो लोभकषायो विषयाभिलाषरूपः क्रमशो यथासङ्ख्यं नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवगतिषु जीवमुत्पादयति । तद्यथा—कृमिरागेण कम्बलादिरञ्जनेन समानोत्कृष्टशक्तियुक्तानन्तानुबन्धिलोभकषायो जीवं नारकगतावुत्पादयति १ । चक्रमलो रथाङ्गमलस्तेन समानानुत्कृष्टशक्तियुक्ताप्रत्याख्यानावरणलोभकषायः जीवं तिर्यग्गत्यामुत्पादयति २ । तनुमलः शरीरमलः

चारों प्रकारकी मायाकषायके उपमान और फल—

अनन्तानुबन्धी माया बाँसकी जड़के समान, अप्रत्याख्यानावरण माया मेंढ़ेके सींगके समान, प्रत्याख्यानावरण माया गोमूत्रके समान और संज्वलन माया खुरपाके समान कुटिल परिणामवाली कही गयी है। ये चारों प्रकारकी माया क्रमशः जीवको नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगतिमें ले जाती हैं ॥५६॥

चारों प्रकारकी लोभ कषायके उपमान और फल—

अनन्तानुबन्धी लोभ कृमिरागके समान, अप्रत्याख्यानावरण लोभ चक्रमल (ओंगन) के समान, प्रत्याख्यानावरण लोभ शरीरके मलके समान और संज्वलन लोभ हल्दीके रंगके समान सचिक्कण परिणामवाला कहा गया है। ये चारों प्रकारके लोभ क्रमशः नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगतिके उत्पादक होते हैं ॥६०॥

---

१. गो० जी० २८५ । २. गो० जी० २८६ ।

बहिर्गतो जलमलः, तद्वत्प्रसदृशाजघन्यशक्तिसंहितप्रत्याख्यानावरणलोभकषाय. जीवं मनुष्यगतावुत्पाद-यति ३। हरिद्रारागः अङ्गवस्त्रादिरञ्जनद्रव्यरागः, तद्वत्सदृशजघन्यशक्तियुक्तसंज्वलनलोभकषायः जीवं देवगतौ उत्पादयति ४। कृमिरागादिसदृशतत्तदुत्कृष्टादिशक्तियुक्तलोभपरिणामेन जीवस्तत्संसारकादिभवस्थिति-कारणतत्तदायुर्गत्यानुपूर्व्यादिकर्म बध्नातीति भावार्थः ॥६०॥

निरुक्तिपूर्वकं कषायशब्दस्यार्थं निरूपयति—

सम्मत्त-देस-सयलचरित्त-जहखादचरणपरिणामे ।
घादंति वा कसाया चउ-सोल-असंखलोगमिदा ॥६१॥

वा अथवा सम्यक्त्वं तत्त्वार्थश्रद्धानं देशचारित्रं अणुव्रतं सकलचारित्रं महाव्रतं यथाख्यातचरणं यथाख्यातचारित्रं एवंविधात्मविशुद्धिपरिणामान् कषन्ति हिंसन्ति घ्नन्तीति कषायाः इति निर्वचनीयम्। तद्यथा—अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभकषायः आत्मनः सम्यक्त्वपरिणामं कषन्ति हिंसन्ति घ्नन्ति; अनन्तसंसारकारणत्वात् मिथ्यात्वमनन्तं अनन्तभवसंस्काररकालं वाऽनुबध्नन्ति सुघटयन्ति इत्यनन्तानु-बन्धिनः इति निरुक्तिसामर्थ्यात् अनन्तानुबन्धिकषायाः। अप्रत्याख्यानावरणाः क्रोधमानमायालोभकषायाः जीवस्याणुव्रतपरिणाम कषन्ति। अप्रत्याख्यानमीषत्प्रत्याख्यानमणुव्रतमावृण्वन्ति घ्नन्तीति निरुक्तिसिद्धत्वात् अप्रत्याख्यानावरणकषायाः। प्रत्याख्यानावरणाः क्रोधमानमायालोभकषाया आत्मन सकलचारित्रं महाव्रत-परिणामं कषन्ति। प्रत्याख्यानं सकलसंयमं महाव्रतमावृण्वन्ति घ्नन्तीति निरुक्तिसिद्धत्वात् प्रत्याख्यान-कषायाः। संज्वलनाः क्रोधादिकषायाः आत्मनो यथाख्यातचारित्रपरिणामं कषन्ति, सं समीचीन विशुद्धं संयमं यथाख्यातचारित्रनामधेयं ज्वलन्ति दहन्तीति संज्वलना इति निरुक्तिबलेन। तदुदये सत्यपि सामायिकादिसंयमाविरोधः सिद्धः। एवंविधकषायः सामान्येन एकः १। विशेषविवक्षायां तु अनन्तानु-बन्ध्यप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरणसंज्वलनभेदाच्चत्वारः ४। पुनस्ते अनन्तानुबन्ध्यादयश्चत्वारोऽपि प्रत्येकं क्रोधमानमायालोभा इति षोडश १६। तद्यथा—अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभाः, अप्रत्या-ख्यानावरणक्रोधमानमायालोभाः, प्रत्याख्यानावरणक्रोधमानमायालोभाः, संज्वलनक्रोधमानमायालोभा इति १६। पुनः सर्वेऽप्युदयस्थानविशेषापेक्षया असंख्यातलोकप्रमिता भवन्ति। कुतः? तत्कारणचारित्र-मोहनीयोत्तरोत्तरप्रकृतिविकल्पानामसंख्यातलोकमात्रत्वात् ॥६१॥

अनन्तानुबन्धी आदि चारों प्रकारकी कषायोंके कार्य—

जो सम्यक्त्व, देशचारित्र, सकलचारित्र, और यथाख्यात चारित्ररूप परिणामोंको कसे या घात करे उसे कषाय कहते हैं। इसके अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यानावरण आदिकी अपेक्षा चार भेद हैं। इन्हीं चारोंके क्रोध, मान, माया और लोभकी अपेक्षा सोलह भेद हैं और कषायके उदयस्थानोंकी अपेक्षा असंख्यात लोकप्रमाण भेद कहे गये हैं। अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यक्त्वकी घातक, अप्रत्याख्यानावरण कषाय देश चारित्र (श्रावकव्रत) की घातक, प्रत्याख्यानावरणकषाय सकलचारित्र (मुनिव्रत) की घातक और संज्वलनकषाय यथाख्यात चारित्रकी घातक है ॥६१॥

---

१. गो० जी० २८२।

नोकषायवेदनीयनवविधमाह—

हस्स रदि अरदि सोयं भयं जुगुंछा य इत्थि-पुंवेयं ।
संढं वेयं च तहा णव एदे णोकसाया य ॥६२॥

हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्साश्च स्त्री-पुंवेदौ तथा षण्ढवेदश्च इत्येते नव नोकषाया भवन्ति । तन्निरुक्तिमाह—ईषत्कषाया नोकषायास्तान् वेदयन्ति वेद्यन्ते एभिरिति नोकषायवेदनीयानि नवधा । यस्योदयाद् हास्याविर्भावस्तद्धास्यम् १ । यदुदयाद्देशादिषु औत्सुक्यं सा रतिः २ । तद्विपरीता अरतिः ३ । यद्विपाकात् शोचनं स शोकः ४ । यदुदयादुद्वेगस्तद् भयम् ५ । यदुदयादात्मीयदोषस्य संवरणं परदोषस्य धारणं सा जुगुप्सा ६ । यदुदयात् स्त्रैणान् भावान् प्रतिपद्यते स स्त्रीवेदः ७ । यस्योदयात् पौंस्नान् भावान् आस्कन्दति प्राप्नोति स पुंवेदः ८ । यदुदयान्नपुंसकान् भावान् उपव्रजति गच्छति स नपुंसकवेदः ९ ॥६२॥

अथ वेदत्रयं विशेषतः गाथात्रयेणाऽऽह—

छादयदि सयं दोसे णयदो[1] छाददि परं पि दोसेण ।
छादणसीला जम्हा तम्हा सा वण्णिदा इत्थी[2] ॥६३॥ .

यस्मात्कारणात् स्वयमात्मानं दोषैः मिथ्यादर्शनाज्ञानासंयमक्रोधमानमायालोभैः छादयति संवृणोति नयतः[1] मृदुभाषितस्निग्धविलोकनानुकूलवर्तनादिकुशलव्यापारैः परमपि अन्यपुरुषमपि स्ववशं कृत्वा दोषेण हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहादिपातकेन छादयति आवृणोति तस्मात्कारणाच्छादनशीला द्रव्य-भावाभ्यां सा अङ्गना स्त्रीति वर्णिता परमागमे प्रतिपादिता । स्तृणाति स्वयमन्यं च दोषैराच्छादयतीति निरुक्तेः स्त्री सामान्यतः स्त्रीणां लक्षणमुक्तम् ॥६३॥

पुरुगुणभोगे सेदे करेदि लोयम्हि पुरुगुणं कम्मं ।
पुरु उत्तमो य जम्हा तम्हा सो वण्णिदो पुरिसो[3] ॥६४॥

यस्मात् कारणाल्लोके यो जीवः पुरुगुणे [2]सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राद्यधिकगुणसमूहे शेते स्वामित्वेन प्रवर्तते, पुरुभोगे नरेन्द्र-नागेन्द्र-देवेन्द्राद्यधिकभोगसमूहे भोक्तृत्वेन प्रवर्तते, पुरुगुणं कर्म धर्मार्थकाममोक्ष-

---

अब नोकषाय वेदनीयके नौ भेदोंका प्रतिपादन करते हैं—

हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसक वेद ये नौ नोकषाय हैं। इनका स्वरूप इनके नामोंके अनुसार जानना चाहिए ॥६२॥

स्त्रीवेदका स्वरूप—

यतः जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान, असंयम आदि दोषोंसे अपनेको आच्छादित करती है और मृदु-भाषण, तिरछी-चितवन आदि व्यापारोंसे दूसरे पुरुषोंको भी हिंसा, कुशीलादि दोषोंसे आच्छादित करती है, अतः उसे आच्छादन स्वभाव युक्त होनेसे स्त्री कहा गया है ॥६३॥

पुरुषवेदका स्वरूप—

यतः जो उत्कृष्ट गुण अथवा उत्कृष्ट भोगोंका स्वामी है, अथवा जो लोकमें उत्कृष्ट गुण-युक्त कर्मको करता है, अथवा जो स्वयं उत्तम है अतः उसे पुरुष कहा गया है ॥६४॥

---

१. आ ज ब णियदो । निजतः इति पाठः । २. पञ्चसं० १, १०५ । गो० जी० २७३ । ३. पञ्चसं० १, १०६ । गो० जी० २७२ ।

1 ब न्यायात् नीतेः । 2. ब सम्यग्ज्ञानाद्यधिकगुणसमूहे ।

लक्षणं पुरुषार्थसाधनरूपादिदिव्यानुष्ठानं शेते करोति च, पुरुषोत्तमे[1] परमे पदे सति तिष्ठति पुरुषोत्तमः सन् तिष्ठतीत्यर्थः । तस्मात् कारणात् स द्रव्यभावद्वयसम्पन्नो जीवः पुरुष इति वर्णितः ॥६४॥

णेवित्थी णेव पुमं णउंसवो उहयलिंगवदिरित्तो ।
इट्ठावग्गिसमाणयवेयणगरुओ कलुसचित्तो ॥६५॥

यो जीवो नैव पुमान् पूर्वोक्तपुरुषलक्षणाभावात् पुरुषो न भवति । नैव स्त्री, उक्तस्त्रीलक्षणाभावात् स्त्री अपि न भवति, ततः कारणादुभयलिङ्गव्यतिरिक्तः श्मश्रुमेहनस्तनभागादिपुंस्त्रीद्रव्यलिङ्गरहितः नपुंसकः । यतः स्त्रियमात्मानं मन्यमानः पुरुषे वेदयति रन्तुमिच्छति स स्त्रीवेदः, य वेः (?) पुमांसमात्मान·······
··नपुंसकवेदः इष्टिकापाकाग्निसमानतीव्रकामवेदनागुरुकः कलुषचित्तः सर्वदा तद्वेदनया कलङ्कितहृदयः स जीवो नपुंसकः नपुंसकवेद इति परमागमे वर्णितः कथितः । स्त्री-पुरुषाभिलाषरूपतीव्रकामवेदनालक्षणभावनपुंसकवेदो-स्तीत्यर्थः । त्रिवेदानां लक्षणं तथा चोक्तम्—

श्रोणिमार्दव-भीरुत्व-मुग्धत्व-क्लीबता-स्तनाः ।
पुंस्कामेन समं सप्त लिङ्गानि स्त्रैणसूचने ॥६॥

खरत्व-मेहन-स्ताब्ध्य-शौण्डीर्य-श्मश्रु-धृष्टता ।
स्त्रीकामेन समं सप्त लिङ्गानि नरवेदने ॥७॥

यानि स्त्री-पुरुषलिङ्गानि पूर्वोक्तानि चतुर्दश ।
सूक्तानि तानि मिश्राणि षण्ढभावनिवेदने[2] ॥८॥ ॥६५॥

अथ गाथापूर्वार्धे आयुश्चतुष्कं गाथाया उत्तरार्धं प्रारभ्य नामकर्मप्रकृतीश्चाह—

णारयतिरियणरामर आउगमिदि चउव्विहो हवे आऊ ।
णामं वादालीसं पिंडापिंडप्पभेएण ॥६६॥

नारकतिर्यङ्नरामरायुष्यमिति आयुश्चतुर्विधं भवेत् । नारकादिभवधारणाय एत्यायुः । तत्र नरकादिषु भवसम्बन्धेनाऽऽयुषो व्यपदेशः क्रियते । या नरकेषु भवं नारकमायुः १ । तिर्यग्योनिषु भवं तैर्यग्योनमायुः २ । मनुष्ययोनिषु भवं मानुष्यमायुः ३ । देवेषु भवं दैवमायुः ४ इति । नरकेषु तीव्रशीतोष्णात्रिवेदनेषु दीर्घजीवनं नारकायुः । इत्येवं शेषेष्वपि । पिण्डापिण्डप्रभेदेन नामकर्म द्विचत्वारिंशद्विधं ४२ भवति ॥६६॥

नपुंसक वेदका स्वरूप—

जो न स्त्रीरूप है और न पुरुषरूप है ऐसे दोनों ही लिंगोंसे रहित जीवको नपुंसक कहते हैं । इसकी विषय-सेवनकी लालसा भट्टेमें पकती हुई ईंटोंकी अग्निके समान तीव्र कही गयी है अतएव यह निरन्तर कलुषित चित्त रहता है ॥६५॥

अब ग्रन्थकार आधी गाथाके द्वारा आयुकर्मका निरूपण करते हैं—

नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देवायुष्कके भेदसे आयुकर्म चार प्रकारका होता है अर्थात् आयुकर्मके चार भेद हैं—नारकायु, तिर्यगायु, मनुष्यायु और देवायु ।

अब नामकर्मके भेद-प्रभेदोंका वर्णन करते हैं—

पिण्ड प्रकृति और अपिण्ड प्रकृतियोंके भेदसे नामकर्म बयालीस प्रकारका है ॥६६॥

---

१. पञ्चसं० १, १०७ । गो० जी० २७४ ।

1 ब पुरुत्तमे परमेष्ठिपदे । 2. सं० पञ्चसं० १, १९६-१९८ ।

णेरइय-तिरिय-माणुस-देवगइ त्ति य हवे गई चदुधा ।
इगि-वि-ति-चउ-पंचक्खा जाई पंचप्पयारेदे ॥६७॥

नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवगतिरिति गतिश्चतुर्धा[1] चतुःप्रकारा भवेत् । तत्र यदुदयाज्जीवः भवान्तरं गच्छति सा गतिः । सा चतुर्धा । यन्निमित्तमात्मनो नारकपर्यायस्तन्नारकगतिनाम १ । यन्निमित्तमात्मनस्तिर्यग्भवस्तत्तिर्यग्गतिनाम २ । यन्निमित्तं जीवस्य मनुष्यपर्यायस्तन्मनुष्यगतिनाम ३ । यदुदयाज्जीवस्य देवपर्यायस्तद्देवगतिनाम ४।१।[2] एक-द्वि-त्रि-चतुः-पञ्चाक्षभेदाज्जातिः पञ्चप्रकारेति । यदुदयादात्मा एकेन्द्रिय इति शब्द्यते तदेकेन्द्रियजातिनाम १ । यस्योदयात् प्राणी द्वीन्द्रिय इत्युच्यते तद्द्वीन्द्रियजातिनाम २ । यदुदयाज्जन्तुस्त्रीन्द्रिय इति भण्यते तत्त्रीन्द्रियजातिनाम ३ । यस्योदयाज्जीवश्चतुरिन्द्रिय इति वर्ण्यते तच्चतुरिन्द्रियजातिनाम ४ । यदुदयादात्मा पञ्चेन्द्रिय इति निगद्यते तत्पञ्चेन्द्रियजातिनाम ५।२।९ ॥६७॥

ओरालिय-वेगुव्विय-आहारय-तेज-कम्मणसरीरं ।
इदि पंचसरीरा खलु ताण वियप्पं वियाणाहि ॥६८॥

औदारिकशरीर १ वैक्रियिकशरीराऽऽ २ हारकशरीर ३ तैजसशरीर ४ कार्मणशरीरभेदात् ५ इति शरीराणि पञ्च खलु स्फुटं भवन्ति । तेषां शरीराणां विकल्पान् दशप्रकारान् वक्ष्यमाणगाथायां जानीहि । तद्यथा—यदुदयादात्मनः औदारिकशरीरनिर्वृत्तिस्तदौदारिकशरीरनाम १ । यदुदयाद् वैक्रियिकशरीरनिष्पत्तिस्तद्वैक्रियिकशरीरनाम २ । यस्योदयादाहारकशरीरनिर्वृत्तिस्तदाहारकशरीरनाम ३ । यदुदयात्तैजसशरीरनिर्वृत्तिस्तत्तैजसशरीरनाम ४ । यदुदयाज्जीवस्य कार्मणशरीरनिष्पत्तिस्तत्कार्मणशरीरनाम ५।३।१४[3] ॥६८॥

गति और जाति नामकर्मके भेद—

उनमें-से गति नामकर्म चार प्रकारका है—नरकगति, तिर्यग्गति, मनुष्यगति और देवगति । जाति नामकर्म पाँच प्रकारका है—एकेन्द्रियजाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति और पंचेन्द्रियजाति ॥६७॥

विशेषार्थ—जिस कर्मके उदयसे यह जीव एक पर्यायसे दूसरी पर्यायको जाता है उसे गति नामकर्म कहते हैं । जिस कर्मके उदयसे जीव एकेन्द्रिय आदि जातियोंमें उत्पन्न हो उसे जाति नामकर्म कहते हे ।

शरीर नामकर्मके भेद—

शरीर नामकर्मके पाँच भेद जानना चाहिए—औदारिक शरीर, वैक्रियिक शरीर, आहारक शरीर, तैजस शरीर और कार्मण शरीर ॥६८॥

विशेषार्थ—स्थूल शरीरको औदारिक शरीर कहते हैं, यह मनुष्य और तिर्यंचोंके होता है । अणिमा, महिमा आदिकी शक्तिसे युक्त शरीरको वैक्रियिक शरीर कहते हैं यह देव और नारकियोंके होता है । उत्कृष्ट संयमवाले तपस्वी साधुओंके चित्तमें सूक्ष्म तत्त्वसम्बन्धी सन्देहके उत्पन्न होनेपर और उसके निवासवाले क्षेत्रमें केवली-श्रुतकेवलीका अभाव होनेपर सन्देहके निवारणार्थ उनके पादमूलमें जानेके लिए जो मस्तकसे एक हाथका पुतला निकलता है उसे आहारक शरीर कहते हैं । शरीरके भीतर भुक्त अन्नादिके जीर्ण करनेवाले तेजको तैजस शरीर कहते हैं । सर्वकर्मोंके उत्पन्न करनेवाले एवं उनके आधारभूत शरीरको कार्मण-शरीर कहते हैं ।

---

1. ब चतुर्धा । 2 ब पिण्डरूपेण १, व्यक्तित्वेन ४ । 3. ब एतासु १४ वक्ष्यमाणा १० युताः २४ प्रकृतयः ३ ।

एषां पञ्चशरीराणां भङ्गानाह—

तेजाकम्मेहिं तिए तेजाकम्मेण कम्मणा कम्मं ।
कयसंजोगे चदुचदुचदुदुगएक्कं च पयडीओ[1] ॥६९॥

तिये इति औदारिकवैक्रियिकाहारकत्रयेण तैजस-कार्मणाभ्यां संयोगे कृते चतस्रश्चतस्रश्चतस्रः प्रकृतयः । तद्यथा—औदारिकौदारिक १ औदारिकतैजस २ औदारिककार्मण ३ औदारिकतैजसकार्मणाः ४ । वैक्रियिक-वैक्रियिक १ वैक्रियिकतैजस २ वैक्रियिककार्मण ३ वैक्रियिकतैजसकार्मणाः ४ । आहारकाहारक १ आहारक तैजस २ आहारककार्मण ३ आहारकतैजसकार्मणाः ४ । पुनस्तैजसं कार्मणेन संयोगे कृते तैजसतैजस १ तैजसकार्मण २ इति द्वे प्रकृती २ । पुनः कार्मणं कार्मणेन संयोगे तदा कार्मणकार्मण १ इत्येका प्रकृतिः । एवमेकत्रीकृताः पञ्चदश १५ भवन्ति । एतासु औदारिकौदारिकादयः कार्मणकार्मणान्ता सदृशद्विसंयोगाः पञ्च[1] पुनरुक्ता इति त्यक्त्वा शेषदशसु त्रिनवत्यां निक्षिप्तासु त्र्युत्तरं शतं १०३ नामकर्मोत्तरप्रकृतयो भवन्ति ॥६९॥

ओरालिय वेउव्विय आहारय तेजणामकम्मुदए ।
चउ णोकम्मसरीरा कम्मेव य होइ कम्मइयं[2] ॥२॥

पंच य सरीरबंधणणामं ओराल तह य वेउव्वं ।
आहार तेज कम्मण सरीरबंधण सुणाममिदि ॥७०॥

शरीरबन्धननाम पञ्चप्रकारं भवति । बन्धनशब्दः प्रत्येकं सम्बध्यते—औदारिकशरीरबन्धनं नाम १। तथा च वैक्रियिकशरीरबन्धनं नाम २ आहारकशरीरबन्धनं नाम ३ तैजसशरीरबन्धन नाम ४ कार्मण-शरीरबन्धनं नाम ५ । किमिदं नाम बन्धनत्वमिति चेदौदारिकादिशरीरनामकर्मोदयवशादुपात्तानामाहार-वर्गणायातपुद्गलस्कन्धानामन्योन्यप्रदेशसंश्लेषणं यतो भवति तद्बन्धननाम ५।१२।२९। ॥७०॥

अब इन पाँचों शरीरोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले भेदोंका निरूपण करते हैं—

तैजस और कार्मण शरीरके साथ औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीरका आपसमें संयोग करनेपर चार-चार भेद होते हैं, इस प्रकार तीनोंके मिलकर बारह भेद हो जाते हैं। तथा कार्मण शरीरके साथ तैजस शरीरके मिलानेसे दो भेद और कार्मण शरीरके साथ कार्मण शरीरको मिलानेसे एक भेद और होता है, इस प्रकार सब मिलाकर पन्द्रह भेद हो जाते है ॥६९॥

विशेषार्थ—शरीर नामकर्मके वे पन्द्रह भेद इस प्रकार हैं—१ औदारिक औदारिक, २ औदारिक तैजस ३ औदारिक कार्मण ४ औदारिक तैजस कार्मण ५ वैक्रियिक वैक्रियिक ६ वैक्रियिक तैजस ७ वैक्रियिक कार्मण ८ वैक्रियिक तैजसकार्मण ९ आहारक आहारक १० आहारक तैजस ११ आहारक कार्मण १२ आहारक तैजस कार्मण १३ तैजस तैजस १४ तैजस कार्मण १५ कार्मण कार्मण

बन्धन नामकर्मके भेद—

बन्धन नामकर्मके पाँच भेद हैं, १ औदारिक शरीर-बन्धन २ वैक्रियिक शरीर-बन्धन ३ आहारक शरीर-बन्धन ४ तैजस शरीर-बन्धन और ५ कार्मणशरीर-बन्धन ॥७०॥

१ गो० क० २७।

1. ब औदारिकौदारिक १ वैक्रियिकवैक्रियिक २ आहारकाहारक ३ तैजसतैजस ४ कार्मणकार्मण ५ इति सदृशद्विसंयोगा पञ्च प्रकृतीः परिहृत्य उद्धरितं दशसु त्रिनवत्यां निक्षिप्तासु सतीषु । 2. ब गाथेयं नास्ति ।

पंच संघादणामं ओरालिय तह य जाण वेउव्वं ।
आहार तेज कम्मण सरीरसंघादणाममिदि ॥७१॥

शरीरसंघातनाम पञ्चविधम्—औदारिकशरीरसंघातनाम १ तथा वैक्रियिकशरीरसंघातनाम २ आहारशरीरसंघातनाम ३ तैजसशरीरसंघातनाम ४ कार्मणशरीरसंघातनामेति ५ जानीहि ।५।२४।३४। किमिदं नाम संघात इति चेत् यदुदयादौदारिकादिशरीराणां विवरविरहितानां परस्परप्रदेशानुप्रवेशेन एकत्वापादनं भवति तत्संघातनाम ॥७१॥

समचउरस णिग्गोहं सादी कुज्जं च वामणं हुंडं ।
संठाणं छब्भेयं इदि णिद्दिट्ठं जिणागमे जाण ॥७२॥

संस्थानं षड्भेदं परमागमे निर्दिष्टं जानीहि । समचतुरस्रशरीरसंस्थाननाम १ न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थाननाम २ स्वातिसंस्थाननाम ३ कुब्जकसंस्थाननाम ४ वामनसंस्थाननाम ५ हुण्डकसंस्थाननाम ६।३० ४०। किमिदं नाम संस्थानम्? यदुदयादौदारिकादिशरीराकारो[1] भवति तत्संस्थानमिति। [तत्रोर्ध्वाधोमध्येषु समप्रविभागेन शरीरावयवसन्निवेशव्यवस्थापनं कुशलशिल्पिनिर्वर्तितसमस्थितिचक्रवदवस्थानकरं] तत्समचतुरस्रसंस्थानम् १। यत उपरि विस्तीर्णो अधः सङ्कुचितशरीराकारो भवति तन्न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थाननाम २। यतोऽधोविस्तीर्ण उपरि संकुचितशरीराकारो भवति तत्स्वातिसंस्थाननाम। स्वातिवाल्मीकं तत्सादृश्यात् ३। यतो ह्रस्वसर्वशरीराकारो भवति तत्कुब्जकसंस्थाननाम ४। यतो दीर्घहस्तपादा ह्रस्वकबन्धश्चैवं शरीराकारो भवति तद् वामनसंस्थानम् ५। यतः पाषाणैः पूर्णगोणीवद् ग्रन्थ्यादिविषमशरीराकारो भवति, तत् हुण्डकसंस्थाननाम ६ ॥७२॥

विशेषार्थ—शरीर नामकर्मके उदयसे जीवने जो आहार वर्गणारूप पुद्गलके स्कन्ध ग्रहण किये हैं उनका जिस कर्मके उदयसे आपसमें सम्बन्ध होता है उसे बन्धन नामकर्म कहते हैं।

संघात नामकर्मके भेद—

संघात नामकर्म पाँच प्रकारका है—१ औदारिक शरीर-संघात २ वैक्रियिक शरीर-संघात ३ आहारक शरीर-संघात ४ तैजस शरीर-संघात और ५ कार्मण शरीर-संघात ॥७१॥

विशेषार्थ—जिस कर्मके उदयसे औदारिक आदि शरीरके परमाणु आपसमें मिलकर छिद्ररहित बन्धनको प्राप्त होकर एकरूप हो जाते है उसे संघात नामकर्म कहते हैं।

संस्थान नामकर्मके भेद—

संस्थान नामकर्मके छह भेद जिनागममें कहे गये हैं जो इस प्रकार जानना चाहिए—१ समचतुरस्रसंस्थान २ न्यग्रोधसंस्थान ३ स्वातिसंस्थान ४ कुब्जक संस्थान ५ वामनसंस्थान और ६ हुण्डकसंस्थान ॥७२॥

विशेषार्थ—जिस कर्मके उदयसे शरीरका आकार ऊपर नीचे तथा बीचमें समान हो अर्थात् शरीरके अंगोपांगोंकी लम्बाई-चौड़ाई आदि सामुद्रिकशास्त्रानुसार यथास्थान ठीक-ठीक बने उसे समचतुरस्रसंस्थान कहते हैं। जिस कर्मके उदयसे शरीरका आकार न्यग्रोध (वट) वृक्षके समान नाभिके ऊपर मोटा और नाभिके नीचे पतला हो उसे न्यग्रोध परिमण्डलसंस्थान कहते हैं। जिस कर्मके उदयसे शरीरका आकार साँपकी बाँमीके सदृश ऊपर पतला

---

1. ब शरीराकृतिनिष्पत्तिः।

ओरालिय वेगुव्विय आहारय अंगुवंगमिदि भणिदं ।
अंगोवंगं तिविहं परमागमकुसलसाहूहिं ॥७३॥

औदारिकशरीराङ्गोपाङ्गनाम १ वैक्रियिकशरीराङ्गोपाङ्गनाम २ आहारकशरीराङ्गोपाङ्गनाम ३ इति शरीराङ्गोपाङ्गं त्रिविधं परमागमकुशलसाधुभिर्गणधरदेवैर्भणितम् ।७।३।३।४३। यदुदयादङ्गोपाङ्गं प्रकटीभवति तदङ्गोपाङ्गनाम । औदारिकशरीरस्य चरणद्वय-बाहुद्वय-नितम्ब-पृष्ठ-वक्षः-शीर्षभेदादष्टाङ्गानि, अङ्गुलीकर्णनासिकाद्युपाङ्गानि करोति यत्तदौदारिकशरीराङ्गोपाङ्गनाम । एवं वैक्रियिकाऽऽहारकशरीरयोरपि यदङ्गोपाङ्गकारकं तद्वैक्रियिकाहारकशरीराङ्गोपाङ्गनामद्वयम् ॥७३॥

अङ्गोपाङ्गानि दर्शनार्थं गाथामाह—

णलया बाहू य तहा णियंब पुट्ठी उरो य सीसो य ।
अट्ठेव दु अंगाइं देहे सेसा उवंगाइं[1] ॥७४॥

नलकौ पादौ २ तथा बाहू हस्तौ २ एको नितम्बः १ एका पृष्टिः १ उरोभागः १ शीर्षं १ चेत्यष्टौ अङ्गानि, शेषाणि अङ्गुलीकर्णनासिकादीनि उपाङ्गानि देहे शरीरे भवन्ति ॥७४॥

दुविहं विहायणामं पसत्थ-अपसत्थगमणमिदि णियमा ।
वज्जरिसहणारायं वज्जंणाराय णारायं ॥७५॥

विहायोगतिनाम द्विविधं द्विप्रकारं नियमात् निश्चयतः भवति । प्रशस्तविहायोगतिनाम अप्रशस्त-

---

और नीचे मोटा हो उसे स्वातिसंस्थान कहते है। जिस कर्मके उदयसे शरीर कुबड़ा हो उसे कुब्जकसंस्थान कहते हैं। जिस कर्मके उदयसे शरीर बौना हो उसे वामनसंस्थान कहते है। जिस कर्मके उदयसे शरीरके अंगोपांग यथायोग्य न होकर हीनाधिक परिमाणको लिये हुए भयानक आकारवाले हों उसे हुण्डकसंस्थान कहते है।

आंगोपांग नामकर्मके भेद—

परमागममें कुशल साधुओंने आंगोपांग नामकर्मके तीन भेद कहे हैं—१ औदारिक शरीर आंगोपांग २ वैक्रियिक शरीर आंगोपांग ३ आहारक शरीर आंगोपांग ॥७३॥

भावार्थ—आंगोपांग नामकर्मके उदयसे शरीरके अंग और उपांगोंकी रचना होती है।

शरीरके आठ अंग—

शरीरमें ये आठ अंग होते है—दो पैर, दो हाथ, नितम्ब (कमरके पीछेका भाग), पीठ, हृदय और मस्तक। नाक, कान आदि उपांग कहलाते हैं ॥७४॥

अब आधी गाथाके द्वारा ग्रन्थकार विहायोगति नामकर्मके भेद बतलाते हैं—

विहायोगति नामकर्मके नियमसे दो भेद है—

१ प्रशस्तविहायोगति २ अप्रशस्तविहायोगति।

विशेषार्थ—जिस कर्मके उदयसे जीवकी चाल हाथी, बैल आदिके समान उत्तम हो उसे प्रशस्तविहायोगति नामकर्म कहते हैं। जिस कर्मके उदयसे जीवकी चाल ऊँट, गधे आदिके समान बुरी हो उसे अप्रशस्तविहायोगति नामकर्म कहते हैं।

अब संहनन नामकर्मके भेद कहते हैं—

अनादि निधन आर्षमें संहनन नामकर्म छह प्रकारका कहा गया है। १ वज्रवृषभ-

---

१. गो० क० २८।

विहायोगतिनाम चेति । यत्कर्म विहायसि आकाशे अवकाशस्थाने गमनं करोति सा विहायोगतिः । गजवृषभ-हंसादिवत् प्रशस्तं मनोज्ञं गमनं करोति सा प्रशस्तविहायोगतिनाम १ । खरोष्ट्रमार्जारादिवदप्रशस्तममनोज्ञं गमनं करोति साऽप्रशस्तविहायोगतिनाम २।८।४६।

अपरार्धंगाथां वक्ष्यमाणगाथाग्रे भणिष्यामः—

तह अद्धं णारायं कीलिय संपत्तपुव्व सेवट्टं ।
इति संहडणं छव्विहमणाइणिहणारिसे भणिदं ।।७६।।

पूर्वोक्तगाथापरार्धे वज्जरिसहेत्यादि 'वज्जरिसहणारायं वज्जणारायं णारायं' इति; वज्रवृषभनाराच-शरीरसंहननम १ वज्रनाराचशरीरसंहननम २ नाराचशरीरसंहननम ३ अर्धनाराचशरीरसंहननम ४ कीलितशरीरसंहननम ५ असम्प्राप्तासृपाटिकाशरीरसंहननम ६ इति संहननं षड्विधं अनादि-निधनेन ऋषिणा[1] भणितं आद्यन्तरहितेन ऋद्धिप्राप्तेन वृषभदेवेन कथितम् ।६।४२।५२ तेषां षट्संहननानां विचारमाह—यस्योदयादस्थिबन्धनविशेषो भवति तत्संहननम । संहननमस्थिसंचयः, ऋषभो वेष्टनम् । वज्रवदभेद्यत्वाद् वज्रऋषभः । वज्रवन्नाराचो वज्रनाराच. । तौ द्वौ वज्रनाराचौ अपि यस्मिन् वज्रशरीरं संहनने [तद्] वज्रऋषभनाराचशरीरसंहननं नाम १ । एष एव वज्रास्थिबन्धो वज्रऋषभवर्जितः सामान्यवृषभवेष्टितो यस्योदयेन भवति तद् वज्रनाराचशरीरसंहननम २ । यस्य कर्मण उदयेन वज्रवृषभविशेषणेन रहिता नाराच-कीलिता अस्थिसन्धयो भवन्ति तन्नाराचशरीरसंहननम ३ । यस्य कर्मण ओदयेनास्थिसन्धयो नाराचेनार्धं कीलिता भवन्ति तदर्धनाराचशरीरसंहननम ४ । यस्योदयाद्वज्रास्थीनि कीलितानि भवन्ति तत्कीलित-शरीरसंहननम ५ । यस्योदयेनान्योन्यासम्प्राप्तानि सरीसृपसंहननवच्छिराबन्द्धानि अस्थीनि भवन्ति तदसम्प्राप्तासृपाटिकाशरीरसंहननम ६[2] ॥७६॥

प्रत्येकसंहननस्वरूपकथनार्थं गाथाषट्कं प्राह—

जस्स कम्मस्स[1] उदए वज्जमयं अट्ठि रिसह णारायं ।
तं संहडणं भणियं वज्जरिसहणारायणाममिदि[2] ।।७७।।

यस्य कर्मण उदये सति वज्रमयं वज्रवदभेद्यं अस्थिवृषभनाराचं तत्संहननं वज्रवृषभनाराचनामेति भणितम् ॥७७॥

जस्सुदए वज्जमयं अट्ठी णारायमेव सामण्णं ।
रिसहो तस्संहडणं णामेण य वज्जणारायं ।।७८।।

नाराचसंहनन २ वज्रनाराचसंहनन ३ नाराचसंहनन ४ अर्धनाराचसंहनन ५ कीलकसंहनन और असम्प्राप्तासृपाटिकासंहनन ।।७५-७६।।

वज्रवृषभनाराच संहननका स्वरूप—

जिस कर्मके उदयसे वज्रमय हड्डी ऋषभ (वेष्टन) और नाराच (कील) हों उसे वज्रवृषभनाराचसंहनन कहते हैं ।।७७।।

वज्रनाराचसंहननका स्वरूप—

जिस कर्मके उदयसे वज्रमय हड्डी और कीलें हों किन्तु वेष्टन सामान्य हो, अर्थात् वज्रमय न हो उसे वज्रनाराचसंहनन कहते हैं ।।७८।।

---

१. त कम्मस्स जस्स । २. त णामेण य वज्जरिसहणारायं ।

1. विभिन्नोऽयमर्थः । 2. टीकाप्रतिमें इस स्थलपर संहननोंके चित्र दिये गये हैं, उन्हें परिशिष्टमें देखिए ।

यस्य कर्मण उदयेन वज्रमयं अस्थि नाराचमेव द्वय भवति सामान्यवृषभः। कोऽर्थः ? वज्रवद्-दृढतररहितऋषभः सामान्यवेष्टनमित्यर्थः। तत्संहनन नाम्ना च वज्रनाराचं भणितम् ॥७८॥

जस्सुदए वज्जमया हड्डा वो[1] वज्जरहिदणारायं।
रिसहो तं भणियव्वं णारायसरीरसंहडणं ॥७९॥

यस्य कर्मण उदयेन वज्रमयानि हड्डानि। वा पादपूरणे, उ अहो। नाराचो वज्ररहितः, पुनः वृषभ वज्ररहितः तन्नाराचसंहननं भणितव्यम् ॥७९॥

वज्जविसेसणरहिदा अट्ठीओ अद्धविद्धणारायं।
जस्सुदए तं भणियं णामेण य अद्धणारायं ॥८०॥

यस्य कर्मण उदयेन वज्रविशेषणरहिताः अस्थिसन्धयः नाराचेन अर्धविद्धाः। कोऽर्थ ? नाराचेनार्धं कीलिता इत्यर्थः। तन्नाम्ना अर्धनाराचसंहननं भणितम् ॥८०॥

जस्स[2] कम्मस्स उदए अवज्जहड्डाइं खीलियाइं व।
दिढबंधाणि हवंति हु तं कीलियणामसंहडणं ॥८१॥

यस्य कर्मण उदयेन अवज्रास्थीनि कीलितानीव दृढबन्धनानि भवन्ति, हु स्फुटं तत्कीलिकानाम संहननं भवति ॥८१॥

जस्स कम्मस्स उदए अण्णोण्णमसंपत्तहड्डसंधीओ।
णरसिर-बंधाणि हवे तं खु असंपत्तसेवट्टं ॥८२॥

यस्य कर्मण उदयेन अन्योन्यासम्प्राप्तास्थिसन्धयः सरीसृपवत् नरशिराबद्धाः खु स्फुटं तदसम्प्राप्ता-सृपाटिकं भवेत ॥८२॥

नाराचसंहननका स्वरूप—

जिस कर्मके उदयसे हड्डियाँ तो वज्रमय हों किन्तु वेष्ठन और कीलें वज्रमय न हों उसे नाराचशरीरसंहनन कहना चाहिए ॥७९॥

अर्धनाराचसंहननका स्वरूप—

जिस कर्मके उदयसे हड्डियाँ वज्रविशेषणसे रहित हों और शरीरके अर्धभागमें कीलें लगी हों उसे अर्धनाराचसंहनन कहते है ॥८०॥

कीलकसंहननका स्वरूप—

जिस कर्मके उदयसे हड्डियाँ और कीलें वज्रमय न हों किन्तु हड्डियोंमें कीलें दृढ़ बन्धन-वाली लगी हों उसे कीलकसंहनन कहते हैं ॥८१॥

सृपाटिकसंहननका स्वरूप—

जिस कर्मके उदयसे हड्डियोंकी सन्धियाँ परस्परमें भिन्न हों और नसोंसे बँधी हुई हों उसे असम्प्राप्तासृपाटिकासंहनन कहते हैं ॥८२॥

---

१. आ ओ। २. त कम्मस्स जस्स।

तेषां [संहननानां] कार्यमाह—

सेवट्टेण य गम्मइ आदीदो चदुसु कप्पजुगलो त्ति।
तत्तो दुजुगलजुगले कीलियणारायणद्धोत्ति[1] ॥८३॥

सृपाटिकासंहननेन सौधर्मद्वयाल्लान्तवद्वयपर्यन्तं चतुर्षु युगलेषु समुत्पद्यते। तत उपरि युग्मद्वये क्रमेण कीलिकार्धनाराचसंहननाभ्यामुत्पद्यते। तद्यथा—असंप्राप्तासृपाटिकासंहननेन षष्ठेन जीवेन सौधर्मस्वर्गमारभ्य कापिष्ठस्वर्गपर्यन्तं ८ गम्यते। कीलिकासंहननेन पञ्चमेन जीवेन सहस्रारस्वर्गपर्यन्तं १२ गम्यते। चतुर्थेन अर्धनाराचसंहननेन अच्युतस्वर्गपर्यन्तं १६ गम्यते ॥८३॥

[2]गेविज्जाणुदिसाणुत्तरवासीसु जंति ते[3] णियमा।
तिदुगेगे संहडणे णारायणमादिगे कमसो[4] ॥८४॥

नाराचादिना संहननेन त्रयेण वज्रनाराचद्वयेन वज्रवृषभनाराचैकेन चोपलक्षिताः ते जीवाः क्रमशः अनुक्रमेण नवग्रैवेयक-नवानुदिशपञ्चानुत्तरविमानेषु मोक्षे चोत्पद्यन्ते ॥८४॥

सण्णी छस्संहडणो वच्चइ मेघं तदो परं चावि।
सेवट्टादीरहिदो पण-पण-चदुरेगसंहडणो[5] ॥८५॥

संज्ञी जीवः षट्संहननः मेघां व्रजति, तृतीयपृथ्वीपर्यन्तमुत्पद्यत इत्यर्थः। ततः परं चापि सृपाटिकारहितः कीलितान्तः पञ्चसंहनन अरिष्टान्तपञ्चपृथिवीषु उत्पद्यते। अर्धनाराचान्तचतुःसंहननः मघव्यन्तषट्पृथ्वीषु समुत्पद्यते। वज्रवृषभनाराचसंहननो माघव्यन्तसप्तपृथ्वीषु उत्पद्यते ॥८५॥

अब उक्त संहननवाले जीव स्वर्गमें कहाँतक उत्पन्न हो सकते हैं यह बतलाते हैं—

सृपाटिका संहननवाले जीव यदि स्वर्गोंमें उत्पन्न हों तो आदि स्वर्ग-युगल (सौधर्म-ऐशान) से लगाकर चौथे कल्पयुगल (लान्तव-कापिष्ठ) तक चार युगलोंमें अर्थात् आठवें स्वर्ग-तक उत्पन्न हो सकते हैं। पुनः दो-दो युगलोंमें कीलक और अर्धनाराच संहननवाले जीव जन्म धारण करते हैं अर्थात् पाँचवे छठे स्वर्ग युगलमें कीलक संहननवाले और सातवें तथा आठवें स्वर्गयुगलमें अर्धनाराचसंहननवाले जन्म ले सकते हैं ॥८३॥

नाराच आदि तीन संहननवाले वज्रनाराच आदि दो संहननवाले तथा वज्रवृषभनाराचसंहनन वाले जीव क्रमशः नौ ग्रैवेयकोंमें नौ अनुदिशोंमें और अनुत्तर विमानवासी देवोंमें उत्पन्न हो सकते हैं, अर्थात् आदिके तीन संहननवाले नौ ग्रैवेयकों तक, आदिके दो संहननवाले नौ अनुदिशों तक और प्रथम संहननवाले जीव पंच अनुत्तर विमानोंतक जन्म ले सकते हैं ॥८४॥

अब किस संहननवाले जीव किस नरक तक उत्पन्न हो सकते हैं, यह बतलाते हैं—

छहों संहननवाले संज्ञी जीव यदि नरकमें जन्म लेवें तो मेघा नामक तीसरे नरकतक जा सकते हैं। सृपाटिकासंहनन-रहित पाँच संहनन वाले अरिष्टा नामक पाँचवें नरकतक उत्पन्न हो सकते हैं। आदिके चार संहननवाले जीव पाँचवें मघवी नामक नरकतक और वज्रवृषभनाराचसंहननवाले सातवें माघवी नामक नरक तक उत्पन्न हो सकते हैं ॥८५॥

---

१. गो० क० २९। २. त णवगेवेज्जाणुद्दिसपंचाणुत्तरविमाण ते जांति। ३. अ मे। ४. गो० क० ३०। ५. गो० क० ३१।

घम्मा वंसा मेघा अंजण रिट्ठा तहेव अणिवज्झा ।
छट्ठी मघवी पुढवी सत्तमिया माघवी णाम ॥८६॥

घर्मा वंशा मेघा अञ्जना अरिष्टा तथैव [1]अनिवोध्या यादृच्छिकनामानः षष्ठी मघवी पृथ्वी सप्तमिका माघवी नाम, इति सप्त नारकनामानि ॥८६॥

अथ गुणस्थानके संहननं कथयति—

मिच्छापुव्वदुगादिसु सगचदुपणठाणगेसु णियमेण ।
पढमादियाइ छत्तिगि ओघादेसे विसेसदो णेया[1] ॥८७॥

मिथ्यादृष्ट्यादिसप्तगुणस्थानेषु षट् संहननानि भवन्ति ६ । द्वि-अपूर्वकरणादिषु चतुरुपशमकस्थानेषु[2] प्रथमत्रिक ३ भवति । पञ्चक्षपकस्थानेषु[3] प्रथमसंहननम् १ । इति गुणस्थानेषु सामान्यनिर्देशलक्षणौघेन । विशेषतश्च [आदेशे] ज्ञेयानि ॥८७॥

वियलचउक्के छट्ठं पढमं तु असंखआउजीवेसु ।
चउत्थे पंचम छट्ठे कमसो विय छत्तिगेकसंहडणी ॥८८॥

द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रियासंज्ञिजीवेषु षष्ठमसंप्राप्तासृपाटिकासंहननं भवति । तु पुनः प्रथमं संहननं वज्र-वृषभनाराचं नागेन्द्रपर्वतात् स्वयंप्रभद्वितीयाभिधानादर्वाक् मानुषोत्तरपर्वतात्तु अर्वाक् असंख्यातजीविषु कुभोगभूमि भोगभूमिमनुष्यतिर्यक्षु वज्रवृषभनाराचसंहननं प्रथममेव भवति । तथा [अवसर्पिण्या] कर्मभूमौ चतुर्थकाले पञ्चमकाले षष्ठकाले च क्रमेण षट् ६ त्रीणि अन्त्यानि ३ एकं १ च सृपाटिकाषट्संहननानि भवन्ति ॥८८॥

अब सातों नरकोंकी पृथिवियोंके नाम बतलाते हैं—

पहली घर्मा, दूसरी वंशा, तीसरी मेघा, चौथी अंजना, पाँचवीं अरिष्टा, छठी मघवी और सातवीं पृथ्वीका नाम माघवी है। ये सभी नाम अनादि-निधन एवं अनवद्य हैं ॥८६॥

अब गुणस्थानोंमें संहननोंका निरूपण करते हैं—

ओघकी अपेक्षा मिथ्यात्व आदि सात गुणस्थानोंमें छहों संहननवाले जीव, अपूर्व आदि उपशम श्रेणीके चार गुणस्थानोंमें आदिके तीन संहननवाले जीव और अपूर्वकरण आदि क्षपक श्रेणीके पाँच गुणस्थानोंमें प्रथम संहननवाले जीव पाये जाते हैं। आदेश अर्थात् मार्गणा-स्थानोंमें विशेष रूपसे (आगमानुसार) जानना चाहिए ॥८७॥

जीवसमासोंमें संहननका निरूपण—

विकलचतुष्क अर्थात् द्वीन्द्रियसे लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक चार जातिके जीवोंमें छठा असम्प्राप्तासृपाटिकासंहनन होता है। असंख्यात वर्षकी आयुवाले भोगभूमियाँ जीवोंमें पहला वज्रऋषभनाराचसंहनन होता है। अवसर्पिणीके चौथे कालमें छहों संहननवाले, पंचमकालमें अन्तिम तीन संहननवाले और छठे कालमें अन्तिम एक सृपाटिका संहननवाले जीव होते हैं ॥८८॥

---

१ ब ओघेण । २. ब णेयो ।

1. ब अनिबोध्या यादृच्छिकनामान आचार्याभिप्रायेण नामानः । 2. ब अपूर्वकरणानिवृत्तिकरण-सूक्ष्मसाम्परायोपशान्तकषायेषु उपशमश्रेणिसम्बन्धिषु वज्रवृषभादित्रयम् । 3. अपूर्वकरणानिवृत्तिकरण-सूक्ष्मसाम्परायक्षीणकषायसयोगिकेवलिषु प्रथमसंहननम् ।

सव्वविदेहेसु तहा विजाहर-मिलिच्छमणुय-तिरिएसु ।
छस्संहडणा भणिया णगिंदपरदो य तिरिएसु ॥८९॥

भरतैरावतास्थिरकालभावादुक्तम् । सर्वविदेहेषु विद्याधरश्रेणि-म्लेच्छखण्डमनुष्य-तिर्यक्षु मानुषोत्तरपर्वतवत् स्वयंप्रभद्वीपमध्यं मर्यादीकृत्य नागेन्द्रनामा पर्वतोऽस्ति । तस्मात् नागेन्द्रपर्वतात्परतः स्वयंभूरमणसमुद्रपर्यन्तं तिर्यक्षु च वज्रवृषभनाराचाद्यानि सृपाटिकापर्यन्तानि षट् संहननानि भवन्ति ॥८९॥

अंतिमतिगसंहडणस्सुदओ पुण कम्मभूमिमहिलाणं ।
आदिमतियसंहडणं णत्थि त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं[2] ॥९०॥

कर्मभूमिद्रव्यस्त्रीणां अन्तिमत्रिकसंहननानामुदयो भवति । अर्धनाराच ४ कीलिका ५ सृपाटिका ६ संहननत्रिकं कर्मभूमिद्रव्यस्त्रीणां भवतीत्यर्थं । पुनस्तासां आदिमत्रिकसंहननोदयो नास्तीति जिनैर्निर्दिष्टम् । वज्रवृषभनाराच १ वज्रनाराच २ नाराच ३ संहननत्रिकं कर्मभूद्रव्यस्त्रीणां न भवतीत्यर्थः । तत्रार्धनाराचसंहननेन तासां षष्ठनरके[1] उत्पादः, अच्युतस्वर्गपर्यन्ते च तासामुत्पादो भवति । न तु नवग्रैवेयकादिषु मोक्षे चोत्पादः । संहननानामधिकारं प्राप्यान्यग्रन्थोक्तसंहननादि[2] विशेषमाह—

सण्णी छस्संहडणो उववादिगवज्जिया हु आयंति ।
उड्ढाधतिरियलोए दव्वादिसु जोगमासेज ॥१०॥

संज्ञिनो जीवा औपपादिकदेवनारकवर्जिताः षट्संहनना भवन्ति—वज्रवृषभनाराचं १ वज्रनाराचं २ [नाराचं ३] अर्धनाराचं अर्धमस्थि भित्त्वा स्थितमर्धनाराचम् ४ कीलिकाऽस्थिरहिता मांसमध्ये स्थिता ५ असृक्पाटिका अंबिलिका[3] बहिस्त्वगावृतं संहननम् ६ इति षट् संहननाः सन्तः द्रव्यादियोगमाश्रित्य ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्लोकं पूरयन्ते ।

लद्धियपजत्ताणं चरिमं सव्वाण होदि हु तसाणं ।
परिहारसंजमम्मि हु पढमतियं जिणवरुद्दिट्ठं ॥११॥

लब्धिविषयेऽपर्याप्ता येषां पर्याप्तिलब्धिर्न भविष्यतीत्यर्थः । तेषां लब्ध्यपर्याप्तानां सर्वत्रसानां च असृपाटिकाभिधानं चरमसंहननं भवति । परिहारविशुद्धिसंयतेषु प्रथमसंहननत्रिकं ३ जिनोक्तम् ।

अथ च संहननरहिताः के भवन्तीत्याह—

अणाहारऽलेसकम्मे वेउव्वाहारऽजोग एयक्खे ।
संघडणाणमभावो आदेसपरूवणे जाण ॥१२॥

अनाहारकेषु संहननानामभावः । के अनाहारका इति चेदाह—

विग्गहगइमावण्णा समुग्घया हु केवली अयोगी य ।
एदे हु अणाहारा सेसा आहारया जीवा[4] ॥१३॥

अलेश्येषु सिद्धेषु कार्मण-वैक्रियिकाऽऽहारकशरीरेषु अयोगिकेवलिषु एकाक्षेषु च संहननाभावः आदेशप्ररूपणे गुणजीवेत्यादिविंशतिप्ररूपणायां जानीहि ।

सम्पूर्ण विदेह क्षेत्रोंमें तथा विद्याधर म्लेच्छ मनुष्योंमें और तिर्यंचोंमें छहों संहननवाले जीव कहे गये हैं। नागेन्द्र पर्वतसे परवर्ती तिर्यंचोंमें भी छहों संहनन कहे गये हैं ॥८९॥

कर्मभूमिज स्त्रियोंके संहननका वर्णन—

कर्मभूमिकी महिलाओंके अन्तिम तीन संहननोंका उदय होता है, उनके आदिके तीन संहनन नहीं होते ऐसा जिनेन्द्र देवोंने कहा है ॥९०॥

---

१. त सव्वविदेहे विज्जाहरे मिलिच्छे य मणुसतिरिएसु । २. गो० क० ३२ ।

1. ब षष्ठभूमौ । 2. ब संहननविशेष० । 3. ब चोर्मिणी । 4. गो० जी० ६६५ ।

पंच य वण्णा सेदं पीदं हरिदरुणकिण्णवण्णमिदि ।
गंधं दुविहं लोए सुगंध-दुग्गंधमिदि जाणे ॥९१॥

श्वेत-पीत-हरितारुण-कृष्णवर्णा इति पञ्च वर्णाः भवन्ति, यद्धेतुको वर्णविकारस्तद्वर्णनाम ।❀ वा स्वशरीराणां श्वेतादिवर्णान् यत्करोति तद्वर्णनाम❀ । १०।४।५७ लोके गन्धनाम द्विविधम्—सुगन्धनाम १ दुर्गन्धनामेति २ जानीहि । यदुदयात्प्रभवो गन्धस्तद्गन्धनाम । ❀वा स्व-स्वशरीराणां स्व-स्वगन्धं करोति यत्तद्गन्धनाम❀ ११।४९।५९ ॥९१॥

तित्तं कडुय कसायं अंबिल महुरमिदि पंच रसणामं ।
मउगं कक्कस गुरु लघु सीदुण्हं णिद्ध रुक्खमिदि ॥९२॥

यत्कर्मितो रसविकल्पस्तद्रसनाम ।❀ वा स्वशरीराणां स्वस्वरसं करोति यत्तद्रसनाम ।❀ तत्पञ्च-विधम्—तिक्तनाम १ कटुकनाम २ कषायनाम ३ आम्लनाम ४ मधुरनाम ५ ।❀ लवणो नाम रसो लौकिकः षष्ठोऽस्ति, स, मधुररसभेद एवेति परमागमे पृथक् नोक्तः । लवणं विना इतररसानां स्वादुत्वा-भावात्❀। १२।५४।६४ । यस्योदयात्स्पर्शप्रादुर्भाव [तत्स्पर्शनाम]। ❀वा स्वशरीराणां स्व-स्वस्पर्शं करोतिः❀ । तत्स्पर्शनामाष्टविकल्पम्—मृदुनाम १ कर्कशनाम२ लघुनाम ३ गुरुनाम ४ शीतनाम ५ उष्णनाम ६ स्निग्धनाम ७ रूक्षनाम ८ चेति स्पर्शनामाष्टविकल्पमिति पदमप्रगाथास्थम् । १३।६२।७२। ॥९२॥

फासं अट्ठवियप्पं चत्तारि आणुपुव्वि अणुकमसो ।
णिरयाणू तिरियाणू णराणु देवाणुपुव्वि त्ति ॥९३॥

पूर्वशरीराकाराविनाशो यस्योदयाद् भवति तदानुपूर्व्यं नाम । चत्वारि आनुपूर्व्याणि अनुक्रमेण नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यनाम १ तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्व्यनाम २ मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यनाम ३ देव-गतिप्रायोग्यानुपूर्व्यनाम ४ चेति । १४।६६।७६ ॥९३॥

अब नामकर्मके शेष भेदोंका प्रतिपादन करते हैं—

जिस कर्मके उदयसे शरीरमें श्वेत आदि वर्ण उत्पन्न हों, उसे वर्ण नामकर्म कहते हैं। वर्णनामकर्मके पाँच भेद हैं—श्वेत, पीत, हरित, अरुण (लाल) और कृष्णवर्ण नामकर्म। जिस कर्मके उदयसे शरीरमें गन्ध उत्पन्न होती है उसे गन्धनामकर्म कहते हैं। गन्ध नामकर्म लोकमें सुगन्ध और दुर्गन्ध ये दो प्रकारका जानना चाहिए ॥९१॥

जिस कर्मके उदयसे शरीरमें मधुर आदि रस उत्पन्न होते हैं उसे रसनामकर्म कहते हैं। रसनामकर्म पाँच प्रकारका है—तिक्त (चरपरा), कटु, कषाय (कसैला), आम्ल (खट्टा) और मधुर (मीठा) रसनामकर्म। जिस कर्मके उदयसे शरीरमें कोमल कठोर आदि स्पर्श उत्पन्न होते हैं, उसे स्पर्श नामकर्म कहते हैं। स्पर्श नामकर्मके आठ भेद हैं—मृदु (कोमल), कर्कश (कठोर), गुरु (भारी), लघु (हलका), शीत (ठण्डा), उष्ण (गर्म), स्निग्ध (चिकना) और रूक्ष (रूखा) ॥९२॥

जिस कर्मके उदयसे विग्रहगतिमें पूर्व शरीरका आकार बना रहता है, उसे आनुपूर्वी नामकर्म कहते हैं। आनुपूर्वी नामकर्मके अनुक्रमसे ये चार भेद जानना चाहिए—नरक-गत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, मनुष्यगत्यानुपूर्वी और देवगत्यानुपूर्वी ॥९३॥

❀ ब प्रतौ चिह्नान्तर्गतपाठो न विद्यते ।

एदा चउदस[1] पिंडा पयडीओ[2] वण्णिदा समासेण।
एत्तो[3] अपिंडपयडी अडवीसं वण्णइस्सामि ॥६४॥

एताश्चतुर्दश पिण्डप्रकृतयः १४ समासेन वर्णिताः। अतः परं अपिण्डप्रकृतिरष्टाविंशतिः २८ ताः वयं वर्णयिष्यामः ॥६४॥

अगुरुलहुग उवघादं परघादं च जाण उस्सासं।
आदावं उज्जोवं छप्पयडी अगुरुछक्कमिदि ॥६५॥

अगुरुलघुक १ उपघातः २ परघात ३ उच्छ्वासः ४ आतपः ५ उद्योत ६ इति षट् प्रकृतय। एतासां आगमे 'अगुरुषट्कसंज्ञा' [इति हे शिष्य त्वं] जानीहि।२०।७२।८२। यस्योदयात् अयःपिण्डवत् गुरुत्वान्न च पतति, न चार्कतूलवत् लघुत्वादूर्ध्वं गच्छति तदगुरुलघुनाम १। उपेत्य घात इत्युपघातः, आत्मघात इत्यर्थः। यस्योदयादात्मघातावयवा महाशृङ्ग-लम्बस्तन-तुन्दोदरादयो भवन्ति, तदुपघातनाम २। परेषां घातः परघातः। यदुदयात्तीक्ष्णशृङ्ग-नखविषसर्पदाढादयो भवन्ति अवयवास्तत्परघातनाम ३। यद्धेतुरुच्छ्वासस्तदुच्छ्वासनाम ४। यदुदयात् निर्वृत्तमातपनं तदातपनाम ५। तदादित्यबिम्बोत्पन्नबादर-पर्याप्तपृथ्वीकायिकजीवेष्वेव वर्तते। यस्योदयात् उद्योतन तदुद्योतनाम। तच्चन्द्रे खद्योतादिषु च वर्तते ॥६५॥

इस प्रकार उपर्युक्त चौदह पिण्डप्रकृतियोंका संक्षेपसे वर्णन किया। अब इससे आगे अट्ठाईस अपिण्ड प्रकृतियोंका वर्णन करेंगे ॥६४॥

अगुरुलघुषट्कका स्वरूप—

अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, आतप और उद्योत। इन छह प्रकृतियोंको अगुरुषटक जानना चाहिए ॥६५॥

विशेषार्थ—जिस कर्मके उदयसे जीवका शरीर लोहेके पिण्डसमान न तो भारी हो जो नीचे गिर जाय और न अर्क-तूल (आकड़ेकी रुई) के समान इतना हलका हो कि आकाशमें उड़ जाय, ऐसे अगुरुलघु अर्थात् गुरुता-लघुतासे रहित शरीरकी प्राप्ति जिस कर्मके उदयसे होती है उसे अगुरुलघु नामकर्म कहते हैं। जिस कर्मके उदयसे अपना ही घात करनेवाले शरीरके अवयव हों, उसे उपघातनामकर्म कहते हैं। जैसे बारह सिंगेके सींग होना, पेटकी तोंद निकलना, भारी लम्बे स्तन होना आदि उपघातकर्मके उदयसे ही उत्पन्न होते हैं। जिस कर्मके उदयसे दूसरेके घात करनेवाले अवयव होते हैं, उसे परघातनामकर्म कहते हैं। जैसे शेर-चीते आदिकी विकराल दाढ़ें होना, पंजेके तीक्ष्ण नख होना, साँपकी दाढ़ और बिच्छूकी पूँछमें विष होना आदि। जिस कर्मके उदयसे जीव श्वास और उच्छ्वास लेता है उसे उच्छ्वासनामकर्म कहते हैं। जिस कर्मके उदयसे जीवका शरीर स्वयं उष्णता-रहित किन्तु प्रभा उष्णता-सहित प्रकाशमान होती है, उसे आतपनामकर्म कहते हैं। इस कर्मका उदय सूर्यमण्डलके पृथ्वीकायिक जीवोंके होता है। जिस कर्मके उदयसे स्वयं शीतल रहते हुए भी शरीरकी प्रभा भी शीतल एवं प्रकाशमान होती है, वह उद्योतनामकर्म है। उद्योत नामकर्मका उदय चन्द्रबिम्बके पृथ्वीकायिक जीवोंमें, जुगुनुओंमें एवं अन्य भी तिर्यंचोंमें पाया जाता है। इन छह प्रकृतियोंको आगममें 'अगुरुषट्क' संज्ञा है, अर्थात् जहाँपर अगुरुषट्कका उल्लेख आवे वहाँपर उपर्युक्त छह प्रकृतियोंको लेना चाहिए।

---

१. ब चोद्दस। २. पिंडप्पयडीओ। ३. आ इत्तो, ब एत्तोऽपिंडप्पयडी।

तदातपोद्योतस्थानगाथामाह—

मूलुण्हपहा अग्गी आदावो होदि उण्हसहियपहा ।
आइच्चे तेरिच्छे उण्हूणपहा हु उज्जोवो[1] ॥९६॥

मूले उष्णप्रभः अग्निः, उष्णसहितप्रभ आतपः । स चादित्यबिम्बोत्पन्नबादरपर्याप्तपृथ्वीकायतिरश्चि भवति । उष्णरहितप्रभः शीतलप्रभ उद्योतः । स चन्द्रखद्योतादिषु भवति ॥९६॥

तस थावरं च बादर सुहुमं पज्जत्त तह अपज्जत्तं ।
पत्तेयसरीरं पुण साहारणसरीर थिरमथिरं ॥९७॥

सुह असुह सुहग दुब्भग सुस्सर दुस्सर तहेव णायव्वा ।
आदिज्जमणादिज्जं[2] जस अजसकित्ति णिमिण तित्थयरं ॥९८॥

त्रसप्रकृतिनाम १ स्थावरप्रकृतिनाम २ बादरप्रकृतिनाम ३। सूक्ष्मप्रकृतिनाम ४ पर्याप्तप्रकृतिनाम ५ तथा अपर्याप्तप्रकृतिनाम ६ प्रत्येकशरीरनाम ७ पुनः साधारणशरीरप्रकृतिनाम ८ स्थिरप्रकृतिनाम ९ अस्थिरप्रकृतिः १० शुभनाम ११ अशुभनाम १२ सुभगनाम १३ दुर्भगनाम १४सुस्वरनाम १५ दुःस्वरनाम १६ तथैव आदेयनाम १७ अनादेयनाम १८ यशःकीर्तिनाम १९ अयशःकीर्तिनाम २० निर्माणनाम २१ तीर्थकरनाम २२ इति ज्ञातव्याः ॥९७-९८॥

तस बादर पज्जत्तं पत्तेयसरीर थिर सुहं सुभगं[3] ।
सुस्सर आदिज्जं पुण जसकित्ति निमिण तित्थयर ॥९९॥

[तसद्वादसयं]

त्रस १ बादर २ पर्याप्त ३ प्रत्येकशरीर ४ स्थिर ५ शुभ ६ सुभग ७ सुस्वर ८ आदेय ९ यशः-

---

अब अग्नि, आतप और उद्योत प्रकृतिमें अन्तर बताते हैं—

अग्निकी मूल और प्रभा दोनों उष्ण होते हैं अतः अग्निके उष्ण स्पर्शनामकर्मका उदय जानना चाहिए। किन्तु जिसके आतप नामकर्मका उदय होता है उसका मूल तो शीतल होता है पर प्रभा उष्णतासहित होती है। इस आतपनामकर्मका उदय सूर्यके बिम्बमें उत्पन्न हुए बादरपर्याप्त पृथ्वीकायिक तिर्यंच जीवोंके होता है। जिसके उद्योतनामकर्मका उदय होता है उसका मूल और प्रभा ये दोनों ही उष्णतारहित अर्थात् शीतल होते हैं। इस नामकर्मका उदय चन्द्रबिम्बमें उत्पन्न होनेवाले पृथ्वीकायिक जीवोंमें तथा खद्योत (जुगनू) आदि विशेष तिर्यंचोंमें होता है ॥९६॥

अपिण्ड प्रकृतियोंका निरूपण—

त्रस-स्थावर, बादर-सूक्ष्म, पर्याप्त-अपर्याप्त, प्रत्येकशरीर-साधारणशरीर, स्थिर-अस्थिर शुभ-अशुभ, सुभग-दुर्भग, सुस्वर-दुःस्वर, आदेय-अनादेय, यशःकीर्ति-अयशःकीर्ति, निर्माण और तीर्थंकर ये शेष अपिण्ड प्रकृतियाँ जानना चाहिए ॥९७-९८॥

त्रस द्वादशकका निरूपण—

त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येकशरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति, निर्माण और तीर्थंकर इन बारह प्रकृतियोंको त्रस-द्वादशक कहते हैं ॥९९॥

१. गो० क० ३३ । २. त आदेज्जमणादेज्जं । ३. त सुहगं ।

कीर्त्ति १० निर्माण ११ तीर्थंकरनामेति १२ द्वादशप्रकृतयः त्रसद्वादशकमिति संज्ञा[1] परमागमे भण्यते। एतासां द्वादशप्रकृतीनां व्युत्पत्तिपूर्वकनामान्याह—यदुदयाद् द्वीन्द्रियादिषु जन्म तत् त्रसनाम १। यदुदयाद्-न्यबाधाकरं शरीरं भवति तद् बादरनाम २। यदुदयादाहारादिपर्याप्तिनिर्वृत्तिस्तत्पर्याप्तिनाम ३। तत् षड्विधम्—आहारशरीरेन्द्रियोच्छ्वासनिःश्वासभाषामनःसम्बन्धेन षोढा भवतीत्यर्थः। तत्र आहारवर्गणा-ऽऽयातपुद्गलस्कन्धानां खलरसभागरूपेण परिणमने आत्मनः शक्तिनिष्पत्तिराहारपर्याप्तिः १। खलभागम-स्थ्यादिकठिनावयवरूपेण रसभागं च रसरुधिरादिद्रवावयवरूपेण परिणमयितुं जीवस्य शक्तिनिष्पत्तिः शरीरपर्याप्तिः २। स्पर्शनादीन्द्रियाणां योग्यदेशावस्थितस्वस्वविषयग्रहणे जीवस्य शक्तिनिष्पत्तिः इन्द्रिय-पर्याप्तिः ३। आहारवर्गणाऽऽयातपुद्गलस्कन्धान् उच्छ्वासनिःश्वासरूपेण परिणमयितुं जीवस्य शक्तिनिष्पत्ति-रुच्छ्वासनिःश्वासपर्याप्तिः ४। भाषावर्गणाऽऽयातपुद्गलस्कन्धान् सत्यादिचतुर्विधवाक्स्वरूपेण परिणमयितुं जीवशक्तिनिष्पत्तिः भाषापर्याप्तिः ५। दृष्ट-श्रुतानुमितार्थानां गुण-दोषविचारणादिरूपभावमनःपरिणमने मनो-वर्गणाऽऽयातपुद्गलस्कन्धान् द्रव्यमनोरूपपरिणामेन परिणमयितुं जीवस्य शक्तिनिष्पत्तिर्मनःपर्याप्तिः ६। षट् मिलिता एका पर्याप्तिप्रकृतिः। शरीरनामकर्मोदयान्निर्वर्त्यमानशरीरमेकात्मोपभोगकारणं यतो भवति, तत्प्रत्येकशरीरनाम ४। यस्योदयाद् रसादिधातूपधातूनां स्वस्वस्थाने स्थिरभावनिर्वर्तनं भवति तत्स्थिरनाम ५। तदुक्तञ्च—

> रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदः प्रवर्तते।
> मेदतोऽस्थि ततो मज्जं मज्जाच्छुक्रं ततः प्रजाः[2] ॥१४॥
> वातः पित्तं तथा श्लेष्मा शिरास्नायुश्च चर्म च।
> जठराग्निरिति प्राज्ञैः प्रोक्ताः सप्तोपधातवः ॥१५॥

धातु प्रमाण ७ फल दिन ३० इच्छा धातु १ लब्ध दिन ४$\frac{२}{७}$। यदुदयाद्रमणीया मस्तकादिप्रशस्ता-वयवा भवन्ति, तच्छुभनाम ६। यदुदयादन्यप्रीतिप्रभवस्तत्सुभगनाम ७। यस्मान्निमित्ताज्जीवस्य मनोज्ञस्वर-निर्वर्तनं भवति तत्सुस्वरनाम ८। प्रभोपेतशरीरकारणमादेयनाम ९। पुण्यगुणख्यापनकारणं यशःकीर्त्तिनाम १०। यन्निमित्तात्परिनिष्पत्तिस्तन्निर्माणनाम। तद्द्विविधम्—स्थाननिर्माणं प्रमाणनिर्माणं चेति। तत्र जातिनामो-दयापेक्षं चक्षुरादीनां स्थानं प्रमाणं च निर्वर्तयति, निर्मीयतेऽनेनेति वा निर्माणम् ११। आर्हन्त्यकारणं तीर्थंकरत्वं नाम १२। इति त्रसद्वादशकं भवति। पिण्डप्रकृतयः ३०। अपिण्डप्रकृतयः ८३। ॥६६॥

विशेषार्थ—जिस कर्मके उदयसे द्वीन्द्रियादि विकलेन्द्रिय या सकलेन्द्रिय जीवोंमें जन्म हो उसे त्रस नामकर्म कहते हैं। जिस कर्मके उदयसे अन्य जीवोंको आघात करनेवाला शरीर हो, उसे बादर नामकर्म कहते हैं। जिस कर्मके उदयसे आहार आदि पर्याप्तियोंकी पूर्णता हो उसे पर्याप्त नामकर्म कहते हैं। पर्याप्तियोंके छह भेद हैं—आहारपर्याप्ति, शरीर-पर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति, उच्छ्वासपर्याप्ति, भाषापर्याप्ति और मनःपर्याप्ति। आहारवर्गणाके पुद्गलस्कन्धोंका खल और रसरूपसे परिणत होनेकी शक्ति पाना, आहारपर्याप्ति है। खल भागको हड्डी आदि कठिन अवयवोंके रूपमें और रस भागको रक्त आदिके रूपमें परिणमनकी शक्ति पाना शरीरपर्याप्ति है। आहारवर्गणाके पुद्गलस्कन्धोंका इन्द्रियोंके आकार परिणमन करनेकी शक्ति पाना इन्द्रियपर्याप्ति है। आहारवर्गणाके पुद्गलोंको श्वास-उच्छ्वासके रूपमें परिणमनकी शक्ति पाना श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति है। भाषावर्गणाके पुद्गलस्कन्धोंको वचन रूपसे परिणमनकी शक्ति पाना भाषापर्याप्ति है। मनोवर्गणाके पुद्गलस्कन्धोंका विचार करने-वाले मनके रूपसे परिणमनकी शक्ति पाना मनःपर्याप्ति है। इनमें-से एकेन्द्रिय जीवोंके ४, विकले-न्द्रियोंके ५, और संज्ञी जीवोंके ६ पर्याप्तियाँ होती हैं। जिस कर्मके उदयसे एक शरीरका

---

1. ब सिद्धान्ते। 2. ब श्लोकाः अमाः।

थावर सुहुममपज्जत्तं साहारणसरीरमथिरं च।
असुहं दुब्भग दुस्सर णादिज्जं अजसकित्ति त्ति ॥१००॥

स्थावर १ सूक्ष्मा २ पर्याप्त ३ साधारणशरीरा ४ स्थिरा ५ शुभ ६ दुर्भग ७ दुःस्वरा ८ नादेया ९ यशःकीर्तीति १० स्थावरदशसंज्ञं ज्ञातव्यम्। तन्निरुक्तिमाह—यस्मिन्नुदयादेकेन्द्रियेषु प्रादुर्भावस्तत्स्थावरनाम १। सूक्ष्मशरीरनिर्वर्त्तकं सूक्ष्मनाम २। षड्विधपर्याप्त्यभावहेतुरपर्याप्तनाम ३। बहूनामात्मनामुपभोगहेतुत्वेन साधारणं भवति शरीरं यतस्तत्साधारणशरीरनाम ४। तद्यथा—

[1]साहारणमाहारो साहारणमाणपाणगहणं च।
साहारणजीवाणं साहारणलक्खणं भणियं[2] ॥१६॥
गूढसिरसंधिपव्वं समभंगमहीरुहं च छिण्णरुहं।
साहारणं शरीरं तव्विवरीयं च पत्तेयं[3] ॥१७॥
कंदे मूले छल्लीपवालसालदलकुसुमफलबीए।
समभंगे सदि णंता विसमे सदि होंति पत्तेया[4] ॥१८॥

स्वामी एक ही जीव हो उसे प्रत्येक शरीर नामकर्म कहते हैं। जिस कर्मके उदयसे शरीरके धातु-उपधातु यथास्थान स्थिर रहें, वह स्थिर नामकर्म है। जिस कर्मके उदयसे शरीरके अवयव सुन्दर हों, वह शुभ नामकर्म है। जिस कर्मके उदयसे जीव दूसरोंका प्रीतिभाजन हो, वह सुभग नामकर्म है। जिस कर्मके उदयसे स्वर उत्तम हो, वह सुस्वर नामकर्म है। जिस कर्मके उदयसे शरीरमें प्रभा-कान्ति हो, वह आदेय नामकर्म है। जिस कर्मके उदयसे यश फैले, वह यशः कीर्त्ति नामकर्म है। जिस कर्मके उदयसे शरीरके अंग-उपांग यथास्थान और यथाप्रमाण उत्पन्न हों, वह निर्माण नामकर्म है। जिस कर्मके उदयसे जीव त्रिलोकपूजित तीर्थंकर पदको पावे, वह तीर्थंकर नामकर्म है। आगममें उक्त १२ प्रकृतियोंकी संज्ञा त्रस-द्वादशक है।

स्थावरदशकका वर्णन—

स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण शरीर, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय और अयशःकीर्ति ये दश प्रकृतियाँ स्थावरदशक कहलाती हैं ॥१००॥

विशेषार्थ—जिस कर्मके उदयसे एकेन्द्रिय जीवोंमें जन्म हो, वह स्थावर नामकर्म है। जिस कर्मके उदयसे अन्यको बाधा नहीं करनेवाला और वज्रपटलके द्वारा भी नहीं रोके जानेवाला ऐसा सूक्ष्म शरीर उत्पन्न हो, वह सूक्ष्म नामकर्म है। जिस कर्मके उदयसे जीव अपने योग्य पर्याप्तियोंको पूर्ण न कर सके, वह अपर्याप्त नामकर्म है। जिस कर्मके उदयसे अनेक जीवोंके उपभोग योग्य शरीरकी प्राप्ति हो अर्थात् अनन्त जीव एक शरीरके स्वामी हों वह साधारण शरीर नामकर्म है। जिस कर्मके उदयसे शरीरके धातु और उपधातु स्थिर न रह सकें, वह अस्थिर नामकर्म है। जिस कर्मके उदयसे शरीरके अवयव सुन्दर न हों, वह अशुभ नामकर्म है। जिस कर्मके उदयसे जीव रूपादि गुणोंसे युक्त होनेपर भी अन्यका प्रीति-पात्र न हो सके, वह दुर्भग नामकर्म है। जिस कर्मके उदयसे गधे, ऊँट, गीदड़ जैसा बुरा स्वर मिले, वह दुःस्वर नामकर्म है। जिस कर्मके उदयसे शरीर प्रभा और कान्तिसे हीन प्राप्त हो, वह अनादेय नामकर्म है। जिस कर्मके उदयसे संसारमें अपयश फैले, वह अयशःकीर्ति नामकर्म है। इन दश प्रकृतियोंकी आगममें स्थावरदशक संज्ञा है।

---

1. ब इमा गाथा न सन्ति। 2. पञ्चसं० १, ८२। गो० जी० १९१। 3. गो० जी० १८६। 4. गो० जी० १८७।

धातूपधातूनां स्थिरभावेनानिर्वर्तनं यतस्तदस्थिरनाम ५। यदुदयेनारमणीयमस्तकाद्यवयवनिर्वर्तनं भवति तदशुभनाम ६। यदुदयाद् रूपादिगुणोपेतोऽप्यप्रीतिं विदधाति जनः तद्दुर्भगनाम ७। यन्निमित्ता-जीवस्य खरोष्ट्रशृगालादिवदमनोज्ञस्वरनिर्वर्तनं भवति तद्दुःस्वरनाम ८। निष्प्रभशरीरकारणमनादेयनाम ९। पुण्ययशःप्रत्यनीकफलमयशःकीर्त्तिनाम १०। इति स्थावरदशकं सिद्धान्ते भणितम्। पिण्डप्रकृतिः ४२। अपिण्डप्रकृतिः ९३। अथवा १०३। ॥१००॥

इदि णामप्पयडीओ तेणवदी, उच्चणीचमिदि दुविहं।
गोदं कम्मं भणिदं पंचविहं अंतरायं तु ॥१०१॥

इति नामकर्मणः पिण्डापिण्डप्रकृतय ४२। पृथग्भेदेन प्रकृतिस्त्रिनवतिः ९३। औदारिक-तैजसं १ औदारिक-कार्मणं २ औदारिक-तैजस-कार्मण ३ वैक्रियिक-तैजसं ४ वैक्रियिक-कार्मणं ५ वैक्रियिक-तैजस-कार्मणं ६ आहारक-तैजसं ७ आहारक-कार्मणं ८ आहारक-तैजस-कार्मणं ९ तैजस-कार्मणं १० इति दश-प्रकृतिमेलिताः नामकर्मण उत्तरप्रकृतय १०३ त्र्यधिकं शतं भवति। गोत्रकर्म द्विविधं भणितम्—उच्चगोत्रं नीचगोत्रमिति। यस्योदयाल्लोकपूजितेषु कुलेषु जन्म भवति तदुच्चगोत्रम्। १ यदुदयेन तद्विपरीतेषु गर्हितेषु कुलेषु जन्म भवति तन्नीचैर्गोत्रम् २। तु पुनरन्तरायकर्म पञ्चविधं भणितम् ॥१०१॥

तद्गाथामाह—

तह दाण लाह भोगुवभोगा विरिय अंतरायमिदि णेयं।
इदि सव्वुत्तरपयडी अडदालसयप्पमा होंति ॥१०२॥

तथा दान-लाभ-भोगोपभोग-वीर्यान्तरायमिति पञ्चविधं ज्ञेयम्। यदुदयाद्दातुकामोऽपि न प्रयच्छति तद्दानान्तरायः १। यदुदयाल्लब्धुकामोऽपि न लभते तल्लाभान्तरायः २। यदुदयाद् भोक्तुमिच्छन्नपि न भुङ्क्ते [तद्भोगान्तरायः ३।] यदुदयादुपभोक्तुमभिवाञ्छन्नपि नोपभुङ्क्ते तदुपभोगान्तरायः ४। यदु-दयादुत्सहितुकामोऽपि नोत्सहते तद्वीर्यान्तरायः ५। अथवा दानस्य विघ्नहेतुर्दानान्तरायः १। लाभस्य विघ्नहेतुर्लाभान्तरायः २। भुक्त्वा परिहातव्यो भोगस्तस्य विघ्नहेतुर्भोगान्तरायः ३। भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्य

ये उपर्युक्त नामकर्मकी सब मिलाकर तेरानवे प्रकृतियाँ जानना चाहिए। गोत्रकर्म दो प्रकारका कहा गया है—उच्चगोत्र और नीचगोत्र। जिस कर्मके उदयसे लोक-पूजित कुलमें जन्म हो, वह उच्चगोत्र और लोक-निन्द्य कुलमें जन्म हो, वह नीच गोत्र है। अन्तराय कर्म पाँच प्रकारका है (जिनके नाम इस प्रकार हैं—) ॥१०१॥

अन्तराय कर्मके भेद—

दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय। ये पाँच अन्तराय कर्मके भेद जानना चाहिए। जिस कर्मके उदयसे दान देनेकी इच्छा रखनेपर भी दे न सके, वह दानान्तराय है। जिस कर्मके उदय होनेपर लाभ न हो सके, वह लाभान्तराय है। जिस कर्मके उदय होनेपर भोगनेकी इच्छा रखनेपर भी भोग न सके वह भोगान्तराय है। जिसके उदय होनेपर स्त्री आदिक उपभोगोंको न भोग सके वह उपभोगान्तराय है। जिसके उदय होनेपर शरीरमें बल-वीर्य प्राप्त न हो सके, वह वीर्यान्तराय कर्म है। इस प्रकार आठों कर्मोंकी सभी उत्तर प्रकृतियाँ (५+९+२+२८+४+९३+२+५=१४८) एक सौ अड़तालीस होती हैं ॥१०२॥

---

१. त अडदालुत्तरसयं।

उपभोगः, तस्य विघ्नहेतुरुपभोगान्तरायः ४। वीर्यं शक्तिः सामर्थ्यम्। तस्य विघ्नहेतुर्वीर्यान्तरायः ५। इति सर्वेषां कर्मणां उत्तरप्रकृतयः अष्टचत्वारिंशच्छतप्रमाः १४८ भवन्ति। उत्तरोत्तरप्रकृतिभेदा वाग्गोचरा न भवन्ति ॥१०२॥

अथ नामोत्तरप्रकृतिष्वभेदविवक्षायामन्तर्भावं दर्शयति—

देहे अविणाभावी बंधण संघाद इदि अबंधुदया।
वण्णचउक्केऽभिण्णे गहिदे चत्तारि बंधुदये[1] ॥१०३॥

देहे औदारिकादिपञ्चविधशरीरनामकर्मणि स्व-स्वबन्धनसंघातौ अविनाभाविनौ, इति कारणात् अबन्धोदयौ प्रकृती बन्धन-संघातौ न भवतः, तत्र त्र्युत्तरभेदभिन्ने नामकर्मण एतौ बन्धन-संघातौ पृथक् प्रोक्तौ इत्यर्थः। वर्णचतुष्के वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शसामान्यचतुष्के अभिन्ने अभेदविवक्षायां एकैकस्मिन्नेव गृहीते सत्यन्यत्र बन्धोदययोश्चतस्र एव प्रकृतयो भवन्ति। शेषषोडशानां पृथक् कथनं नास्तीत्यर्थः ॥१०३॥

ताः का इति चेदाह—

वण्ण-रस-गंध-फासा चउ चउ इगि सत्त सम्ममिच्छत्तं[2]।
होंति अबंधा बंधण पण पण संघाद सम्मत्तं ॥१०४॥

एताः अष्टाविंशतिप्रकृतयः अबन्धा बन्धरहिता भवन्ति, अतएव बन्धराशौ विंशत्यधिकशतप्रकृतयो १२० भवन्ति। ताः काः अष्टाविंशतिः २८। वर्णचतुष्कं ४ [रसचतुष्कम् ४] एको गन्धः १ स्पर्शसप्तकं ७ इति षोडश १६ भवन्ति। मिच्छत्तं इति सम्म इति मीलित्वा एका सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति, मिश्रप्रकृतिरित्यर्थः १। 'बंधण पण' इति, औदारिकबन्धनं १ वैक्रियिकबन्धनं २ आहारकबन्धनं ३ तैजसबन्धनं ४ कार्मणबन्धनं ५ इति पञ्च बन्धनानि। 'पण संघाद' इति, औदारिकसंघातः १ वैक्रियिकसंघातः २ आहारकसंघातः ३ तैजससंघातः ४ कार्मणसंघातः ५ इति पञ्च संघाताः। 'सम्मत्तं' इति सम्यक्त्वप्रकृतिः एवं समुदिता अष्टाविंशतिप्रकृतयः २८ अबन्धाः बन्धराशौ न भवन्तीत्यर्थः ॥१०४॥

अब नामकर्मकी उत्तर प्रकृतियोंमें अभेद-विवक्षासे कौन प्रकृति किसमें सम्मिलित हो सकती है यह दिखलाते हैं—

शरीर नामकर्मके साथ अपना-अपना बन्धन और अपना-अपना संघात, ये दोनों कर्म अविनाभावी हैं अर्थात् ये दोनों शरीरके बिना नहीं हो सकते। इस कारण पाँच बन्धन और पाँच संघात, ये दश प्रकृतियाँ बन्ध और उदय अवस्थामें अभेद विवक्षासे पृथक् नहीं गिनी जातीं, किन्तु उनका शरीरनामकर्ममें ही अन्तर्भाव हो जाता है। तथा सामान्य वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श इन चारमें ही इनके उत्तर बीस भेद सम्मिलित हो जाते हैं अतएव अभेदकी अपेक्षा इनके भी बन्ध और उदय अवस्थामें चार ही भेद गिने जाते हैं ॥१०३॥

अब ग्रन्थकार अबन्ध प्रकृतियोंको अर्थात् जिनका बन्ध नहीं होता, उन प्रकृतियोंको गिनाते हैं—

चार वर्ण, चार रस, एक गन्ध, सात स्पर्श, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृति, पाँच बन्धन और पाँच संघात। ये अट्ठाईस अबन्ध प्रकृतियाँ हैं। अर्थात् इनके अतिरिक्त शेष एक सौ बीस प्रकृतियाँ बन्ध-योग्य होती हैं ॥१०४॥

---

१. गो० क० ३४। २, ब मिच्छत्तं।

तथा सति बन्धोदयसत्त्वप्रकृतयः कतीति चेच्चतुर्गाथाभिराह—

पंच णव दोण्णि छव्वीसमवि य चउरो कमेण सत्तट्ठी ।
दोण्णि य पंच य भणिया एदाओ बंधपयडीओ[1] ॥१०५॥

५।९।२।२६।४।६७।२।५=१२०

पञ्च ज्ञानावरणानि ५ नव दर्शनावरणानि ९ द्वे वेदनीये २ षड्विंशतिर्मोहनीयानि २६ । कुतः ? मिश्र-सम्यक्त्वप्रकृत्योरुदयसत्त्वयोरेव कथनात् । चत्वार्यायूंषि ४ सप्तषष्टिर्नामानि ६७ । कुतः ? तद्देहबन्धन-संघात-षोडशवर्णादीनामन्तर्भावात् । द्वे गोत्रे २ । पञ्चान्तरायाः ५ । इत्येताः १२० विंशत्युत्तरशतं बन्धयोग्या प्रकृतयः क्रमेण सर्वज्ञैर्भणिता ॥१०५॥

विशेषार्थ—इस गाथामें अट्ठाईस अबन्ध प्रकृतियोंकी संख्या गिना करके अगली १०५वीं गाथामें बन्ध-योग्य १२० प्रकृतियोंको बतलाया गया है। सो यह कथन अभेद विवक्षासे जानना चाहिए; क्योंकि भेदकी विवक्षासे आगे ग्रन्थकार स्वयं ही १०७वीं गाथामें बन्ध-योग्य प्रकृतियोंकी संख्या १४६ बतला रहे हैं। इसका अभिप्राय यह है कि यतः शरीर नामकर्मके बन्धके साथ ही बन्धन और संघात नामकर्म इन दोनों प्रकृतियोंका बन्ध अविनाभावी है, अर्थात् नियमसे होता है। अतः शरीर नामकर्मका बन्ध कह देनेपर पाँचों बन्धन और पाँचों संघात स्वतः ही गृहीत हो जाते हैं। इस विवक्षासे उन्हें अबन्धप्रकृतियोंमें गिनाया गया है। ऐसा नहीं समझना चाहिए कि बन्धन और संघात बन्ध-योग्य ही नहीं है। भेद-विवक्षासे उनका बन्ध होता ही है। और प्रतिसमय बँधनेवाले समय प्रबद्धमें से उन्हें प्रदेश-विभाजनके नियमानुसार विभाग मिलता ही है। इसी प्रकार सामान्य वर्णचतुष्कके कहनेपर उनके सभी उत्तर भेद भी स्वतः गृहीत हो जाते हैं। इस गाथामें जो यह कहा गया है कि चार वर्ण, चार रस, एक गन्ध और सात स्पर्श ये अबन्धप्रकृतियाँ हैं; उसका भी यह अभिप्राय नहीं समझना कि एक समयमें पाँचों वर्णोंमें से किसी एकका ही बन्ध होता है, शेष चारका नहीं, पाँचों रसोंमें से किसी एक रसका बन्ध होता है, शेष चारका नहीं, दो गन्धोंमें से किसी एकका बन्ध होता है, दूसरीका नहीं, तथा आठों स्पर्शोंमें से किसी एकका बन्ध होता है, शेष सातका नहीं। वस्तुतः वर्णचतुष्ककी सभी उत्तर प्रकृतियोंका प्रतिसमय बन्ध होता है और साथ ही सभीको प्रदेश-विभाग भी प्राप्त होता है। ग्रन्थकारने एक सामान्य वर्ण, एक सामान्य रस, एक सामान्य गन्ध और एक सामान्य स्पर्शकी विवक्षासे अर्थात् अभेद-दृष्टिसे इन चारोंको एक-एक मानकर शेष रही संख्याको अबन्धप्रकृतियोंके रूपमें निर्देश कर दिया है और इसलिए अभेद विवक्षासे आगे १०७वीं गाथामें बन्ध-योग्य प्रकृतियाँ १४६ बताई गयी है। वास्तवमें देखा जाय तो सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति ये दो ही प्रकृतियाँ ऐसी हैं कि जिनका बन्ध नहीं होता। यही कारण है कि भेद-विवक्षा करनेपर भी बन्ध-योग्य प्रकृतियाँ १४६ ही बतलायी गयी हैं, १४८ नहीं। जो बात बन्ध-योग्य प्रकृतियोंके विषयमें कही गयी है, वही उदययोग्य प्रकृतियोंके विषयमें भी जानना चाहिए। अर्थात् अभेद-विवक्षासे १२२ प्रकृतियाँ उदय-योग्य हैं और भेद-विवक्षासे सभी (१४८) प्रकृतियाँ उदय-योग्य बतलायी गयी हैं।

---

१. गो० क० ३५ ।

उदयप्रकृतीराह—

पंच णव दोण्णि अट्ठावीसं चउरो कमेण सत्तट्ठी।
दोण्णि य पंच य भणिया एदाओ उदयपयडीओ ॥१०६॥

५।९।२।२८।४।६७।२।५ = १२२

उदयप्रकृतयो ज्ञानावरण दर्शनावरण-वेदनीय-मोहनीयायुर्नाम-गोत्रान्तरायाणां क्रमेण पञ्च ५ नव ९ द्वे २ अष्टाविंशति २८ चतस्रः ४ सप्तषष्टिः ६७ द्वे २ पञ्च ५ मिलित्वा द्वाविंशत्युत्तरशतं १२२ उदययोग्य-प्रकृतयो भणिता. सर्वज्ञैः ॥१०६॥

ता एव बन्धोदयप्रकृतीः भेदाभेदविवक्षया सङ्ख्याति—

भेदे छादालसयं इदरे बंधे हवंति वीससयं।
भेदे सव्वे उदये वावीससयं अभेदम्हि ॥१०७॥

भेदबन्धे १४६। अभेदबन्धे १२०। भेदोदये १४८। अभेदोदये १२२।

बन्धे भेदविवक्षायां षट्चत्वारिंशच्छतं[1] १४६ प्रकृतयो भवन्ति। अभेदविवक्षायां विंशत्युत्तरशतं १२० प्रकृतयो भवन्ति। उदये भेदविवक्षायां सर्वा अष्टचत्वारिंशच्छतं १४८ प्रकृतयो भवन्ति। अभेद-विवक्षायां द्वाविंशत्युत्तरशत १२२ प्रकृतयो भवन्ति ॥१०७॥

इस प्रकार बन्ध-योग्य प्रकृतियोंकी संख्याका ग्रन्थकार निरूपण करते हैं—

ज्ञानावरणकी पाँच, दर्शनावरणकी नौ, वेदनीय की दो, मोहनीयकी छब्बीस, आयु-कर्मकी चार, नामकर्मकी सड़सठ, गोत्रकर्मकी दो, ये सब बन्ध होने योग्य प्रकृतियाँ हैं ॥१०५॥

भावार्थ—आठों कर्मोंकी बन्ध योग्य प्रकृतियाँ (५+९+२+२६+४+६७+२+५=१२०) एक सौ बीस होती हैं।

अब ग्रन्थकार उदय-योग्य प्रकृतियोंको गिनाते हैं—

ज्ञानावरणकी पाँच, दर्शनावरणकी नौ, वेदनीयकी दो, मोहनीयकी अट्ठाईस, आयुकी चार, नामकर्मकी सड़सठ, गोत्रकी दो और अन्तरायकी पाँच। ये सब उदय-प्रकृतियाँ कही गयी हैं ॥१०६॥

भावार्थ—आठों कर्मोंकी उदय-योग्य प्रकृतियाँ (५+९+२+२८+४+६७+२+५=१२२) एक सौ बाईस होती हैं।

अब ग्रन्थकार भेद और अभेद विवक्षासे बन्ध और उदयरूप प्रकृतियोंकी संख्या कहते हैं—

भेद-विवक्षासे बन्धयोग्य प्रकृतियाँ एक सौ छयालीस है क्योंकि सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति; इन दो प्रकृतियोंका बन्ध नहीं होता, किन्तु अभेद-विवक्षासे एक सौ बीस प्रकृतियाँ बन्ध योग्य होती हैं। भेद-विवक्षासे उदययोग्य सभी अर्थात् एकसौ अड़तालीस प्रकृतियाँ किन्तु अभेद-विवक्षासे एकसौ बाईस प्रकृतियाँ उदय-योग्य कही गयी हैं ॥१०७॥

---

१ गो० क० ३६। २. गो० क० ३७।

1. ब सम्यग्मिथ्यात्व-सम्यक्त्वप्रकृतिद्वयं विना।

सत्त्वप्रकृतीराह—

पंच णव दोण्णि अट्ठावीसं चउरो कमेण तेणवदी।
दोण्णि य पंच य भणिया एदाओ सत्तपयडीओ[1] ॥१०८॥

५।९।२।२८।४।९३।२।५ = १४८।

ज्ञानावरणस्य पञ्च प्रकृतयः ५ दर्शनावरणस्य नव प्रकृतयः ९ वेदनीयस्य द्वे प्रकृती २ मोहनीयस्य अष्टाविंशतिः प्रकृतयः २८ आयुषश्चतस्रः प्रकृतयः ४ नाम्नः त्रिनवतिः प्रकृतयः ९३ गोत्रस्य द्वे प्रकृती २ अन्तरायस्य पञ्च प्रकृतयः ५ इत्येताः एकत्रीकृताः अष्टचत्वारिंशच्छतं १४८ सत्त्वयोग्यप्रकृतयः क्रमेण सर्वज्ञैर्भणिताः ॥१०८॥

घातिकर्माणि [द्विविधानि—] सर्वघातीनि देशघातीनि च। तत्र सर्वघातिप्रकृतीराह—

केवलणाणावरणं दंसणछक्कं कसायबारसयं।
मिच्छं च सव्वघादी सम्मामिच्छं अबंधम्हि[2] ॥१०९॥

के १ दं ६। क १२। मि १। सम्मा० १ एताः २१ सर्वघातयः।

केवलज्ञानावरणं १, केवलदर्शनावरणं १ निद्रा २ निद्रानिद्रा ३ प्रचला ४ प्रचलाप्रचला ५ स्त्यानगृद्धिः ६ इति दर्शनषट्कं ६, अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानक्रोधमानमायालोभा इति कषायद्वादशकं १२ मिथ्यात्वप्रकृतिः १ इति विंशतिः सर्वघातीनि भवन्ति[1]। सम्यग्मिथ्यात्वं तु बन्धप्रकृतिर्न भवति। किन्तु तस्य सम्यग्मिथ्यात्वस्य उदय-सत्त्वयोरेव जात्यन्तरसर्वघातित्वं भवति ॥१०९॥

देशघातीन्याह—

णाणावरणचउक्कं तिदंसणं सम्मगं च संजलणं।
णव णोकसाय विग्घं छव्वीसा देसघादीओ[3] ॥११०॥

ज्ञा ४। दं ३। स १। सं ४। नो ९। अं ५। एताः २६। देशघातिन्यः।

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययज्ञानावरणानां चतुष्कं ४ चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनावरणत्रिकं ३ सम्यक्त्वप्रकृतिः

अब ग्रन्थकार सत्त्वरूप प्रकृतियाँ गिनाते हैं—

ज्ञानावरणकी पाँच, दर्शनावरणकी नौ, वेदनीयकी दो, मोहनीयकी अट्ठाईस, आयुकर्मकी चार, नामकर्मकी तेरानबे, गोत्रकर्मकी दो और अन्तरायकी पाँच ये सत्त्व प्रकृतियाँ कही गयी हैं ॥१०८॥

भावार्थ—आठों कर्मोंकी सभी उत्तर प्रकृतियाँ सत्त्वयोग्य मानी गयी हैं जिनकी संख्या (५+९+२+२८+४+९३+२+५ = १४८) एक सौ अड़तालीस है।

पहले जो घातिकर्म बतला आये हैं उनके सर्वघाती और देशघातीकी अपेक्षा दो भेद होते हैं उनमें-से सर्वघाती प्रकृतियोंको गिनाते हैं—

केवलज्ञानावरण, केवलदर्शनावरण और पाँच निद्रा, इस प्रकार दर्शनावरणकी ६ प्रकृतियाँ; बारह कषाय अर्थात् अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ और मिथ्यात्व मोहनीय ये बीस प्रकृतियाँ सर्वघाती हैं। सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति भी बन्धरहित अवस्थामें अर्थात् उदय और सत्त्व अवस्थामें सर्वघाती है ॥१०९॥

---

१. गो० क० ३८। २. पञ्चसं० ४, ४८३ गो० क० ३९। ३. पञ्चसं० ४, ४८४, गो० क० ४०।

1. ब बन्धविवक्षायाम्।

१ संज्वलनक्रोधमानमायालोभकषायाणां चतुष्कं ४ हास्य-रत्यरति-शोक-भय-जुगुप्सा-स्त्रीवेद-पुंवेद-नपुंसकवेदा नव नोकषायाः ९ दान-लाभ-भोगोपभोग-वीर्यान्तरायाः पञ्च ५ इति षड्विंशतिः २६ देशघातीनि भवन्ति ॥११०॥

घातिनां सर्वघाति-देशघातिभेदौ प्ररूप्य अघातिनां प्रशस्ताप्रशस्तभेदप्ररूपणे प्रशस्तप्रकृतीर्गाथाद्वयेनाऽऽह—

सादं तिण्णेवाऊ उच्चं सुर-णरदुगं च पंचिंदी ।
देहा बंधण संघादंगोवंगाइं वण्णचऊ ॥१११॥
समचउर वज्जरिसहं उवघादूणगुरुछक्क सग्गमणं ।
तसबारसट्ठसट्ठी बादालमभेददो सत्था[३] ॥११२॥

गाथाद्वयरचना—सा १ । आ ३ । उ १ । म २ । सु २ । पं १ । दे ५ । बं ५ । सं ५ । अं ३ । व ४ । भेदे व २० । स १ । व १ । अगु ५ । स १ । तस १२ । भेदे ६८ । अभेदे ४२ ।

सातावेदनीयं १ तिर्यग्मनुष्यदेवायूंषि त्रीणि ३ । उच्चैर्गोत्रं नरगति-नरगत्यानुपूर्व्ये द्वे २ देवगति-देवगत्यानुपूर्व्यद्विकं २ पञ्चेन्द्रियं १ औदारिक-वैक्रियिकाहारक-तैजस-कार्मणानि पञ्च शरीराणि ५ औदारिकादिपञ्चबन्धनानि ५ औदारिकादिपञ्चसंघातानि ५ औदारिकाङ्गोपाङ्गवैक्रियिकाङ्गोपाङ्गाऽऽहारकाङ्गोपाङ्गानि त्रीणि ३ शुभवर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शाश्चत्वारः ४ समचतुरस्रसंस्थान १ वज्रवृषभनाराचसंहननं १ अगुरुलघु-परघातोच्छ्वासाऽऽतपोद्योताः ५ प्रशस्तविहायोगतिः १ त्रस १ बादर २ पर्याप्त ३ प्रत्येकशरीर ४ स्थिर ५ शुभ ६ सुभग ७ सुस्वरा ८ देय ९ यशःकीर्ति १० निर्माण ११ तीर्थंकराणीति १२ त्रसद्वादशकं एवं अष्टषष्टिः ६८ प्रकृतयो भेदविवक्षया प्रशस्ता भवन्ति । अभेदविवक्षायां द्विचत्वारिंशत् ४२ प्रकृतयो भवन्ति । 'सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्य'[1] मित्युक्ता एवेत्यर्थः ॥१११-११२॥

भावार्थ—ये सर्वघाती प्रकृतियाँ अपने प्रतिपक्षभूत गुणोंका सम्पूर्ण रूपसे घात करती हैं इसलिए इन्हें सर्वघाती कहते हैं ।

अब देशघाती प्रकृतियोंको गिनाते हैं—

केवलज्ञानावरणको छोड़कर ज्ञानावरणकर्मकी शेष चार प्रकृतियाँ, पूर्वोक्त ६ भेदोंके सिवाय दर्शनावरणकी शेष तीन प्रकृतियाँ, सम्यक्त्वप्रकृति, संज्वलन क्रोध मान माया लोभ, हास्यादि नौ नोकषाय और अन्तरायकी पाँचों प्रकृतियाँ ये छब्बीस देशघाती प्रकृतियाँ हैं ॥११०॥

भावार्थ—इन प्रकृतियोंके उदय होनेपर भी जीवका गुण कुछ न कुछ अंशमें प्रकट रहता है इसलिए इन्हें देशघाती कहते हैं ।

इस प्रकार घातियाकर्मोंके भेद कहकर अब अघातिया कर्मोंके जो प्रशस्त और अप्रशस्त ये दो भेद हैं उनमें-से पहले प्रशस्त प्रकृतियोंको बतलाते हैं—

सातावेदनीय, तिर्यंच, मनुष्य और देव ये तीन आयु उच्चगोत्र, मनुष्यगति, मनुष्य-गत्यानुपूर्वी, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, पंचेन्द्रियजाति, पाँच शरीर, पाँच बन्धन, पाँच संघात, तीन अंगोपांग, शुभ वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श इन चारके बीस भेद, समचतुरस्र संस्थान, वज्रवृषभ-नाराचसंहनन, उपघातके बिना, अगुरुलघु आदि ६ प्रकृतियाँ तथा प्रशस्तविहायोगति और त्रस आदिक बारह प्रकृतियाँ इस प्रकार अड़सठ प्रकृतियाँ भेद-विवक्षासे प्रशस्त (पुण्यरूप) कही हैं । किन्तु अभेद-विवक्षासे बियालीस प्रकृतियाँ ही पुण्यरूप कही गयीं हैं ॥१११-११२॥

१. ब -वंगा य । २. ब अगुरुषट्कस्य मध्ये उपघातो निराक्रियते । ३. गो० क० ४१-४२ ।
1. तत्त्वार्थ० ८, २५ ।

अप्रशस्तप्रकृतीर्गाथाद्वयेनाऽऽह—

घादी णीचमसादं णिरयाऊ णिरिय-तिरियदुग जादी ।
संठाण-संहदीणं चदु पण पणगं च वण्णचऊ ॥११३॥

उवघादमसग्गमणं थावरदसयं च अप्पसत्था हु ।
बंधुदयं पडि भेदे अडणवदि सयं दु चदुरसीदिदरे[1] ॥११४॥

गाथाद्वयरचना—घा ४७ । नी १ । अ १ । नि १ । नि २। ति २ । जा ४ । सं ५ । सं ५ । व ४ । भेदे २० । उ १ । अस १ । था १० । भेदबन्धे ९८ । अभेदबन्धे ८२ । भेदोदये १०० । अभेदोदये ८४ ।

घातीनि सर्वाण्यप्रशस्तान्येवेति तानि सप्तचत्वारिंशत् ४७। कानि तानि ? ज्ञानावरण ५ दर्शनावरण ९ मोहनीय २८ अन्तराय ५ एवं सप्त चत्वारिंशत् ४७ घातीनि । नीचैर्गोत्रं १ असातावेदनीयं १ नरकायुष्यं १ नरकगतिनरकगत्यानुपूर्विद्विकं २ तिर्यग्गति-तिर्यग्गत्यानुपूर्विद्विकं २ एक-द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रियजातयः ४ चतस्रः न्यग्रोधपरिमण्डल १ वाल्मीकसंस्थान २ कुब्जकसंस्थान ३ वामनसंस्थानानि च ५ इति पञ्च संस्थानानि वज्रनाराच १ नाराच २ अर्धनाराच ३ कीलिका ४ असंप्राप्तिका ५ इति पञ्च संहननानि, अशुभवर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शाश्चत्वारः ४ उपघातः १ अप्रशस्तविहायोगतिः १ स्थावर १ सूक्ष्मा २ पर्याप्त ३ साधारणा ४ स्थिरा ५ शुभ ६ दुर्भग ७ दुःस्वरा ८ नादेया ९ यशःकीर्त्तयः १० इति स्थावरदशकम् १० । इत्येताः अप्रशस्ता. बन्धोदयौ प्रति क्रमेण भेदविवक्षायां अष्टनवतिः ९८ शतं १०० च भवन्ति । अभेदविवक्षायां द्व्यशीति ८२ श्चतुरशीति ८४ श्च भवन्ति ॥११३-११४॥

कषायकार्यमाह—

पढमादिया कसाया सम्मत्तं देस-सयलचारित्तं ।
जहखादं घादंति य गुणणामा होंति सेसावि[2] ॥११५॥

अनन्तानुबन्धिकषायाः सम्यक्त्वं घ्नन्ति, अप्रत्याख्यानकषायाः देशचारित्रं घ्नन्ति, प्रत्याख्यानकषायाः सकलचारित्रं महाव्रतं घ्नन्ति, संज्वलनाः यथाख्यातचारित्रं घ्नन्ति, तेन गुणनामानो भवन्ति । अनन्तसंसार-

---

अब अप्रशस्त (पापरूप) कर्मप्रकृतियोंकी संख्या गिनाते हैं—

चारों घातिया कर्मोंको सैंतालीस प्रकृतियाँ, नीचगोत्र, असातावेदनीय, नरकायु, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, एकेन्द्रियादि चार जाति, समचतुरस्र-संस्थान, वज्रऋषभनाराचसंहननके सिवाय शेष पाँच संहनन, अशुभवर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, ये चार मूलभेद अथवा भेद-विवक्षामें बीस भेद, उपघात, अप्रशस्तविहायोगति और स्थावर आदि दश ये सब अप्रशस्त प्रकृतियाँ हैं। ये भेद-विवक्षासे बन्धरूप अट्ठानवे हैं और उदयकी अपेक्षा सौ प्रकृतियाँ पापरूप जानना चाहिए। तथा अभेदविवक्षासे बन्ध-योग्य बियासी और उदयरूप चौरासी पाप प्रकृतियाँ जानना चाहिए ॥११३-११४॥

अब अनन्तानुबन्धी आदि चारों कषायोंके कार्य बतलाते हैं—

पहली अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यक्त्वको, दूसरी अप्रत्याख्यानावरणकषाय देशचारित्रको, तीसरी प्रत्याख्यानावरणकषाय सकलचारित्रको और चौथी संज्वलनकषाय यथाख्यात चारित्रको घातती है। अतएव ये यथार्थ गुणनामवाली हैं अर्थात् जैसे इनके नाम हैं वैसे ही इनके गुण हैं। इनके अतिरिक्त शेष प्रकृतियाँ भी अपने नामके अनुसार अर्थवाली हैं ॥११५॥

---

१. गो० क० ४३-४४ । २. गो० क० ४५ ।

कारणत्वान्मिथ्यात्वमनन्तम्, तदनुबध्नन्तीत्यनन्तानुबन्धिनः। अप्रत्याख्यानं ईषत् संयमो देशसंयमः, तं कषन्तीत्यप्रत्याख्यानकषायाः। प्रत्याख्यानं सकलसंयमः, तं कषन्तीति प्रत्याख्यानकषायाः। सम् एकीभूत्वा ज्वलन्ति संयमेन सहावस्थानात्, संयमो वा ज्वलत्येषु सत्स्वपीति संज्वलना। एते एव यथाख्यातं कषन्तीति संज्वलनकषायाः। एवं शेषनोकषायज्ञानावरणादीन्यप्यन्वर्थसंज्ञानि भवन्ति ॥११५॥

संज्वलनादिचतुःकषायाणां वासनाकालमाह—

अंतोमुहुत्तपक्खं छम्मासं संखऽसंखऽणंतभवं।
संजलणमादियाणं वासणकालो दु णियमेण ॥११६॥

उदयाभावेऽपि तत्संस्कारकालो वासनाकालः। स च संज्वलनानामन्तर्मुहूर्तो वासनाकालः, प्रत्याख्यानावरणानामेक पक्षो वासनाकालः। अप्रत्याख्यानावरणानां वासनाकालः षण्मासाः। अनन्तानुबन्धिनां वासनाकालः संख्यातभवः, असंख्यातभवः, अनन्तभवो वा भवति नियमेन ॥११६॥

अथ पुद्गलविपाकीन्याह—

देहादी फासंता पण्णासा णिमिण तावजुगलं च।
थिर-सुह-पत्तेयदुगं अगुरुतियं पोग्गलविवाई[2] ॥११७॥

श ५। बं ५। सं ५। सं ६। अं ३। सं ६। व ५। गं २। र ५। स्प ८। नि १। आ २। स्थि २। शु २। प्र २। अ १। उ १। प १। संयुक्ताः ६२।

औदारिकवैक्रियिकाऽऽहारकतैजसकार्मणशरीराणि पञ्च ४ औदारिकादिबन्धनपञ्चकं ५ औदारिकादि-

---

अब कषायोंके वासना (संस्कार) का काल बतलाते हैं—

संज्वलन आदि चारों कषायोंका वासनाकाल नियमसे क्रमशः अन्तर्मुहूर्त एक पक्ष (पन्द्रह दिन) ६ मास और संख्यात, असंख्यात तथा अनन्तभव है ॥११६॥

विशेषार्थ—कषायके उदय नहीं होनेपर भी जितने समयतक उस कषायका संस्कार बना रहता है, उसे वासनाकाल कहते हैं। यहाँ वासनाकालसे अभिप्राय यह है कि किसीके साथ वैर-विरोध हो गया तत्पश्चात् जितने कालतक उसके हृदयमें बदला लेनेका भाव बना रहता है उतने कालको वासनाकाल कहते हैं। जिन साधुओंके संज्वलन कषायका उदय रहता है उनके बदला लेनेका भाव अन्तर्मुहूर्त तक ही रहता है। जिन श्रावकोंके प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय रहता है उनके बदला लेनेके भाव एक पक्षतक रहते हैं। जिन अविरतसम्यग्दृष्टि जीवोंके अप्रत्याख्यानावरण कषायका उदय रहता है उनके बदला लेनेके भाव ६ मास तक रहते हैं और जिन मिथ्यादृष्टि जीवोंके अनन्तानुबन्धी कषायका उदय रहता है उनके बदला लेनेके भाव ६ माससे लेकर संख्यात, असंख्यात और अनन्तभव तक बने रहते हैं।

ऊपर बतलायी गयी कर्मप्रकृतियाँ पुद्गलविपाकी, क्षेत्रविपाकी, भवविपाकी और जीवविपाकीके भेदसे चार प्रकारकी हैं। उनमें-से पहले पुद्गलविपाकी प्रकृतियोंकी संख्या बतलाते हैं—

शरीर नामकर्मसे लेकर स्पर्श नामकर्म तक पचास प्रकृतियाँ, तथा निर्माण, आतप, उद्योत और स्थिर शुभ, प्रत्येक इन तीनोंका जोड़ा, तथा अगुरुलघु आदि तीन ये सब बासठ प्रकृतियाँ पुद्गलविपाकी हैं अर्थात् इनके उदयका फल जीवके पौद्गलिक शरीरमें ही होता है ॥११७॥

---

१. गो० क० ४६। २. गो० क० ४७।

संघाताः पञ्च ५ समचतुरस्रादिसंस्थानानि षट् ६ औदारिकवैक्रियिकाऽऽहारकाङ्गोपाङ्गानि त्रीणि ३ वज्रवृषभ-नाराचादिसंहनननामानि षट् ६ श्वेतादिवर्णाः पञ्च ५ कटुकादिरसाः पञ्च ५ सुगन्ध-दुर्गन्धौ द्वौ २ शीतादि-स्पर्शाष्टकं ८ इति पञ्चाशत् ५०। निर्माणं १ आतपोद्योतौ द्वौ २ स्थिरास्थिरद्विकं शुभाशुभद्विकं २ प्रत्येक-साधारणद्विकं २ अगुरुलघूपघातपरघातत्रिकं ३ इति द्वाषष्टिः ६२ पुद्गलविपाकीनि भवन्ति; पुद्गले एवैषां विपाकत्वात् ॥११७॥

भव-क्षेत्र-जीवविपाकीन्याह—

आऊणि भवविवाई खेत्तविवाई य आणुपुव्वीओ।
अट्ठत्तरि अवसेसा जीवविवाई मुणेयव्वा[1] ॥११८॥

भववि० आ० ४। क्षेत्रवि० आनु० ४। शेषाः जीवविपाकिन्यः ७८।

नरकतिर्यङ्मनुष्यदेवायूंषि चत्वारि ४ भवविपाकीनि। नरकतिर्यङ्मनुष्यदेवगत्यानुपूर्व्याणि चत्वारि ४ क्षेत्रविपाकीनि। [1]अवशिष्टाष्टसप्ततिः ७८ जीवविपाकीनि। कुतः? नारकादिजीवपर्यायनिर्वर्तनहेतुत्वा-ज्जीवविपाकीनि। एवं प्रकृतिकार्यविशेषा ज्ञातव्याः ॥११८॥

तानि कानि जीवविपाकीनीति चेदाह—

वेयणीय गोद घादीणेकावण्णं तु णामपयडीणं।
सत्तावीसं चेदे अट्ठत्तरि जीवविवाईओ[2] ॥११९॥

सातासातवेदनीयद्वयं २ उच्चनीचगोत्रद्वयं २। घातिज्ञानावरण ५ दर्शनावरण ९ मोहनीय २८ अन्तराय ५ इति घातिसप्तचत्वारिंशत् ४७, वेदनीयगोत्रद्वयं मिलित्वा एकपञ्चाशत् ५१, नामकर्मणः सप्त-विंशति २७ इत्यष्टसप्ततिः ७८ जीवविपाकीनि भवन्ति ॥११९॥

नामकर्मणः सप्तविंशतिप्रकृतीराह—

तित्थयरं उस्सासं बादर पज्जत्त सुस्सरादेज्जं।
जस-तस-विहाय-सुभगदु चउगइ पण जाइ सगवीसं[3] ॥१२०॥

ति १। उ १। बा २। प २। सु २। आ २। य २। त्र २। वि२।सु २। ग ४। जा ५। सर्वाः २७।

अब भवविपाकी, क्षेत्रविपाकी और जीवविपाकी प्रकृतियोंको बतलाते हैं—

नारकादिक चार आयु भवविपाकी हैं, क्योंकि नरकादि भवमें ही इन प्रकृतियोंका फल प्राप्त होता है। चार आनुपूर्वी प्रकृतियाँ क्षेत्रविपाकी हैं; क्योंकि परलोकको गमन करते हुए जीवके मध्यवर्ती क्षेत्रमें ही इनका उदय होता है। शेष अठहत्तर प्रकृतियाँ जीवविपाकी जानना चाहिए; क्योंकि इनका फल जीवको ही प्राप्त होता है ॥११८॥

अब इन्हीं अठहत्तर जीवविपाकी प्रकृतियोंको गिनाते हैं—

वेदनीयकी दो, गोत्रकी दो, घातिया कर्मोंकी सैंतालीस, इसप्रकार ६ कर्मोंकी इकावन प्रकृतियाँ तथा नामकर्मकी सत्ताईस। इसप्रकार सब मिलाकर अठहत्तर प्रकृतियाँ जीव-विपाकी है ॥११९॥

अब नामकर्मकी उपर्युक्त सत्ताईस प्रकृतियाँ बतलाते हैं—

तीर्थंकरप्रकृति, उच्छ्वासप्रकृति, तथा बादर, पर्याप्त, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति,

---

१. पञ्चस० ४, ४९२। गो० क० ४८। २. गो० क० ४९। ३. गो० क० ५०।

1. ब पुद्गलविपाकिद्वाषष्टिः भवविपाकिचतुष्कं क्षेत्रविपाकिचतुष्कं एताभ्यः सप्ततिसंख्याभ्य उद्धरिताः अष्टसप्तति।

तीर्थङ्कर १ उच्छ्वास १ बादर ३ सूक्ष्म ४ पर्याप्त ५ अपर्याप्त ६ सुस्वर ७ दुःस्वर ८ आदेय ९ अनादेय १० यशःकीर्ति ११ अयशःकीर्ति. १२ त्रस १३ स्थावर १४ प्रशस्ताप्रशस्तविहायोगति १६ सुभग-दुर्भगद्विकं १८ नारकतिर्यग्मनुष्यदेवगतयश्चतस्रः ४, २२; एक-द्वि-त्रि-चतुः-पञ्चेन्द्रियजातयः पञ्च ५ इति एकत्रिता नामकर्मणः सप्तविंशतिः २७ प्रकृतयो भवन्ति ॥१२०॥

प्रकारान्तरेण ता आह—

गदि जादी उस्सासं विहायगदि-तसतियाण जुगलं च ।
सुभगादी चउजुगलं तित्थयरं चेदि सगवीसं ॥१२१॥

ग ४ । जा ५ । उ १ । वि २ । त २ । बा २ । प २ । सु २ । सु २ । आ २ । य २ । ती १ । सर्वाः २७ ।

नरकादिचतुर्गतयः ४ एकेन्द्रियादिपञ्चजातयः ५ उच्छ्वासः १ प्रशस्ताप्रशस्तविहायोगतियुगलं २ त्रस-स्थावरयुग्मं ३ सूक्ष्म-बादरयुगलं २ पर्याप्तापर्याप्तयुग्मं २ सुभग दुर्भगयुगल २ सुस्वर-दुःस्वरयुग्मं २ आदेयानादेययुग्मं २ यशोऽयशःकीर्तियुग्मं २ तीर्थङ्करत्वं १ इत्येता मेलिताः नामकर्मणः सप्तविंशति प्रकृतयो २७ भवन्ति ॥१२१॥

इदि पयडिसमुक्कित्तणं समत्तं ।

अथ प्रकृतिस्वरूपं व्याख्याय स्थितिबन्धमुपक्रमन्नादौ मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिमाह—

तीसं कोडाकोडी तिघादि-तदिएसु वीस णामदुगे ।
सत्तरि मोहे सुद्धं उवही आउस्स तेत्तीसं ॥१२२॥

ज्ञाना० दर्श० अन्त० वेद० ३० कोडा० साग० । ना० गो० २० को० । मो० ७० को० । आयुष्कर्मण ३३ सागरस्थितिः ।

त्रस, विहायोगति और सुभग इनका जोड़ा, नरकादि चार गतियाँ तथा एकेन्द्रियादि पाँच जातियाँ । इस प्रकार नामकर्मकी सत्ताईस प्रकृतियाँ जीवविपाकी जानना चाहिये ॥१२०॥

अब दूसरे प्रकारसे इन्हीं सत्ताईस जीवविपाकी प्रकृतियोंको गिनाते हैं—

चार गति, पाँच जाति, उच्छ्वास, विहायोगति; और त्रस, बादर, पर्याप्त इन तीनका जोड़ा तथा सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति इन चारका जोड़ा और एक तीर्थंकरप्रकृति । इस प्रकार क्रमसे ये सत्ताईस नामकर्मकी प्रकृतियाँ जीवविपाकी हैं ॥१२१॥

इस प्रकार प्रकृति-समुत्कीर्तन नामक अधिकार समाप्त हुआ ।

अब स्थितिबन्धको बतलाते हुए सर्वप्रथम आठों मूल कर्मोंको उत्कृष्ट स्थितिको बतलाते हैं—

तीन घातिया कर्मोंकी अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय कर्मकी तथा तीसरे वेदनीयकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति तीसकोडाकोडी सागरप्रमाण है । नाम और गोत्रकर्मकी उत्कृष्ट

---

१. गो० क० ५१ । २. गो० क० १२७ ।

'तिघादितदिएसु' इति त्रिघातितृतीयेषु ज्ञानावरण-दर्शनावरणान्तरायघातित्रिके 'तदिए' इति तृतीयकर्मणि वेदनीयाख्ये च उत्कृष्टस्थितिबन्धस्त्रिंशत् ३० कोटीकोटिसागरोपमाणि भवति। 'नामदुगे' नाम-गोत्रयोः द्वयोर्विंशति २० कोटीकोटिसागरोपमाणि उत्कृष्टस्थितिबन्धो भवति। मोहनीये कर्मणि उत्कृष्टस्थिति-बन्धः सप्ततिः ७० कोटीकोटिसागरोपमाणि भवति। आयुःकर्मणि क्षुद्राणि कोटीकोटिविशेषणरहितानि सागरोपमाण्येव त्रयस्त्रिंशत् ३३ उत्कृष्टस्थितिबन्धो भवति ॥१२२॥

अथोत्तरप्रकृतीनां स्थितिबन्धं गाथाषट्केनाऽऽह—

दुक्ख-तिघादीणोघं सादित्थी-मणुदुगे तदद्धं तु।
सत्तरि दंसणमोहे चरित्तमोहे य चत्तालं[1] ॥१२३॥

दु १ ज्ञा ५ दं ९ अं ५ सा० ३० को०। इ म १५ को० सा०। मो० ७० को० सा०। क० १६ सा० ४० को।

'दुक्ख-तिघादीणोघं' इति असातावेदनीयं १ ज्ञानावरणानां पञ्चकं ५ दर्शनावरणानां नवकं ९ अन्त-रायाणां पञ्चकं ५ एवं विंशतिप्रकृतीनां २० उत्कृष्टस्थितिबन्धः ओघः मूलप्रकृतिवत् त्रिंशत् ३० कोटीकोटि-सागरोपमाणि भवति। सातवेदनीयं १ स्त्रीवेदः १ मनुष्यगति-मनुष्यगत्यानुपूर्विद्वयं २ एतासु चतसृषु उत्कृष्टस्थितिबन्धः तदर्धं पञ्चदशकोटीकोटिसागरोपमाणि भवति। दर्शनमोहे मिथ्यात्वे बन्धे एकविधत्वात्, तत्र दर्शनमोहे उत्कृष्टस्थितिबन्धः सप्ततिः ७० कोटीकोटिसागरोपमाणि भवति। चारित्रमोहनीयषोडश-कषायेषु अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलनभेदभिन्नेषु उत्कृष्टस्थितिबन्धश्चत्वारिंशत् ४० कोटीकोटि-सागरोपमाणि भवति ॥१२३॥

संठाण-संहदीणं चरिमस्सोघं दुहीणमादि त्ति।
अट्ठारस कोडिकोडी वियलाणं सुहुमतिण्हं च[2] ॥१२४॥

हु १ सृ १ सा० २० को०। वा १ की १ सा० १८ को। कु १ अ १ सा० १६ को०। सा १ ना १ न्या० १४ को०। नि० १ व १ सा० १२ को०। स १ व १ सा० १० को०। वि १ ति १ च १ सा० १८ को०। सू १ अ १ सा १ सा० १८ को०।

स्थिति बीस कोडाकोडी सागरप्रमाण है। मोहनीयकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोडाकोडी सागर प्रमाण है। आयुकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरप्रमाण है ॥१२२॥

विशेषार्थ—एक समयमें बँधनेवाले कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति गाथामें बतलाये गये काल-प्रमाण है अर्थात् उतने कालतक वह कर्म आत्माके साथ बँधा रहता है और क्रमशः अपना फल देकर झड़ता रहता है।

अब कर्मोंकी उत्तर प्रकृतियोंकी उत्कृष्ट स्थितिको छह गाथाओंसे बतलाते हैं—

दुःख अर्थात् असातावेदनीय एक, ज्ञानावरणकी पाँच, दर्शनावरणकी नौ और अन्त-रायकी पाँच; इन बीस प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध ओघ अर्थात् सामान्य मूलकर्मोंके समान तीस कोड़ाकोड़ी सागरप्रमाण है। सातावेदनीय, स्त्रीवेद, मनुष्यगति और मनुष्यगत्या-नुपूर्वी; इन चार प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध उक्त प्रकृतियोंसे आधा अर्थात् पन्द्रह कोड़ा-कोड़ी सागर प्रमाण है। मिथ्यात्व दर्शनमोहनीयका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरप्रमाण है और चारित्र मोहनीयका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध चालीस कोड़ाकोड़ी सागर-प्रमाण है ॥१२३॥

छह संस्थान और छह संहननमें से अन्तका हुण्डकसंस्थान और सृपाटिकासंहनन इन दोनोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध मूलप्रकृतिके समान बीस कोड़ाकोड़ी सागर है। मध्यवर्ती चार

---

१. गो० क० १२८। २. गो० क० १२९।

षट्संस्थान-षट्संहननानां मध्ये चरमसंस्थानस्य हुण्डकस्य १ चरमसंहननस्यासम्प्राप्तासृपाटिकाभिधानस्य १ ओघः मूलप्रकृतिवत् विंशतिः २० कोटीकोटिसागरोपमाणि उत्कृष्टस्थितिबन्धो भवति। 'दुहीणमादित्ति' शेषसंस्थानसंहननानां समचतुरस्रसंस्थान-वज्रवृषभनाराचसंहननपर्यन्तं द्वि-द्विकोटीकोटिसागरोपमहीनः ओघ द्विविहीन ओघ इत्यर्थः। बालावबोधार्थं स्पष्टतया उच्यते—वामनसंस्थान-कीलिकासंहननयोः द्वयोः अष्टादशकोटीकोटिसागरोपमाणि १८ उत्कृष्टस्थितिबन्धः। कुब्जकसंस्थानार्धनाराचसंहननयोः द्वयो उत्कृष्टस्थितिबन्धः षोडशकोटीकोटिसागरोपमाणि १६ भवति। वाल्मीकसंस्थान-नाराचसंहननयोः उत्कृष्टस्थितिबन्धश्चतुर्दशकोटीकोटिसागरोपमाणि १४ भवति। न्यग्रोधसंस्थान-नाराचसंहननयोः द्वादशकोटीकोटिसागरोपमाणि १२ उत्कृष्टस्थितिबन्धः। समचतुरस्रसंस्थान-वज्रवृषभनाराचसंहननयोः दशकोटीकोटिसागरोपमाणि १० उत्कृष्टस्थितिबन्ध। विकलत्रयाणां द्वि-त्रि चतुरिन्द्रियाणां सूक्ष्मत्रयाणां सूक्ष्मापर्याप्त-साधारणानां च एतासां षण्णां प्रकृतीनां उत्कृष्टस्थितिबन्ध. अष्टादश १८ कोटीकोटिसागरोपमाणि भवति।

अरदी सोगे संढे तिरिक्ख-भय-णिरय-तेजुरालदुगे।
वेगुव्वादावदुगे णीचे तस-वण्ण-अगुरुतिचउक्के ॥१२५॥
इगि-पंचिंदिय-थावर-णिमिणासग्गमण-अथिरछक्काणं।
वीसं कोडाकोडी सागरणामाणमुक्कस्सं[1] ॥१२६॥

अ १ सो १ स १ ति २ भ २ नि २ ते २ औ २ वे २ आ २ नी १ त ४ व ४ अ ४ ए १ पं १ था १ नि १ अस १ अथि ६ साग० २० कोडा०

अरतौ १ शोके १ षण्ढवेदे १ तिर्यग्गति-तिर्यग्गत्यानुपूर्व्यद्विके २ भयजुगुप्साद्विके २ नरकगति-नरकगत्यानुपूर्व्यद्विके २ तैजस-कार्मणद्विके २ औदारिकौदारिकाङ्गोपाङ्गद्विके २ वैक्रियिक वैक्रियिकाङ्गोपाङ्गद्विके २ आतपोद्योतद्विके २ नीचैर्गोत्रे १ त्रसचतुष्के इति त्रस-बादर-पर्याप्त-प्रत्येकचतुष्के ४ वर्णचतुष्के इति वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शचतुष्के ४ अगुरुचतुष्के इति अगुरुलघूपघातपरघातोच्छ्वासचतुष्के ४ एकेन्द्रिये १ पञ्चेन्द्रिये १ स्थावरे १ निर्माणे १ अप्रशस्तविहायोगतौ १ अस्थिरषट्के इति अस्थिराशुभदुर्भगदुःस्वरानादेयायशःकीर्तिषट्के ६ एतासु एकचत्वारिंशत्प्रकृतीषु ४१ प्रत्येकं विंशतिकोटीकोटिसागरोपमाणि २० उत्कृष्टस्थितिबन्धो ज्ञातव्य ॥१२५-१२६॥

संस्थान और चार संहननोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध दो-दो सागर पहले-पहले तक कम करना चाहिए। अर्थात् वामनसंस्थान और कीलक संहननका अठारह, कुब्जक संस्थान और अर्धनाराच संहननका सोलह, स्वातिसंस्थान और नाराच संहननका चौदह, न्यग्रोध परिमण्डलसंस्थान और वज्रनाराचसंहननका बारह, तथा समचतुरस्रसंस्थान और वज्रवृषभनाराच संहननका दश कोड़ाकोड़ी सागरप्रमाण है। विकलेन्द्रिय अर्थात् द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति और सूक्ष्मादि तीन; इन छह प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध अठारह कोड़ाकोड़ी सागरप्रमाण है ॥१२४॥

अरति, शोक, नपुंसकवेद; तिर्यंचगति, भय, नरकगति, तैजस, औदारिक इन पाँचका जोड़ा, वैक्रियिक आतप इन दो का जोड़ा, नीचगोत्र, त्रस, वर्ण, अगुरुलघु इन तीनोंकी चौकड़ी एकेन्द्रिय जाति, पंचेन्द्रिय जाति, स्थावर, निर्माण, असद्गमन (अप्रशस्तविहायोगति) और अस्थिरादि छह; इन इकतालीस प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध बीस कोड़ाकोड़ी सागरप्रमाण है ॥१२५-२६॥

---

1 गो० क० १३०-१३१।

हस्स रदि उच्च पुरिसे थिरछक्के सत्थगमणदेवदुगे ।
तस्सद्धमंतकोडाकोडी आहार-तित्थयरे[1] ॥१२७॥

हा १ र १ उ १ पु १ थिरादि ६ म १ दे २ सा० १० कोडा० । आ २ ति १ सा० अंतको० ।

हास्ये १ रतौ १ उच्चैर्गोत्रे १ पुंवेदे १ स्थिरषट्के इति स्थिर १ शुभ २ सुभग ३ सुस्वरा ४ देय ५ यश कीर्ति ६ षट्के प्रशस्तविहायोगतौ १ देवगति-देवगत्यानुपूर्वीद्विके २ इति त्रयोदशप्रकृतीषु तस्याः विंशतेरर्धं दशकोटीकोटिसागरोपमाणि उत्कृष्टस्थितिबन्धो भवति । आहारकद्वये तीर्थकृतश्चोत्कृष्टस्थितिबन्धः अन्तःकोटीकोटिसागरोपमाणि । कोटीसागरोपमोपरि कोटाकोटिसागरोपममध्या सा [1]अन्तःकोटीकोटिसंज्ञा ॥१२७॥

सुर-णिरयाऊणोघं णर-तिरियाऊण तिण्णि पल्लाणि ।
उक्कस्सट्ठिदिबंधो सण्णीपज्जत्तगे जोगे[2] ॥१२८॥

सु १ नि १ सा० ३३ । न १ ति १ प० ३ ।

सुर-नारकायुषोरुत्कृष्टस्थितिबन्धः ओघवत् मूलप्रकृतिवत् त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, तिर्यङ्मनुष्यायुषोः त्रीणि पल्योपमानि ३ । अयमुत्कृष्टस्थितिबन्धः संज्ञिपर्याप्तानां जीवानामेव भवति । 'योग्ये'[2] इत्यनेनायं संसारकारणत्वादशुभत्वात् शुभाशुभकर्मणां चातुर्गतिकसंक्लिष्टैर्जीवैरेव बध्यत इत्यर्थः ॥१२८॥

आयुस्त्रयवर्जितशुभाशुभप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिकारणं संक्लेश एवेत्याह—

सव्वट्ठिदीणमुक्कस्सओ दु उक्कस्ससंकिलेसेण ।
विवरीदेण जहण्णो आउगतिगवज्जियाणं तु[3] ॥१२९॥

तु पुनः तिर्यङ्-मनुष्य-देवायुर्वर्जितसर्वप्रकृतिस्थितीनां उत्कृष्टस्थितिबन्धनं उत्कृष्टसंक्लेशेन भवति ।

हास्य, रति, उच्चगोत्र, पुरुषवेद, स्थिरादि छह, प्रशस्तविहायोगति, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी; इन तेरह प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध ऊपरकी प्रकृतियोंसे आधा अर्थात् दश कोड़ाकोड़ी सागरप्रमाण है। आहारकशरीर, आहारक आङ्गोपाङ्ग और तीर्थंकर इन तीन-प्रकृतियोंका स्थितिबन्ध अन्त:कोड़ाकोड़ी अर्थात् कोड़िसे ऊपर और कोड़ाकोड़ीसे नीचे इतने सागर प्रमाण है ॥१२७॥

देवायु और नरकायु इन दोनोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध मूलप्रकृतिके समान तेतीस सागर है। मनुष्यायु और तिर्यगायुका उत्कृष्ट स्थिति बन्ध तीन पल्यप्रमाण है। तीन शुभ आयुके सिवाय शेप कर्मोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध संज्ञी, पंचेन्द्रिय, पर्याप्तक, योग्य जीवके ही होता है, हरएकके नहीं होता ॥१२८॥

अब उत्कृष्ट स्थितिबन्धके कारणभूत परिणामोंका निर्देश करते हैं—

तीन आयुकर्म अर्थात् तिर्यंच, मनुष्य और देवायुके विना शेष एकसौ सत्तरह प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध यथासंभव उत्कृष्ट संक्लेश परिणामोंसे होता है और जघन्य स्थितिबन्ध विपरीत परिणामोंसे अर्थात् संक्लेशसे उल्टे उत्कृष्ट विशुद्ध परिणामोंसे होता है। तीन आयुकर्मोंका इससे विपरीत अर्थात् उत्कृष्ट विशुद्ध परिणामोंसे उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है उत्कृष्ट संक्लेश परिणामोंसे जघन्य स्थितिबन्ध होता है ॥१२९॥

---

१. गो० क० १३२ । २. गो० क० १३३ । ३. पञ्च सं ४, ४२५ । गो० क० १३४ ।

1. ब किंचिन्न्यूनकोटीकोटिसागरोपमाणि । 2. ब अथवा जोगे इति योगात् प्राप्य उत्कृष्टस्थितिबन्धो भवतीत्यर्थः । 1. ब कषायेन, उत्कृष्टाशुभपरिणामेन ।

तु पुनः तासां तिर्यङ्मनुष्यदेवायुर्वर्जितसर्वप्रकृतिस्थितीनां जघन्यस्थितिबन्धनं [विपरीतेन] जघन्य-संक्लेशेन [अर्थात्] उत्कृष्टविशुद्धपरिणामेन भवति । तत्त्रयस्य तिर्यङ्मानुष्यदेवायुष्कत्रयस्य तूत्कृष्टस्थिति-बन्धनं उत्कृष्टविशुद्धपरिणामेन जघन्यस्थितिबन्धनं तद्विपरीतेन भवतीत्यर्थः ॥१२९॥

उत्कृष्टस्थितिबन्धकमाह—

सव्वुक्कस्सट्ठिदीणं मिच्छाइट्ठी दु बंधगो भणिदो ।
आहारं तित्थयरं देवाउं वा विमोत्तूणं[1] ॥१३०॥

आहारकशरीराऽऽहारकशरीराङ्गोपाङ्गद्वयं तीर्थंकरत्वं देवायुश्चेति चत्वारि मुक्त्वा शेष ११६ प्रकृति-सर्वोत्कृष्टस्थितीनां मिथ्यादृष्टिरेव जीवो बन्धको भणित. । तच्चतुर्णां आहारकाऽऽहारकाङ्गोपाङ्गतीर्थंकरदेवायुषां तु बन्धको सम्यग्दृष्टिरेव जीवो भवति ॥१३०॥

तत्रापि विशेषमाह—

देवाउगं पमत्तो आहारयमप्पमत्तविरदो दु ।
तित्थयरं च मणुस्सो अविरदसम्मो समज्जेइ[2] ॥१३१॥

देवायुः उत्कृष्टस्थितिकं प्रमत्तगुणस्थानवर्तिमुनिरेवाप्रमत्तगुणस्थानाभिमुखो बध्नाति, अप्रमत्ते देवायु-र्व्युच्छित्तौ अपि तत्र सातिशयं तीव्रविशुद्धित्वेन तदबन्धात् । निरतिशये चोत्कृष्टासम्भवात् । तु पुनः आहा-रकद्वयं उत्कृष्टस्थितिकं अप्रमत्त. प्रमत्तगुणस्थानाभिमुख संक्लिष्ट एव बध्नाति, आयुस्त्रयवर्जितानां उत्कृष्ट-स्थितिरुत्कृष्टसंक्लेशेन इत्युक्तत्वात् । तीर्थंकरमुत्कृष्टस्थितिकं नरकगतिगमनाभिमुखमनुष्यासंयतसम्यग्दृष्टिरेव जीवो बध्नाति ॥१३१॥

शेषाणां ११६ प्रकृतीनां उत्कृष्टस्थितिबन्धकमिथ्यादृष्टीन् गाथाद्वयेनाऽऽह—

णर-तिरिया सेसाऊ[3] वेगुव्वियछक्क वियल-सुहुमतियं ।
सुर-णिरया ओरालिय-तिरियदुगुज्जोव-संपत्तं ॥१३२॥

अब उत्कृष्ट स्थितिबन्धके करनेवाले स्वामियोंका निर्देश करते हैं—

आहारकशरीर, आहारकशरीर-आङ्गोपाङ्ग, तीर्थंकर और देवायु इन चार प्रकृतियोंको छोड़कर शेष एकसौ सोलह प्रकृतियोंकी उत्कृष्ट स्थितियोंका बन्ध करनेवाला मिथ्यादृष्टि जीव कहा गया है ॥१३०॥

अब उक्त चार प्रकृतियोंके बन्ध करनेवाले स्वामियोंका निर्देश करते हैं—

देवायुका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध प्रमत्तसंयत करता है। आहारक शरीर और आहारक आंगोपांगका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध अप्रमत्त संयत करता है और तीर्थंकर प्रकृतिका उत्कृष्ट-स्थितिबन्ध अविरतसम्यग्दृष्टि मनुष्य करता है ॥१३१॥

अब उक्त चार प्रकृतियोंके अतिरिक्त शेष जो एक सौ सोलह प्रकृतियाँ हैं उनके बन्ध करनेवाले मिथ्यादृष्टि जीवोंका विशेषरूपसे निरूपण करते हैं—

देवायुसे शेष नरकादि तीन आयु, वैक्रियिकषट्क, द्वीन्द्रियादि तीन विकलेन्द्रिय जाति,

---

१. पञ्चसं० ४, ४२६ गो० को० १३५ । २. पञ्चसं० ४, ४२७ गो० क० १३६ । ३. ब सेसाउं ।

देवा पुण एइंदिय आदावं थावरं च सेसाणं।
उक्कस्ससंकिलिट्ठा चदुगदिआ ईसिमज्झिमया ॥१३३॥

नर-तिर्यञ्चः आ ३ वै ६ वि ३ सू ३। सुर-नारकाः औ २ ति २ उ १ अ १। देवाः ए १ आ १ था १। उत्कं २८ शेषाः।

नरक-तिर्यङ्-मनुष्यायूंषि ३ वैक्रियिकषट्कमिति वैक्रियिक-वैक्रियिकाङ्गोपाङ्ग-देवगति-देवगत्यानुपूर्वी-नरकगति-नरकगत्यानुपूर्वीति वैक्रियिकषट्कम् ६ विकलत्रयमिति द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रियत्रिकं ३ सूक्ष्मत्रयमिति सूक्ष्मसाधारणाऽपर्याप्तत्रयम्; इत्येतानि उत्कृष्टस्थितिकानि नरास्तिर्यञ्चश्च बध्नन्ति। औदारिकौदारिकाङ्गोपाङ्गद्वयं २ तिर्यग्गति-तिर्यग्गत्यानुपूर्व्यद्वयं २ उद्योत. १ असम्प्राप्तसृपाटिकसंहननं १ इत्येतानि उत्कृष्टस्थितिकानि सुरनारका एव बध्नन्ति। एकेन्द्रिया १ तप २ स्थावराणि उत्कृष्टस्थितिकानि पुनः देवा बध्नन्ति। शेषाणां द्वानवतिप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धं उत्कृष्टसंक्लिष्टा मिथ्यादृष्टय ईषन्मध्यमसंक्लिष्टाश्च[1] चातुर्गतिका जीवा बध्नन्तीत्यर्थं ॥१३२ १३३॥

अथ मूलप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धमाह—

बारस य वेयणीए णामागोदे य अट्ठ य मुहुत्ता।
भिण्णमुहुत्तं तु ठिदी जहण्णयं सेसपंचण्हं ॥१३४॥

ज्ञा० द० अन्त०। वे० मु० १२। मो० आ० अन्त०। ना० गो० मु० ८। अं० अन्त०।

वेदनीयं कर्मणि जघन्यस्थितिबन्धो द्वादश [2]मुहूर्ताश्चतुर्विंशतिघटिकाः २४ भवतीत्यर्थः। नाम-गोत्रयो द्वयोः कर्मणोः जघन्यस्थितिबन्ध अष्टौ [3]मुहूर्ताः षोडश घटिका १६ भवति। तु पुनः शेषपञ्चानां ज्ञानावरण-दर्शनावरण-मोहनीयाऽऽयुरन्तरायाणां पञ्चानां कर्मणां [4]एकैकोऽन्तर्मुहूर्तो जघन्यस्थितिबन्धो भवति ॥१३४॥

सूक्ष्मादि तीन इन पन्द्रह प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध मनुष्य और तिर्यंच मिथ्यादृष्टि जीव ही करते हैं। औदारिक शरीर, औदारिक आंगोपांग, तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, उद्योत और सृपाटिका संहनन इनका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध देव और नारकी मिथ्यादृष्टि जीव ही करते हैं। एकेन्द्रियजाति, आतप और स्थावर इन तीन प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध मिथ्यादृष्टि देव करते हैं। शेष बानवे प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध उत्कृष्ट संक्लेश परिणामवाले तथा ईषन्मध्यम परिणामवाले चारों गतिके मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं ॥१३२-१३३॥

विशेषार्थ—उत्कृष्ट स्थितिके बन्धयोग्य असंख्यात लोक-प्रमाण संक्लिष्ट परिणामोंके पल्योपमके असंख्यातवें भागप्रमाण खण्ड करनेपर जो अन्तिम खण्ड प्राप्त होता है, उसे उत्कृष्ट संक्लेश परिणाम कहते हैं। प्रथम खण्डका नाम ईषत् संक्लेश है। और दोनोंके मध्यवर्ती परिणामोंकी मध्यम संक्लेश संज्ञा है।

अब मूलप्रकृतियोंका जघन्य स्थितिबन्ध बतलाते हैं—

वेदनीयकर्मका जघन्य स्थितिबन्ध बारह मूहूर्त्त है, नाम तथा गोत्रकर्मका आठ मुहूर्त्त है। शेष बचे पाँच कर्मोंका जघन्य स्थितिबन्ध अन्तर्मूहूर्त्त-प्रमाण है ॥१३४॥

---

१. गो० क० १३७–१३८। २. पञ्चसं० ४, ४०९ गो० क० १३९।

1. ब ईषन्मध्यमपरिणामाः मिथ्यादृष्टयो वा। 2. ब एवं जघन्यस्थितिबन्धं सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थाने बध्नाति। 3. ब इयं स्थितिर्दशमगुणस्थाने ज्ञातव्या। 4. ब ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणां त्रयाणां जघन्यस्थितिः दशमगुणस्थाने ज्ञातव्या। मोहनीयस्य नवमगुणस्थाने।

अथोत्तरप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धं गाथाचतुष्टयेनाऽऽह—

लोहस्स सुहुमसत्तरसाणमोघं दुगेक्कदलमासं ।
कोहतिए पुरिसस्स य अट्ठ य वासा[1] जहण्णठिदी[2] ॥१३५॥

लोभस्य सूक्ष्मसाम्परायबन्धसप्तदशानां प्रकृतीनां च जघन्यस्थितिबन्धः ओघः मूलप्रकृतिवद् भवति । तद्यथा—नवमगुणस्थाने लोभस्य जघन्यस्थितिबन्धोऽन्तर्मुहूर्त्तकालो भवति । सूक्ष्मसाम्पराये ज्ञानावरणपञ्चकं ५ अन्तरायपञ्चकं ५ चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनचतुष्कं ४ एतासां चतुर्दशप्रकृतीनां १४ अन्तर्मुहूर्त्तकालो जघन्यस्थितिबन्धो भवति । तथा सूक्ष्मसाम्पराये यशस्कीर्त्त्युच्चगोत्रस्य च जघन्यस्थितिबन्धोऽष्टौ मुहूर्त्ता भवति । सातवेदनीयस्य जघन्यस्थितिबन्धो द्वादश १२ मुहूर्त्ताः । एवं सूक्ष्मसाम्पराये सप्तदशप्रकृतीनां १७ यथासम्भवजघन्यस्थितिबन्धो ज्ञातव्य । 'कोहतिए दुगेक्कदलमासं' इति क्रोधस्य जघन्यस्थितिबन्धो द्वौ मासौ २ । मानस्य जघन्यस्थितिबन्ध एको मास १ । मायाया जघन्यस्थितिबन्धोऽर्धमासः । पुंवेदस्याष्टवर्षाणि ८ जघन्यस्थितिबन्ध. ॥१३५॥

तित्थाहाराणंतोकोडाकोडी जहण्णठिदिबंधो ।
खवगे सग-सगबंधच्छेदणकाले हवे णियमा[3] ॥१३६॥

तीर्थकराऽऽहारकद्वययोरन्त कोटीकोटिसागरोपमाणि । अयं जघन्यस्थितिबन्धः सर्वोऽपि क्षपकेषु स्व-स्वबन्धव्युच्छित्तिकाले एव नियमाद्भवति ॥१३६॥

भिण्णमुहुत्तो णर-तिरियाऊणं वासदससहस्साणि ।
सुर-णिरयआउगाणं जहण्णओ[4] होइ ठिदिबंधो[5] ॥१३७॥

नर-तिर्यगायुषो जघन्यस्थितिबन्धोऽन्तर्मुहूर्त्तो भवति । सुरनारकायुषो. जघन्यस्थितिबन्धो दश-सहस्रवर्षाणि भवति ॥१३७॥

अब उत्तरप्रकृतियोंका जघन्य स्थितिबन्ध बतलाते हैं—

संज्वलन लोभ कषाय और दशवें सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमें बँधनेवाली सत्तरह प्रकृतियोंका जघन्य स्थितिबन्ध मूलप्रकृतियोंके समान जानना चाहिए। अर्थात् यशःकीर्ति और उच्चगोत्रका आठ-आठ मुहूर्त्त, सातावेदनीयका बारह मुहूर्त्त, पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पाँच अन्तराय इन चौदहका तथा लोभ प्रकृतिका जघन्य स्थितिबन्ध एक-एक अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण होता है। क्रोधादि तीनका अर्थात् संज्वलन क्रोध, मान और मायाका क्रमसे दो मास, एक मास और पन्द्रह दिन प्रमाण जघन्य स्थितिबन्ध होता है। पुरुषवेदका जघन्य स्थितिबन्ध आठ वर्ष-प्रमाण होता है ॥१३५॥

तीर्थंकर और आहारकद्विक इन तीन प्रकृतियोंका जघन्य स्थितिबन्ध अन्तः कोड़ाकोड़ी सागर-प्रमाण होता है। यह जघन्य स्थितिबन्ध क्षपक श्रेणीवाले जीवोंके अपनी-अपनी बन्ध-व्युच्छित्तिके समयमें ही नियमसे होता हैं ॥१३६॥

मनुष्यायु और तिर्यगायुका जघन्य स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्त्त है। देवायु और नरकायुका जघन्य स्थितिबन्ध दश हजार वर्षप्रमाण होता है ॥१३७॥

---

१. ब वस्सा । २. गो० क० १४० । ३. गो० क० १४१ । ४. ब जहण्णयं । ५. गो० क० १४२ ।

सेसाणं पज्जत्तो बादर एइंदिओ विसुद्धो य ।
बंधदि सव्वजहण्णं सग-सगउक्कस्सपडिभागे[1] ॥१३८॥

पूर्वगाथोक्ताभ्य एकोनत्रिंशत्प्रकृतिभ्यः २९ शेषैकनवति ९१ प्रकृतीनां मध्ये वैक्रियिकषट्क ६ मिथ्यात्वरहितानां चतुरशीति ८४ प्रकृतीनां जघन्यस्थितिं बादरैकेन्द्रियपर्याप्तो जीवस्तद्योग्यविशुद्ध एव बध्नाति स्व-स्वोत्कृष्टप्रतिभागेन त्रैराशिकविधानेन इत्यर्थः ॥१३८॥

तद्यथा—

एयं पणकदि पण्णं सयं सहस्सं च मिच्छवरबंधो ।
इगि-विगलाणं बंधो अवरं पल्लासंखूण संखूणं[2] ॥१३९॥

ठिदिबंधो समत्तो ।

एकेन्द्रिया जीवाः मिथ्यात्वोत्कृष्टस्थितिं दर्शनमोहमेकसागरोपमां बध्नन्ति । द्वीन्द्रियजीवाः मिथ्यात्वोत्कृष्टस्थितिं पञ्चविंशतिसागरोपमाणि २५ बध्नन्ति । त्रीन्द्रियप्राणिनः मिथ्यात्वोत्कृष्टस्थितिं पञ्चाशत्सागरोपमाणि ५० बध्नन्ति । चतुरिन्द्रियजीवाः मिथ्यात्वोत्कृष्टस्थितिं शतसागरोपमाणि १०० बध्नन्ति । असंज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवाः सहस्रसागरोपमाणि १००० बध्नन्ति दर्शनमोहोत्कृष्टस्थितिबन्धम् । संज्ञिनः पर्याप्ता जीवा एव मिथ्यात्वोत्कृष्टस्थितिबन्धं सप्तति ७० कोटीकोटिसागरोपमाणि बध्नन्ति । [1]तज्जघन्यस्तु एकेन्द्रिय द्वीन्द्रियादीनां स्व-स्वोत्कृष्टात् [2]पल्यासंख्येय-पल्यसंख्येयभागोनक्रमो भवति ॥१३९॥

उपर्युक्त उनतीस प्रकृतियोंके सिवाय इक्यानवे प्रकृतियाँ शेष रहती हैं। उनमेंसे वैक्रियिकषट्क और मिथ्यात्व इन सात प्रकृतियोंके बिना शेष चौरासी प्रकृतियोंकी जघन्य स्थितियोंको बादर पर्याप्त यथायोग्य विशुद्ध परिणामोंवाला एकेन्द्रिय जीव ही बाँधता है। उसका प्रमाण गणितके अनुसार त्रैराशिक विधिसे भाग करनेपर अपनी-अपनी स्थितिके प्रतिभागका जो प्रमाण आवे उतना जानना चाहिए ॥१३८॥

अब उसी जघन्यस्थितिकी विधि और प्रमाणको दिखलाते हैं—

एकेन्द्रिय और विकलचतुष्क अर्थात् द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय ये पाँच प्रकारके जीव क्रमशः मिथ्यात्वकर्मकी उत्कृष्ट स्थितिका बन्ध एक सागर, पचीस सागर, पचास सागर, सौ सागर और एक हजार सागर-प्रमाण करते हैं। एकेन्द्रिय जीव अपनी उत्कृष्ट स्थितिमें से पल्यका असंख्यातवाँ भाग कम करनेपर जो प्रमाण बाकी रहता है उतनी जघन्य स्थितिको बाँधते हैं और विकल-चतुष्क जीव अपनी-अपनी उत्कृष्ट स्थितिमें से पल्यके संख्यातवें भाग कम करनेपर जो प्रमाण शेष रहता है उतनी जघन्य स्थितिको बाँधते हैं ॥१३९॥

विशेषार्थ—इस गाथामें एकेन्द्रिय जीवोंसे लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों तकके मिथ्यात्वके उत्कृष्ट और जघन्य स्थितिबन्धका प्रतिपादन किया गया है। जिसका खुलासा यह है कि यदि एकेन्द्रिय जीव तीव्रसे तीव्र भी संक्लेशसे परिणत होकर मिथ्यात्वकर्मका बन्ध करे, तो

---

१. गो० क० १४३ । २. गो० क० १४४ ।

1 ब मिथ्यात्वजघन्यस्थितिबन्धः । 2. एकेन्द्रियाणां दर्शनमोहस्य स्वोत्कृष्टस्थितिबन्धाज्जघन्य-बन्धः पल्यासंख्येयभागोनः । द्वीन्द्रियादिषु स्वोत्कृष्टस्थितिबन्धात्पल्यसंख्येयभागोनः ।

एकेन्द्रियादीनां दर्शनमोहस्योत्कृष्टस्थितिबन्धं व्याख्याय चारित्रमोहनीय-ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीयान्तराय-नाम-गोत्राणां उत्कृष्टस्थितिबन्धः कियान् स्यादित्याशङ्कायां श्रीगोम्मटसारोक्तगाथामाह—

जदि सत्तरिस्स एत्तियमेत्तं किं होदि तीसियादीणं ।
इदि संपाते सेसाणं इगि-विगलेसु उभयठिदी[1] ॥१६॥

सप्ततिकोटीकोटिसागरोपमोत्कृष्टस्थितिकमिथ्यात्वस्य बन्धे सति यदि एकेन्द्रियः एकसागरोपममात्रं दर्शनमोहं बध्नाति, तदा तीसियादीनां एकेन्द्रियस्योत्कृष्टस्थितिबन्ध कियान् लब्धो भवतीत्याह—चालीसियानां चारित्रमोहनीयषोडशकषायाणां एकसागरोपमचतुःसप्तभागाः $\frac{4}{7}$ [सा० $\frac{4}{7}$]। तीसियानां असातवेदनीयैकान्नविंशतिघातिनां १९ एकसागरोपमत्रिसप्तभागाः $\frac{3}{7}$ [सा० $\frac{3}{7}$]। वीसियानां हुण्डासम्प्राप्तासृपाटिकाऽरतिशोकषण्ढवेदतिर्यग्गति-तिर्यग्गत्यानुपूर्व्यद्वय-भयद्विक-तैजसद्विकौदारिकद्विकाऽऽतपद्विकनीचैर्गोत्र-त्रसचतुष्क-वर्णचतुष्कागुरुलघूपघातपरघातोच्छ्वासैकेन्द्रियपञ्चेन्द्रियस्थावरनिर्माणासद्गमनास्थिरषट्कानां ३९ एक-सागरोपमद्वि-सप्तभागा $\frac{2}{7}$ [सा० $\frac{2}{7}$]। पुन अनेन मध्यात्त्रैराशिकक्रमेण शेषाणां सागरपञ्चदश १५ कोटीकोटिस्थितिसातवेदनीय-स्त्रीवेद-मनुष्ययुग्मानां सागराष्टादश १८ कोटीकोटिस्थिति-वामन-कीलित-विकलत्रय-सूक्ष्मत्रयाणां सागरषोडश १६ कोटीकोटिस्थिति-कुब्जकार्धनाराचयोः सागरचतुर्दश १४ कोटीकोटि-स्थिति-स्वातिनाराचयोः सागरद्वादश १२ कोटीकोटिस्थितिन्यग्रोध-वज्रनाराचयोः सागरदश १० कोटीकोटि-स्थितिसमचतुरस्र-वज्रवृषभनाराचयोः हास्यरत्युच्चैर्गोत्र पुंवेद-स्थिरषट्कसद्गमनानां च उत्कृष्टस्थितिबन्धं एकेन्द्रियस्य साधयेत। एवं पञ्चविंशतिं २५ पञ्चाशतं ५० शत १०० सहस्रं १००० च सागरोपमाणि चतुरः फलराशीन् कृत्वा चालीसियादीनि पृथक्-पृथक् इच्छाराशीन् कृत्वा प्रमाणराशि प्राक्तनमेव कृत्वा लब्धानि द्वीन्द्रियादीनां चालीसियादिगतोत्कृष्टस्थितिबन्धप्रमाणानि भवन्ति ।

वह एक सागर-प्रमाण स्थितिको बाँधेगा, इससे अधिक नहीं। और वही जीव यदि मन्दसे भी मन्द संक्लेशसे परिणत होकर मिथ्यात्वका बन्ध करे, तो पल्यके असंख्यातवें भागसे कम एक सागर-प्रमाण स्थितिको बाँधेगा, इससे कमकी नहीं। विकल-चतुष्क जीवोंका जो उत्कृष्ट स्थितिबन्ध बतलाया गया है, उसमेंसे पल्यका संख्यातवाँ भाग कम कर देनेपर जो प्रमाण शेष रहता है, उतनी-उतनी जघन्य स्थितिका वे जीव बन्ध करते हैं, उससे कमका नहीं। यह तो हुई केवल मिथ्यात्वके उत्कृष्ट और जघन्य स्थितिबन्धकी बात। किन्तु ये ही जीव मिथ्यात्वके सिवाय शेष कर्मोंकी कितनी उत्कृष्ट स्थिति और जघन्य स्थितिका बन्ध करते हैं ? इस प्रश्नके समाधानके लिए टीकाकारने गो० कर्मकाण्डकी 'जदि सत्तरिस्स' इत्यादि एक करण-सूत्र-गाथा लिखकर त्रैराशिक विधिसे शेष कर्मोंकी उत्कृष्ट और जघन्य स्थितिके निकालनेका उपाय बतलाया है, जो कि इस प्रकार जानना चाहिए—यदि कोई एकेन्द्रिय जीव सत्तर कोड़ाकोड़ीसागरोपम उत्कृष्टस्थितिवाले मिथ्यात्वकी एक सागर-प्रमाण उत्कृष्ट स्थितिका बन्ध करता है, तो वही तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम उत्कृष्ट स्थितिवाले ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय इन चारों कर्मोंकी कितनी उत्कृष्ट स्थितिका बन्ध करेगा ? इस प्रकार त्रैराशिक करनेपर $\frac{3}{7}$ तीन बटे सात सागर अर्थात् एक सागरके समान सात भाग करनेपर उनमेंसे तीन भाग-प्रमाण उत्कृष्ट स्थितिका बन्ध करेगा। इसी प्रकार त्रैराशिक विधिसे निकालनेपर वही जीव चालीस कोड़ाकोड़ी सागर-प्रमाण चारित्र मोहनीयका $\frac{4}{7}$ चार बटे सात सागर-प्रमाण उत्कृष्ट स्थितिबन्ध करेगा। वही जीव बीस कोड़ीकोड़ी सागरकी उत्कृष्ट स्थितिवाले नाम और गोत्रका $\frac{2}{7}$ दो बटे सात सागर-प्रमाण उत्कृष्ट स्थितिका बन्ध करेगा। यह तो हुआ मूलकर्मोंके उत्कृष्ट स्थितिबन्धका निरूपण। अब आगे टीकाकारने इसी ऊपरके

---

1. गो० क० १४५ ।

उत्कृष्टस्थितिबन्धसंदृष्टिर्यथा—

	द० मि०	चा० मो० १६	ज्ञा०द०अं०वे० अं० २०	ना०नी०गो० प्र० ३९
पर्याप्तैकेन्द्रियस्योत्कृष्टस्थितिबन्धः—	सा० १	सा० ४/७	सा० ३/७	सा० २/७
द्वीन्द्रियस्योत्कृष्टस्थितिबन्धः—	सा० २५	सा० १४ २/७	सा० १० ५/७	सा० ७ १/७
त्रीन्द्रियस्योत्कृष्टस्थितिबन्धः—	सा० ५०	सा० २८ ४/७	सा० २१ ३/७	सा० १४ २/७
चतुरिन्द्रियस्योत्कृष्टस्थितिबन्धः—	सा० १००	सा० ५७ १/७	सा० ४२ ६/७	सा० २८ ४/७
असंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्योत्कृष्टस्थितिबन्ध —	सा० १०००	सा० ५७१ ३/७	सा० ४२८ ४/७	सा० २८५ ५/७

एकेन्द्रियबादरपर्याप्तको जीवः दर्शनमोहस्य मिथ्यात्वप्रकृतेरुत्कृष्टस्थितिबन्धं सागरोपममेकं १ बध्नाति। चारित्रमोहस्य षोडशकषायाणां उत्कृष्टस्थितिबन्धं सागरस्य सप्तभागानां मध्ये चतुर्भागान् बध्नाति। ज्ञा० ५ द० ९ अ० ५ असातवे० १ एवं विंशतिप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धं सागरस्य सप्तभागानां मध्ये त्रिभागान् बध्नाति। नामकर्मप्र० हुण्डक १ असम्प्राप्ता० २ अरति ३ ४ शोक ५ नपुं० ६ तिर्यग्द्वयं ८ भय ९ जुगुप्सा १० तैजस ११ कार्मण १२ औदारिकद्विक १४ आतपोद्योत १६ नीचगोत्र १७ त्रसचतुष्क २१ अगुरुलघु २२ उप० २३ पर० २४ उच्छ्वास २५ एकें० २६ पंचे० २७ स्था० २८ नि० २९ असद्गमन ३० वर्णचतुष्क ३४ अस्थिरषट्कं ४० एकेन्द्रियः पर्याप्तो बध्नाति।

द्वीन्द्रियपर्याप्तो दर्शनमोहस्य मिथ्यात्वोत्कृष्टस्थितिबन्धं सा० २५ चारित्रमोहस्य षोडशकषायाणां उ० बं० सा० १४ भा० २/७ ज्ञा० ५ द० ९ असातवे० १ अं० ५ एवं विंशतिप्रकृतीनां उत्कृष्टस्थितिबन्धं सा० १० भा० ५/७ नामप्र० ३९ नीचगोत्रस्य १ उत्कृ० सा० ७ भाग १/७ बध्नाति।

त्रीन्द्रियजीवः पर्याप्तो दर्शनमोहस्य मिथ्यात्व प्र० उ० सा० ५० बध्नाति। चारित्रमोहस्य षोडश-कषायाणां उ० सा० २८ भा० ४/७। ज्ञा० ५ द० ९ अं० ५ असातवे० १ एवं २० उ० सा० २१ भा० ३/७। नामप्र० ३९ नीच गो० १ एवं ४० प्रकृतीनां स्थितिबं० सा० १४ भा० २/७ बध्नाति। चतुरिन्द्रियः पर्याप्तो दर्शनमो० मिथ्या० उत्कृ० सा० १०० चारित्रमोहस्य १६ प्र० उत्कृष्टस्थितिबन्धं साग० ५७ भा० १/७ ज्ञा० ५ द० ९ अं० ५ असातवे० १ एवं विंशतिप्रकृतीनां उ० सा० ४२ भा० ६/७ नामप्र० ३९ नीचगो० १ एतासां ४० प्र० उत्कृ० सा० २८ भा० ४/७ बध्नाति।

करणसूत्र-प्रतिपादित नियमके अनुसार उत्तर प्रकृतियोंके भी उत्कृष्ट स्थितिबन्धको निकाला है, जो इस प्रकार है—

एकेन्द्रियजीवके चारित्र मोहनीयकी १६ कषायोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध ४/७ सागर; ज्ञाना-वरणकी ५ दर्शनावरणकी ९ अन्तरायकी ५ और असातावेदनीय इन २० प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध ३/७ सागर; हुण्डकसंस्थान, सृपाटिकासंहनन, अरति, शोक, नपुंसकवेद, तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, भय, जुगुप्सा, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, औदारिकशरीर, औदारिक-अंगो-पांग, आतप, उद्योत, नीचगोत्र, त्रसचतुष्क, वर्णचतुष्क, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास एकेन्द्रियजाति, पंचेन्द्रियजाति, स्थावर, निर्माण, अप्रशस्तविहायोगति, और अस्थिरषट्क इन ३९ प्रकृतियोंका २/७ सागर-प्रमाण उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होगा।

इसी प्रकार ऊपर बतलायी गयी त्रैराशिकविधिसे १५ कोड़ाकोड़ी सागरकी उत्कृष्ट स्थितिवाले सातावेदनीय, स्त्रीवेद, मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वीका; १८ कोड़ाकोड़ी सागरकी उत्कृष्ट स्थितिवाले वामन संस्थान, कीलकसंहनन, विकलत्रिक, सूक्ष्मत्रिकका; १६ कोड़ाकोड़ी सागरकी उत्कृष्ट स्थितिवाले कुब्जकशरीर और अर्ध-नाराचसंहननका; १४ कोड़ाकोड़ी सागरकी उत्कृष्ट स्थितिवाले स्वातिसंस्थान और नाराचसंहननका; १२ कोड़ाकोड़ी सागरकी उत्कृष्ट

असंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तो दर्शनमोहस्य मिथ्या० उ० साग० १००० चारित्रमो० १६ प्र० सा० ५७१ भा० $\frac{३}{७}$ ज्ञा० ५ द० ९ अं० ५ असातवे० १ एवं २० उ० सा० ४२८ भा० $\frac{४}{७}$ नामप्र० ३९ नीचगो० १ उत्कृ० सा० २८५ भा० $\frac{५}{७}$ बध्नाति।

एकेन्द्रियस्य—दर्शनमोहस्य सागर० १

चारित्रमोहस्य ,, $\frac{४}{७}$

ज्ञा० द० वे० अं०,, $\frac{३}{७}$

ना० गो० ,, $\frac{२}{७}$

द्वीन्द्रियस्य—२५ दर्शनमोहस्य उत्कृष्टस्थितिबन्ध. सा० २५

$\frac{१००}{७}$ चारित्रमोहस्य सागरो० १४ भा० $\frac{२}{७}$

$\frac{७५}{७}$ ज्ञा० द० वे० अन्त० उ० सा० १० भा० $\frac{५}{७}$

$\frac{५०}{७}$ नामगोत्रयो० सा० ७ भा० $\frac{१}{७}$*

स्थितिवाले न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान और वज्रनाराचसंहननका; १० कोड़ाकोड़ी सागरकी उत्कृष्ट स्थितिवाले समचतुरस्रसंस्थान, वज्रवृषभनाराचसंहनन, हास्य, रति, उच्चगोत्र, पुरुषवेद, स्थिरषट्क और प्रशस्तविहायोगति इन सभी प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध एकेन्द्रियजीवोंके सिद्धकर लेना चाहिए।

यह तो हुआ एकेन्द्रियजीवोंके कर्मोंकी उत्तर प्रकृतियोंके उत्कृष्ट स्थितिबन्धका निरूपण। इसी प्रकार २५ सागरकी उत्कृष्ट मिथ्यात्व-स्थितिको बाँधनेवाले द्वीन्द्रियजीवोंके, ५० सागरकी उत्कृष्ट मिथ्यात्व-स्थितिके बाँधनेवाले त्रीन्द्रियजीवोंके; १०० सागरकी उत्कृष्ट मिथ्यात्व-स्थितिके बाँधनेवाले चतुरिन्द्रियजीवोंके तथा १००० सागरकी उत्कृष्ट मिथ्यात्व-स्थितिके बाँधनेवाले असंज्ञी पंचेन्द्रियजीवोंके भी सभी उत्तर प्रकृतियोंके उत्कृष्ट स्थितिबन्धको भी ऊपर बतलायी गयी त्रैराशिक विधिसे निकाल लेना चाहिए। संस्कृत टीकामें जो अंक-संदृष्टि दी गयी है, उसमें त्रैराशिक करनेसे जो प्रमाण निकलता है। वह दिया गया है। उसका खुलासा एकेन्द्रियजीवोंका तो ऊपर कर ही आये हैं। शेषका इस प्रकार जानना चाहिए—

द्वीन्द्रिय पर्याप्तक जीवके दर्शनमोहका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध २५ सागर, चारित्रमोहकी सोलह कषायोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध १४$\frac{२}{७}$ सागर, ज्ञानावरणकी पाँच, दर्शनावरणकी नौ, अन्तरायकी पाँच और असातावेदनीय इन बीस प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध १०$\frac{५}{७}$ सागर, नामकर्मकी ३९ प्रकृतियोंका तथा नीचगोत्रका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध ७$\frac{१}{७}$ सागर होता है।

---

*ब प्रतौ इयान् पाठोऽधिक —

तस्मिंश्री उत्कृष्टेन एकेन्द्रियादीनां उत्कृष्टजघन्यौ स्थितिबन्धौ आह। तदुपरि गोम्मटसारोक्तगाथामाह—

जदि सत्तरिस्स एत्तियमेत्तं किं होदि तीसियादीणं।

इदि संपति सेसाणं इगिविगलेसु उभयठिदी॥

सप्ततिकोटीकोटिसागरोपमोत्कृष्टस्थितिकदर्शनमोह – मिथ्यात्वस्य यदि एक सागरोपममात्रं एकेन्द्रियो जीवो बध्नाति तदा तीसियादीनां ज्ञानावरणादीनां कि भवति लब्धः ? एकेन्द्रिय. पर्याप्तः दर्शनमोहनीयस्य सागरोपमं १ उत्कृष्टस्थितिबन्धं बध्नाति। चारित्रमोहनीयस्य सागरोपमस्य सप्तभागानां मध्ये चतुरो भागान् बध्नाति $\frac{४}{७}$ उत्कृष्टस्थितिम्। ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयान्तरायाणा उत्कृष्टस्थितिबन्धं सागरोपमस्य सप्तभागाः क्रियन्ते तन्मध्ये त्रीन् भागान् बध्नाति। नामगोत्रयो. उत्कृष्टस्थितिबन्धं सागरोपमस्य सप्तभागानां मध्ये द्वौ भागौ $\frac{२}{७}$ बध्नाति।

त्रीन्द्रियस्य—५० दर्शनमोहस्योत्कृष्टस्थितिबन्धः साग० ५०
२००/७ चारित्रमोहस्य उ० साग० २८ भा० ४/७
१५०/७ ज्ञा० द० वे० अं० सा० २१ भा० ३/७
१००/७ नामगोत्रयो सा० १४ भा० २/७

चतुरिन्द्रियस्य—१०० दर्शनमोहस्य उ० स्थितिब० सा० १००
४००/७ चारित्रमोहस्य उ० सा० ५७ भा० १/७
३००/७ ज्ञा० द० वे० अं० सा० ४२ भा० ६/७
२००/७ नामगोत्रयोः सा० २८ भा० ४/७

असंज्ञिनः—१००० दर्शनमोहस्य उ० सा० १०००
४०००/७ चारित्रमोहस्य सा० ५७१ भा० ३/७
३०००/७ ज्ञा० द० वे० अं० सा० ४२८ भा० ४/७
२०००/७ नामगोत्रयो. सा० २८५ भा० ५/७

ए०	प्र० ७०	फ० १	ह० ४०	३०	२०
द्वी०	प्र० ७०	फ० २५	ह० ४०	३०	२०
त्री०	प्र० ७०	फ० ५०	ह० ४०	३०	२०
च०	प्र० ७०	फ० १००	ह० ४०	३०	२०
पं० इ०	प्र० ७०	फ० १०००	ह० ४०	३०	२०

त्रीन्द्रिय पर्याप्तक जीवके दर्शनमोहका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध ५० सागर, चारित्रमोहकी सोलह कषायोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध २८ ४/७ सागर, ज्ञानावरणादि तीन घातिया कर्मोंकी उन्नीस और असातावेदनीय इन बीस प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध २१ ३/७ सागर; नामकर्मकी ३९ और नीचगोत्रका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध १४ २/७ सागर होता है।

चतुरिन्द्रिय पर्याप्तक जीवके मिथ्यात्वका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध १०० सागरका; चारित्र-मोहकी सोलह प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध ५७ १/७ सागरका; ज्ञानावरणादि तीन घातिया-कर्मोंकी उन्नीस और असातावेदनीय इन बीस प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध ४२ ६/७ सागरका; नामकर्मकी उनतालीस और नीचगोत्र इन चालीस प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध २८ ४/७ सागरका होता है।

असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवके मिथ्यात्वका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध १००० सागरका; चारित्रमोहकी सोलह कषायोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध ५७१ ३/७ सागरका; ज्ञानावरणादि तीन घातिया कर्मोंकी उन्नीस और असातावेदनीय इन बीस प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध ४२८ ४/७ सागरका; नामकर्मकी उनतालीस और नीच गोत्र इन चालीस प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध २८५ ५/७ सागरका होता है।

ऊपर द्वीन्द्रियसे लगाकर असंज्ञी पंचेन्द्रियतकके जीवोंके सातों कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थितिका निरूपण किया गया है। इनमें-से जिस जीवके जिस प्रकृतिका जितना उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है, उसमें-से पल्यका संख्यातवाँ भाग कम कर देनेपर वह जीव उस प्रकृतिके उतने जघन्य स्थितिबन्धको करता है।

संज्ञिपञ्चेन्द्रियस्योत्कृष्टस्थितिबन्धः दर्शनमोहमिथ्यात्वस्य कोडा० सा० ७० चारित्रमोहस्य कोडा० सा० ४० । ज्ञा० द० वे० अं० कोडा० सा० ३० । नाम-गोत्रयोः कोडा० सा० २० ।

इति स्थितिबन्धप्रकरणं समाप्तम्

अथानुभागबन्धस्वरूपं[1] गाथाचतुष्केणाऽऽह—

सुहपयडीण विसोही तिव्वो असुहाण संकिलेसेण[1] ।
विवरीदेण जहण्णो अणुभागो सव्वपयडीणं[2] ॥१४०॥

शुभप्रकृतीनां सातादीनां द्वाचत्वारिंशत्संख्योपेतानां ४२ विशुद्धपरिणामेन विशुद्धिगुणेनोत्कृष्टस्य[2] पुरुषस्य तीव्रानुभागो भवति । अशुभप्रकृतीनां असातादीनां द्व्यशीतिसंख्योपेतानां ८२ मिथ्यादृष्ट्युत्कटस्य संक्लेशपरिणामेन च तीव्रानुभागो भवति । विपरीतेन संक्लेशपरिणामेन प्रशस्तप्रकृतीनां जघन्यानुभागो भवति, विशुद्धपरिणामेन अप्रशस्तप्रकृतीनां च जघन्यानुभागो भवति ॥१४०॥

अनुभाग इति किम् ? इति प्रश्ने तत्स्वरूपं प्रथमतः घातिष्वाह—

सत्ती य लता-दारू-अट्ठी-सेलोवमा हु घादीणं ।
दारुअणंतिमभागो त्ति देसघादी तदो सव्वं[3] ॥१४१॥

घातिनां ज्ञानावरण-दर्शनावरण-मोहनीयान्तरायाणां शक्तयः स्पर्धकानि लतादार्वस्थिशैलोपमचतुर्वि-

---

संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवोंके सभी प्रकृतियोंका उत्कृष्ट और जघन्य स्थितिबन्ध मूलग्रन्थमें गा० १२२ से लगाकर गा० १३८ तक बतलाया ही गया है। आयुकर्मका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध ३३ सागर है जो सर्वार्थसिद्धि या सातवें नरक जानेवाले मनुष्य और तिर्यंच जीव वर्तमान भवकी आयुके त्रिभागमें बाँधते हैं। आयुकर्मका जघन्य स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्त है, यह भी मनुष्य या तिर्यंचके ही होता है। उपर्युक्त सर्व कथनकी अर्थ-बोधक संदृष्टियाँ संस्कृत टीकामें दी हुई हैं, जिन्हें पाठक सुगमतासे समझ सकेंगे। विस्तारके भयसे यहाँ नहीं दी जा रही हैं।

इस प्रकार स्थितिबन्ध नामक द्वितीय प्रकरण समाप्त हुआ।

अब अनुभागबन्धका वर्णन करते हैं—

सातावेदनीय आदिक शुभ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध विशुद्धिसे होता है और असातावेदनीय आदि अशुभ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध संक्लेशसे होता है। उक्त प्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध विपरीत परिणामोंसे होता है अर्थात् शुभ प्रकृतियोंका संक्लेशसे और अशुभ प्रकृतियोंका विशुद्धिसे जघन्य अनुभागबन्ध होता है। इस प्रकार सर्व-प्रकृतियोंके अनुभागबन्धका नियम जानना चाहिए ॥१४०॥

अब घाति और अघाति कर्मोंकी अनुभागरूप शक्तिका वर्णन करते हैं—

घातिया कर्मोंके फल देनेकी शक्ति लता (वेलि) दारु (काठ), अस्थि (हड्डी) और शैल (पत्थर) के समान होती है अर्थात् लता आदिकमें जैसे उत्तरोत्तर अधिकाधिक कठोर-

---

१. ब संकिलेसेद । २. पञ्चसं० ४, ४५१, गो० क० १६३ । ३. गो० क० १८० ।

1. अनुभवस्वरूपं—ज्ञानावरणादिकर्मणां यस्तु रसः सोऽनुभवः, अध्यवसायैः परिणामैर्जनितः क्रोधमानमायालोभतीव्रादिपरिणामभावितः शुभः सुखदः, अशुभः असुखदः, स अनुभागबन्धः । यथा-अजागोमहिष्यादीनां क्षीराणां तीव्रमन्दादिभावेन रसविशेषः, तथा कर्मपुद्गलानां तीव्रादिभावेन स्वगत-सामर्थ्यविशेषः शुभः अशुभो वा । 2. ब नोत्कटस्य ।

भागेन तिष्ठन्ति खलु स्फुटम् । तत्र लताभागमादिं कृत्वा दार्वनन्तैकभागपर्यन्तं देशघातिन्यो भवन्ति । तत उपरिदार्वनन्तबहुभागमादिं कृत्वा अस्थि-शैलभागेषु सर्वत्र सर्वघातिन्यो भवन्ति ॥१४१॥

तासां देशघाति-सर्व-घातिनां सर्वासां प्रकृतीनां मध्ये मिथ्यात्वस्य विशेषमाह—

देसो त्ति हवे सम्मं तत्तो दारु-अणंतिमे मिस्सं ।
सेसा अणंतभागा अट्ठि-सिलाफड्डया मिच्छे ॥१४२॥

लताभागमादिं कृत्वा दार्वनन्तैकभागपर्यन्तानि देशघातिस्पर्धकानि सर्वाणि सम्यक्त्वप्रकृतिर्भवति । शेषदार्वनन्तबहुभागेष्वनन्तखण्डीकृतेष्वेकखण्डं जात्यन्तरसर्वघातिमिश्रप्रकृतिर्भवति । शेषदार्वनन्तबहुभाग-बहुभागाः अस्थिशिलास्पर्धकानि च सर्वघातिमिथ्यात्वप्रकृतिर्भवति ॥१४२॥[1]

गुडखंडसक्करामियसरिसा सत्था हु णिंब-कंजीरा ।
विस-हालाहलसरिसा असत्था हु अघादिपडिभागा ॥१४३॥

अणुभागो गदो ।

अघातिनां द्वाचत्वारिंशत्प्रशस्तप्रकृतीनां ४२ प्रतिभागाः शक्तिविकल्पाः गुड-खण्ड-शर्करामृतसदृशाः खलु [स्फुटम्] । अप्रशस्तानां अघातिनां सप्तत्रिंशत्प्रकृतीनां ३७ निम्ब-काञ्जीर-विष-हालाहलसदृशाः खलु स्फुटम् ।[2] उदयापेक्षया सर्वप्रकृतयः १२२ । तासु घातिन्यः प्रकृतयः ४७ । अघातिन्यः प्रकृतयः ७५ ।

पना है वैसे ही इनके फल देनेकी शक्तिमें भी उत्तरोत्तर अधिकाधिक तीव्रता समझना चाहिए, इनमें दारुभागके अनन्तवें भाग तकका शक्तिरूप अंश देशघाती है और दारुके शेष बहुभागसे लेकर शैल भाग तकका शक्तिरूप अंश सर्वघाती है अर्थात् उसके उदय होनेपर आत्माके गुण प्रकट नहीं होते ॥१४१॥

अब दर्शनमोहनीयके मिथ्यात्व आदि भेदोंमे जो विशेषता है उसे बतलाते हैं—

मिथ्यात्व प्रकृतिके लताभागसे लेकर दारुभागके अनन्तवें भागतक देशघाती स्पर्द्धक सम्यक्त्वप्रकृतिके हैं। दारुभागके अनन्तबहुभागके अनन्तवेंभाग प्रमाण भिन्न जातिके सर्वघातिया स्पर्धक मिश्र प्रकृति अर्थात् सम्यग्मिथ्यात्वके हैं। दारुके शेष अनन्त बहुभाग तथा हड्डी और शैलभागरूप स्पर्धक मिथ्यात्व प्रकृतिके जानना चाहिए ॥१४२॥

अब प्रशस्त और अप्रशस्तरूप अघातिया कर्मोंकी शक्तियोंको बतलाते हैं—

अघातिया कर्मोंमें प्रशस्त (पुण्य) प्रकृतियोंके शक्ति-अंश गुड़, खाँड़, मिश्री और अमृतके समान तथा अप्रशस्त (पाप) प्रकृतियोंके शक्ति-अंश निम्ब (नीम), कांजीर, विष और हालाहलके समान जानना चाहिए ॥१४३॥

---

१. गो० क० १८१ । २. गो० क० १८४ ।

1. आमेर-भण्डारस्थप्रतौ टीकापाठोऽयम्—मिथ्यात्वप्रकृतौ देशघाति-पर्यन्तं प्रथमोपशमसम्यक्त्व-परिणामेन गुणसंक्रमभागहारेण बंधापेक्षयैकविधा सत्त्वरूपमिथ्यात्वप्रकृतिः देशघाति-जात्यंतरसर्वघाति-सर्वघातिभेदेन सम्यक्त्व-मिश्र-मिथ्यात्वप्रकृतिभेदेन त्रिधा कृतास्तीति लताभागमादिं त्रिधा कृत्वा दार्वनंतैक-भागपर्यन्तं देशघातिस्पर्द्धकानि सर्वाणि सम्यक्त्वप्रकृतिर्भवेत् । शेष दार्वनन्त बहुभागस्य अनन्तखंडानि कृत्वा तत्रैकं खंडं जात्यंतरसर्वघाति-मिश्रप्रकृतिर्भवति । शेषाऽशेषा दार्वनंतबहुभाग-बहुभागाः अस्थि-शिलास्पर्द्धकानि च सर्वघाति-मिथ्यात्वप्रकृतिर्भवति ।

2. यहाँ पर जो टीकामें संदृष्टि दी है, उसे परिशिष्टमें देखिये ।

एतासु प्रशस्ताः ४२। अप्रशस्ताः प्रकृतयः ३२। अप्रशस्तवर्णचतुष्कमस्तीति तस्मिन् मिलिते ३७ अप्रशस्ताः[1] ॥१४३॥

प्रशस्तप्रकृतीनां—अमृतसदृशमुत्कृष्टं चतुर्थस्थानं भवति। शर्करासदृशमनुत्कृष्टं तृतीयस्थानम्।
खण्डसदृशमजघन्यं द्वितीयस्थानम्। गुडसदृशं जघन्यमेकस्थानं भवति।

अप्रशस्तप्रकृतीनां—हालाहलसमानमुत्कृष्टं चतुर्थस्थानम्। विषसमानमनुत्कृष्टं तृतीयस्थानम्।
कांजीरसमानमजघन्यं द्वितीयस्थानम्। निम्बसमानं जघन्यमेकस्थानं भवति।

इत्यनुभागबन्धः समाप्तः।

विशेषार्थ—कर्मोंके फल देनेकी शक्तिको अनुभाग कहते हैं। प्रकृतिबन्धमें कर्मोंके घाती अघाती भेद बतला आये हैं। उनमें-से घातिया कर्मोंके अनुभागकी उपमा लता, दारु, अस्थि और शैलसे दी गयी है। जिस प्रकार इन चारोंमें उत्तरोत्तर कठोरता अधिक पायी जाती है, उसी प्रकार घातिया कर्मोंके लतासमान एकस्थानीय अनुभागसे काष्ठसमान द्विस्थानीय अनुभाग और अधिक तीव्र होता है। उससे अस्थिसमान त्रिस्थानीय अनुभाग और भी अधिक तीव्र होता है और उससे शैलसमान चतुःस्थानीय अनुभाग और भी अधिक तीव्र होता है। इन चारों जातिके अनुभागोंका बन्ध उत्तरोत्तर संक्लिष्ट, संक्लिष्टतर और संक्लिष्टतम परिणामोंसे होता है। घातिया कर्मोंमें दो भेद हैं—देशघाती और सर्वघाती। देशघाती अनुभाग दारुजातीय द्विस्थानिक अनुभागके अनन्तवें भाग तक और सर्वघाती अनुभाग उसके आगेसे लेकर शैलके अन्तिम तीव्रतम चतुःस्थानीय अनुभाग तक जानना चाहिए।

अघातिया कर्मोंके भी दो भेद हैं—१ पुण्यरूप और २ पापरूप। प्रकृतिसमुत्कीर्त्तनमें पुण्य और पाप प्रकृतियोंको बतला आये हैं। पुण्यप्रकृतियोंका अनुभाग गुड़, खाँड़, शक्कर और अमृत तुल्य उत्तरोत्तर मीठा बतलाया गया है, तथा पापप्रकृतियोंका अनुभाग नीम, काँजीर विष और हालाहलके समान उत्तरोत्तर कडुआ बतलाया गया है। पापप्रकृतियोंके अनुभागका बन्ध संक्लेशकी तीव्रतासे और पुण्यप्रकृतियोंके अनुभागका बन्ध संक्लेशकी मन्दता या परिणामोंकी विशुद्धितासे होता है। सामान्यतः सभी मूल कर्मों और उत्तर प्रकृतियोंके अनुभागबन्धके विषयमें यही नियम लागू है। यतः घातिया कर्मोंको पाप प्रकृतियोंमें ही गिना गया है, अतः उनका अनुभाग उपमाकी दृष्टिसे लता, दारु आदिके समान होते हुए भी फलकी दृष्टिसे नीम, काँजीर आदिके समान उत्तरोत्तर कटुक ही होता है।

जिस जातिके तीव्रतम संक्लेश परिणामोंसे पापप्रकृतियोंके उत्कृष्ट अनुभागका बन्ध होता है, उनसे विपरीत अर्थात् विशुद्ध परिणामोंके द्वारा उन प्रकृतियोंके जघन्य अनुभागका बन्ध होता है। इसी प्रकार जिन विशुद्धतम परिणामोंके द्वारा पुण्य प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध होता है उनसे विपरीत परिणामोंके द्वारा अर्थात् संक्लेश परिणामोंसे उनका जघन्य अनुभागबन्ध होता है। अनुभाग-विषयक अन्य विशेष वर्णन गो० कर्मकाण्डसे जानना चाहिए।

इस प्रकार अनुभागबन्धका वर्णन समाप्त हुआ।

---

1. इस स्थलपर गो० कर्मकाण्डकी संस्कृत टीकामें जो संदृष्टि दी है, उसे भी परिशिष्टमें देखिये।

अथ ज्ञानावरणादिकर्मणां केन प्रकारेण कीदृगाचरणेन च बन्धो भवतीति गाथाष्टकेनाऽऽह—

पडिणीगमंतराए उवघादे तप्पदोस-णिण्हवणे ।
आवरणदुगं बंधदि भूयो अचासणाए वि ॥१४४॥

ज्ञान-दर्शनयोः ज्ञान-दर्शनधरेषु अविनयवृत्तिः प्रत्यनीकं प्रतिकूलता इत्यर्थः १ । ज्ञान-दर्शनविच्छेद-करणमन्तरायः २ । मनसा वचनेन वा प्रशस्तज्ञान-दर्शनयोः दूषणं तयोः बाधाकरणं वा उपघातः ३ । तत्प्रदोषः तत्त्वज्ञान-सम्यग्दर्शनयोः तद्धरेषु हर्षाभावः । अथवा तस्य तत्त्वज्ञानस्य मोक्षसाधनस्य कीर्तने कृते कस्यचित्पुंसः स्वयमजल्पतोऽन्तःकरणपैशुन्यं प्रद्वेषः ४ । विद्यमाने ज्ञानादौ एतदहं न जानामि, एतत्-पुस्तकमस्मत्पार्श्वे नास्ति, ज्ञानस्य अकथनं निह्नवः । वा अप्रसिद्धगुरून् अपलप्य प्रसिद्धगुरुकथनं निह्नवः ५ । कायेन वचनेन ज्ञानस्य अविनयः, गुणकीर्तनादेरकरणं वा आसादनम् ६ । एतेषु षट्सु सत्सु जीवो ज्ञानावरण-दर्शनावरणद्वयं भूयः प्रचुरवृत्त्या बध्नाति, स्थित्यनुभागौ बध्नातीत्यर्थः । ते षट्प्रकाराः प्रत्यनी-कादयः तद्द्वयस्य ज्ञान-दर्शनावरणस्य युगपद् बन्धकारणानि तु तथा बन्धात् । अथवा विषयभेदादास्रव-भेदः—ज्ञानविषयत्वेन ज्ञानावरणस्य दर्शनविषयत्वेन दर्शनावरणस्येति ॥१४४॥

अब प्रदेशबन्धका वर्णन करते हुए पहले ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म-बन्धके कारणोंका निरूपण करते हैं—

प्रत्यनीक, अन्तराय, उपघात, प्रदोष, निह्नव और असातनासे जीव ज्ञानावरण और दर्शनावरण इन दो आवरण कर्मोंको अधिकतासे बाँधता है ॥१४४॥

विशेषार्थ—शास्त्रोंमें और शास्त्रोंके जानकार पुरुषोंमें अविनय रूप प्रतिकूल आचरण करना प्रत्यनीक है। ज्ञान-प्राप्तिमें विघ्न करना, पढ़नेवालोंको नहीं पढ़ने देना, विद्यालय और पाठशाला आदिके संचालनमें बाधाएँ उपस्थित करना, ग्रन्थोंके प्रचार और प्रकाशनको नहीं होने देना अन्तराय है। किसीके उत्तम ज्ञानमें दूषण लगाना, ज्ञानके साधन शास्त्र आदिको नष्ट कर देना, विद्यालय आदिको बन्द कर देना उपघात है। पढ़नेवालोंके पठन-पाठनमें छोटी-मोटी विघ्न-बाधाएँ उपस्थित करना भी उपघातके ही अन्तर्गत है। तत्त्वज्ञानके अभ्यासमें हर्षभाव नहीं रखना, अनादर या अरुचि रखना, ज्ञानी जनोंको देखकर प्रमुदित न होना, उनको आता देखकर मुख फेर लेना प्रदोष है। किसी विषयके जानते हुए भी दूसरे-के पूछनेपर 'मैं नहीं जानता' इस प्रकार ज्ञानका अपलाप करना, ज्ञानकी साधक पुस्तक आदिके होनेपर भी दूसरेके माँगनेपर कह देना कि मेरे पास नहीं है, निह्नव है। अथवा अनेक गुरुजनोंसे पढ़नेपर भी अपनेको अप्रसिद्ध गुरुओंका शिष्य न बतलाकर प्रसिद्ध गुरुओं-का शिष्य बतलाना भी निह्नवके ही अन्तर्गत है। किसीके प्रशंसा-योग्य ज्ञान या उपदेशादिकी प्रशंसा और अनुमोदना नहीं करना, किसी विशिष्ट ज्ञानीको नीच कुलका बतला करके उसके महत्त्वको गिराना असातना है। इन कार्योंके करनेसे ज्ञानावरण कर्मका प्रचुरतासे बन्ध होता है। इसी प्रकार ज्ञानियोंसे ईर्ष्या और मात्सर्य रखना, निषिद्ध देश और निषिद्धकालमें पढ़ना, गुरुजनोंका अविनय करना, पुस्तकोंसे तकियेका काम लेना, उन्हें पैरोंसे हटाना, ग्रन्थोंको भण्डारोंमें सड़ने देना, किन्तु किसीको स्वाध्यायके लिए नहीं देना, न स्वयं उनका प्रकाशन करना और न दूसरोंको प्रकाशनार्थ देना, इत्यादि कार्योंसे भी ज्ञानावरण कर्मका तीव्र बन्ध होता है। ये ऊपर कहे हुए सभी कार्य जब दर्शन गुणके विषयमें किये जाते हैं,

---

१. पञ्च सं० ४, २०४ । गो० क० ८०० ।

भूदाणुकंप-वदजोगजुत्तो[1] खंतिदाण गुरुभत्तो ।
बंधदि भूयो सादं विवरीदो बंधदे इदरं[2] ॥१४५॥

गत्यां गत्यां कर्मविपाकाद् भवन्तीति भूताः प्राणिनः । तेष्वनुकम्पा कारुण्यपरिणामः । व्रतानि हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मचर्यपरिग्रहेभ्यो विरतिः । योगः समाधिः सम्यक्[1] प्रणिधानमित्यर्थः । तैर्युक्तः । क्रोधादिनिवृत्तिलक्षणं क्षान्त्या चतुर्विधदानेन पञ्चगुरुभक्त्या च संपन्नः स जीवः सातं तीव्रानुभागं भूयो बध्नाति । तद्विपरीतस्त्वाद्गसातं बध्नाति ॥१४५॥

दुक्ख-वह-सोग-तावाकंदण परिदेवणं च अप्पठियं ।
अण्णट्ठियमुभयट्ठियमिदि वा बंधो असादस्स ॥१४६॥

वेदनापरिणामः दुःखम् १ हननं वधः २ । वस्तुविनाशे अतिवैक्लव्यं दीनत्वं शोक ३ । चित्तस्य खेद पश्चात्तापः तापः ४ । बुम्बापात हृदयादिकुट्टनं आक्रन्दनम् ५ । रोदनं अश्रुपात परिदेवनं च ६ एतत्सर्वं आत्मस्थितं वा अन्यस्थितं वा [2]उभयस्थितं वा भवति, [तथा] सति असातस्य दुःखस्वरूपस्य कर्मण. बन्धो भवति ॥१४६॥

तथ दर्शनावरण कर्मका तीव्रतासे बन्ध होता है । इसके अतिरिक्त आलसी जीवन बितानेसे, विषयोंमें मग्न रहनेसे, अधिक निद्रा लेनेसे, दूसरेकी दृष्टिमें दोष लगानेसे, देखनेके साधन उपनेत्र (चश्मा) आदिके चुरा लेने या फोड़ देनेसे और जीवघात आदि करनेसे भी दर्शनावरणीय कर्मका प्रचुर परिमाणमें बन्ध होता है । वस्तुतः आयुकर्मको छोड़कर शेष सात कर्मोंका संसारी जीवोंके निरन्तर बन्ध होता ही रहता है । किन्तु उपर्युक्त कार्योंके करनेसे ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मके तीव्र अनुभाग और उत्कृष्ट स्थितिका बन्ध होता है ।

अब वेदनीय कर्मके दोनों भेदोंके-बन्ध कारणोंका निर्देश करते हैं—

सर्व प्राणियोंपर दया करनेसे, अहिंसादि व्रत और समाधिरूप परिणामोंके धारण करनेसे, क्रोधके त्यागरूप क्षमा भावसे, दान देनेसे तथा पंच परमगुरुओंकी भक्ति करनेसे जीव सातावेदनीय कर्मके अनुभागको प्रचुरतासे बाँधता है । उक्त कारणोंसे विपरीत आचरण करनेसे जीव असातावेदनीय कर्मका तीव्र स्थिति और अनुभाग बन्ध करता है । सातावेदनीयके बन्धमें स्थितिका प्रचुर बन्ध न बतानेका कारण यह है कि स्थितिबन्धकी अधिकता विशुद्ध परिणामोंसे नहीं होती ॥१४५॥

अब विशेषरूप असातावेदनीय कर्मके-बन्ध कारणोंका निरूपण करते हैं—

दुःख, बध, शोक, संताप, आक्रन्दन और परिवेदन स्वयं करनेसे, अन्यको करानेसे तथा स्वयं करने और दूसरेको करानेसे असातावेदनीय कर्मका विपुलतासे बन्ध होता है ॥१४६॥

विशेषार्थ—गाथामें जो असातावेदनीयकर्मके बन्ध-कारण बतलाये गये हैं उनके अतिरिक्त जीवोंपर क्रूरतापूर्ण व्यवहार करनेसे, स्वयं धर्म नहीं पालन करके धर्मात्मा जनोंके प्रति अनुचित आचरण करनेसे, मद्य-पान, मांस-भक्षणादिक करनेसे, व्रत, शील, तपादिके धारकोंकी हँसी उड़ानेसे पशु-पक्षी आदिका बध-बन्धन, छेदन-भेदन और अंग-उपांगादिके

---

१. ब -जुजिदो । २. पञ्चसं० ४, २०५ । गो० क० ८०१ ।

1. ब समीचीने सावधानम् । 2. ब आत्म-परस्थितम् ।

अरहंत-सिद्ध चेदिय-तव-गुरु-सुद-धम्म-संघपडिणीगो ।
बंधदि दंसणमोहं अणंतसंसारिओ जेण[1] ॥१४७॥

योऽर्हत्सिद्धचैत्यतपोगुरुश्रुतधर्मसंघानां प्रतिकूलः शत्रुभूतः स प्राणी तद्दर्शनमोहनीयमिथ्यात्वं बध्नाति येन दर्शनमोहोदयागतेन जीवः अनन्तसंसारी स्यात् ॥१४७॥

तिव्वकसाओ बहुमोहपरिणदो रायदोससंतत्तो[2] ।
बंधदि चरित्तमोहं दुविहं पि चरित्तगुणघादी[3] ॥१४८॥

काटनेसे उन्हें बधिया (नपुंसक) करनेसे जीवोंको नाना प्रकारसे शारीरिक और मानसिक दुःख पहुँचानेसे, तीव्र अशुभ परिणाम रखनेसे, विषय कषाय-बहुल प्रवृत्ति करनेसे, पाँचों पापोंके आचरणसे भी असाता वेदनीय कर्मका विपुल परिमाणमें बन्ध होता है। गाथामें जो सबसे अधिक ध्यान देनेकी बात कही, वह यह है कि ऊपर कहे गये कार्य चाहे मनुष्य स्वयं करे, चाहे, करावे, या करते हुए की अनुमोदना करे, सभी दशाओंमें असातावेदनीयकर्म तीव्रतासे बँधेगा। आजकल कितने ही लोग ऐसा समझते हैं कि जो जीव-घातक कसाई है उसे ही पाप-बन्ध होगा, माँस-भक्षियोंको नहीं। पर यह विचार एकदम भ्रान्त है। जिस परिमाणमें हिंसक पापी है और उसे प्रचुरतासे पापका बन्ध होता है, उसी परिमाणमें मांस-भोजी भी पापी है और उसके भी उसी विपुलतासे तीव्र असातावेदनीयका बन्ध होता है। इसके अतिरिक्त अपने आश्रित दासी-दासको, या पशु-पक्षियोंको समयपर आहार आदि नहीं देना, उनकी शक्तिसे अधिक उनसे बलात् कार्य कराना अधिक भार लादना आदि कार्य भी असातावेदनीयके ही बन्धक हैं।

अब मोहनीय कर्मके प्रथम भेद दर्शनमोहनीयके बन्ध-कारण कहते हैं—

अरहन्त, सिद्ध, चैत्य (प्रतिमा) तप, श्रुत, (शास्त्र) गुरु, धर्म, और मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविकारूप चतुर्विध संघके प्रतिकूल आचरण करनेसे जीव उस दर्शनमोहनीय कर्मका बन्ध करता है, जिससे कि वह अनन्त कालतक संसारमें परिभ्रमण करता है ॥१४७॥

विशेषार्थ—जिसमें जो अवगुण नहीं है, उसमें उसके निरूपण करनेको अवर्णवाद कहते हैं। वीतरागी अष्टादश दोषरहित अरहन्तोंके भूख-प्यासकी बाधा बतलाना, रोगादिकी उत्पत्ति कहना, सिद्धोंका पुनरागमन बतलाना, तपस्वियोंमें दूषण लगाना, हिंसामें धर्म बतलाना, मद्य-मांस-मधुके सेवनको निर्दोष कहना, निर्ग्रन्थ साधुको निर्लज्ज कहना, कुमार्गका उपदेश देना, सन्मार्गके प्रतिकूल प्रवृत्ति करना, धर्मात्माओंको दोष लगाना, कर्म-मलीमस संसारियोंको सिद्ध या सिद्ध-समान कहना, सिद्धोंमें असिद्धत्व प्रकट करना, अदेव या कुदेवोंको सच्चा देव बतलाना, देवोंमें अदेवत्व प्रकट करना, असर्वज्ञको सर्वज्ञ और सर्वज्ञको असर्वज्ञ कहना, इत्यादि कारणोंसे संसारके बढ़ानेवाले और सम्यक्त्वका घात करनेवाले मिथ्यात्वरूप दर्शन मोहनीय कर्मका तीव्र बन्ध होता है। यह कर्म सभी कर्मोंमें प्रधान है, अतः इसे ही कर्म-सम्राट् या मोहराज कहते हैं और इसके तीव्र बन्धसे जीवको संसारमें अनन्त काल तक भटकना पड़ता है।

अब मोहनीय कर्मके द्वितीय भेद चारित्रमोहनीयके बन्ध-कारणोंका निरूपण करते हैं—

तीव्र कषायवाला, अत्यधिक मोहयुक्त परिणामवाला और राग-द्वेषसे सन्तप्त जीव

---

१. पञ्चसं० ४, २०६। गो० क० ८०२। २. ब -'ससत्तो' इति पाठः। तथा सति 'संसक्तः' इत्यर्थः। ३ पञ्चसं० ४, २०७। गो० क० ८०३।

यो जीवस्तीव्रकषायनोकषायोदययुतः[1] बहुमोहपरिणतः रागद्वेषसंसक्तः चारित्रगुणविनाशनशीलः स जीवः कषाय-नोकषायभेदं द्विविधमपि चारित्रमोहनीयं बध्नाति ॥१४८॥

मिच्छो हु महारंभो णिस्सीलो तिव्वलोहसंजुत्तो ।
णिरयाउगं णिबंधदि पावमई रुद्दपरिणामो ॥१४९॥

यः खलु मिथ्यादृष्टिर्जीवः प्रचुरारम्भः सेवाकृषिवाणिज्यादिबह्वाऽऽरम्भः निःशीलः[3] तीव्रलोभसंयुक्तः रौद्रपरिणामः पापकारणबुद्धिः स जीवो नारकायुष्कं बध्नाति ॥१४९॥

कषाय और नोकषाय रूप दोनों प्रकारके चारित्र-मोहकर्मको प्रचुरतासे बाँधता है, जो कि चारित्रगुणका घातक है ॥१४८॥

विशेषार्थ—पहले चारित्रमोहनीयकर्मके दो भेद बतला आये हैं कषाय वेदनीय और नोकषायवेदनीय। राग-द्वेषसे संयुक्त तीव्रकषायी जीव कषायवेदनीयकर्मका और बहुमोहसे परिणत जीव नोकषाय वेदनीय कर्मका बन्ध करता है। इसका खुलासा इस प्रकार है—तीव्र-क्रोधसे परिणत जीव अनन्तानुबन्धी क्रोधका बन्ध करता है, इसी प्रकार तीव्र मान, माया और लोभवाला जीव अनन्तानुबन्धी मान, माया और लोभ कषायका तीव्र बन्ध करता है। तीव्र रागी, अतिमानी, ईर्ष्यालु, मिथ्या-भाषी, कुटिलाचरणी और परस्त्री-रत जीव स्त्रीवेदका बन्ध करता है। सरल व्यवहार करनेवाला, मन्दकषायी, मृदुस्वभावी ईर्ष्या-रहित और स्वदार-सन्तोषी जीव पुरुषवेदका बन्ध करता है। तीव्रक्रोधी, चुगलखोर, मायावी, पशु-पक्षियोंका वध, बन्धन और अंगच्छेदनादि करनेवाला, स्त्री और पुरुष दोनोंके साथ व्यभिचार और अनंग-क्रीड़ा करनेवाला, व्रत, शील और संयमके धारक साधु और साध्वियोंके साथ मैथुन सेवन करनेवाला, पंचेन्द्रियोंके विषयोंका तीव्र अभिलाषी, जिह्वा-लोलुपी जीव नपुंसक-वेदका बन्ध करता है। स्वयं हँसनेवाला, दूसरोंको हँसानेवाला, मनोरंजनके लिए दूसरोंकी हँसी उड़ानेवाला, विनोदी स्वभावका जीव हास्यकर्मका बन्ध करता है। स्वयं शोक करनेवाला दूसरोंको शोक उत्पन्न करनेवाला, दूसरोंको दुखी देखकर हर्षित होनेवाला जीव शोक कर्मका बन्ध करता है। नाना प्रकारके क्रीड़ा—कुतूहलोंके द्वारा स्वयं रमनेवाला और दूसरोंको रमाने-वाला, दूसरोंको दुःखसे छुड़ानेवाला और सुख पहुँचानेवाला जीव रतिकर्मका बन्ध करता है। दूसरोंके आनन्दमें अन्तराय करनेवाला, अरतिभाव पैदा करनेवाला और पापियोंका सम्पर्क रखनेवाला जीव अरतिकर्मका बन्ध करता है। स्वयं भयभीत रहनेवाला, दूसरोंको भय उपजानेवाला जीव भयकर्मका बन्ध करता है। साधुजनोंको देखकर ग्लानि करनेवाला, दूसरोंको ग्लानि उपजानेवाला और दूसरेकी निन्दा करनेवाला जीव जुगुप्साकर्म बाँधता है। इस प्रकार चारित्रमोहनीयकर्मकी पृथक्-पृथक् प्रकृतियोंके बन्धके कारणोंका निरूपण किया। अब सामान्यसे चारित्रमोहके बन्ध-कारण बतलाते हैं—जो जीव व्रत-शील-सम्पन्न धर्म-गुणा-नुरागी, सर्वजगत्-वत्सल, साधुजनोंकी निन्दा-गर्हा करता है, धर्मात्माजनोंके धर्म-सेवनमें विघ्न करता है, उनमें दोष लगाता है, मद्य-माँस-मधुका सेवन और प्रचार करता है, दूसरोंको कषाय और नोकषाय उत्पन्न करता है, वह जीव चारित्र मोहकर्मका तीव्रबन्ध करता है।

अब आयुकर्मके चार भेदोंमें-से पहले नरकायुके बन्ध कारण कहते हैं—

मिथ्यादृष्टि, महा आरम्भी, व्रत-शीलसे रहित, तीव्र लोभसे संयुक्त, पापबुद्धि और रौद्रपरिणामी जीव नरकायुको बाँधता है ॥१४९॥

---

१. पञ्चसं० ४, २०८। गो० क० ८०४।

1. ज तीव्रकषायोदययुतः। 3 ब गुणव्रत-शिक्षाव्रतरहितो वा।

उम्मग्गदेसगो मग्गणासगो गूढहिययमाइल्लो।
संढसीलो[1] य ससल्लो तिरियाउं बंधदे जीवो[2] ॥१५०॥

य उन्मार्गोपदेशक मिथ्यामार्गोपदेशकः सन्मार्गनाशक. [1]सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूपमोक्षमार्ग-नाशकः गूढहृदयः मायावी शठशील सशल्यः मायामिथ्यानिदानयुक्तः स जीवस्तिर्यगायुर्बध्नाति ॥१५०॥

पयडीए तणुकसाओ दाणरदी[3] सील-संयमविहीणो।
मज्झिमगुणेहि जुत्तो मणुयाऊ बंधदे जीवो[4] ॥१५१॥

यः स्वभावेन मन्दकषायोदयः दानेषु प्रीतः शीलैः संयमेन च विहीनः मध्यमगुणैर्युक्तः स जीवो मानुष्यायुर्बध्नाति ॥१५१॥

विशेषार्थ—जो जीव धर्मसे पराङ्मुख है, पापोंका आचरण करता है, महाहिंसाका कारणभूत आरम्भ और परिग्रह रखता है, लेश मात्र भी व्रत-शीलादिका न तो स्वयं पालन करता है और न दूसरोंको करने देता है, करनेवालोंकी हँसी उड़ाता है अभक्ष्य-भोजी, मद्य-पायी, माँससेवी और सर्वभक्षी है, जिसके परिणाम सदा ही चारों प्रकारके आर्त और रौद्रध्यानरूप रहते हैं और जिसका चित्त पत्थरकी रेखाके समान कठोर है ऐसा जीव नरका-युका बन्ध करता है।

अब तिर्यगायुके बन्धके कारण बतलाते हैं—

जो उन्मार्गका उपदेश देता है, सन्मार्गका नाशक है, गूढ़हृदयी, और महामायावी है, किन्तु मुखसे मीठे बचन बोलता है शठ-स्वभावी और शल्य-युक्त है, ऐसा जीव तिर्यगायुका बन्ध करता है ॥१५०॥

विशेषार्थ—जो जीव कुमार्गका उपदेश तो देता ही है, साथ ही, सन्मार्गका उन्मूलन भी करता है, सन्मार्गपर चलनेवालोंके छिद्रान्वेषण और असत्य दोषारोपण करता है, माया-मिथ्यात्व, और निदान; इन तीन शल्योंसे युक्त है, जिसके व्रत और शीलमें अतीचार लगते रहते हैं, पृथिवी-रेखाके सदृश रोषका धारक है, गूढ़हृदय है अर्थात् इतनी गहन मायाचारी करनेवाला है कि जिसके हृदयकी कोई बात जान ही नहीं सकता; शठशील है, अर्थात् मनमें मायाचार रखते हुए भी ऊपरसे मीठा बोलनेवाला है और महामायावी है अर्थात् करे कुछ, सोचे कुछ और बतलाये कुछ ऐसी मायाचारी करनेवाला है; ऐसा जीव पशु-पक्षियोंमें उत्पन्न करानेवाले तिर्यगायुकर्मको बाँधता है।

अब मनुष्यायुके बन्धके कारण बतलाते हैं—

जो स्वभावसे ही मन्दकषायी है, दान देनेमें निरत है, शीलसंयमसे विहीन होकर भी मनुष्योचित मध्यमगुणोंसे युक्त है, ऐसा जीव मनुष्यायुका बन्ध करता है ॥१५१॥

विशेषार्थ—जिसका स्वभाव जन्मसे ही शान्त है, मन्दकषायवाला है, प्रकृतिसे ही भद्र और विनम्र है, समय-समयपर लोकोपकारक धर्म और देशके हित-कारक कार्योंके लिए दान देता रहता है, अप्रत्याख्यानावरण कषायके तीव्र उदयसे व्रत-शीलादिके पालन न कर सकने-

---

१. त सठसीलो। २. पञ्चसं० ४, २०९। गो० क० ८०५। ३. आ० 'दाणरदी' इति पाठः। ४. पञ्चसं० ४, २१०। गो० क० ८०६।

1. ब रत्नत्रयमोक्षमार्गनाशकः।

अणुवद-महव्वदेहि य बालतवाकामणिज्जराए य।
देवाउगं णिबंधइ सम्माइट्ठी य जो जीवो[1] ॥१५२॥

यः सम्यग्दृष्टिः जीवः स केवलसम्यक्त्वेन साक्षादणुव्रतैः महाव्रतैर्वा देवायुर्बध्नाति। यो मिथ्यादृष्टिः जीवः स उपचाराणुव्रतमहाव्रतै बालतपसा[1] अकामनिर्जरया[2] च देवायुर्बध्नाति ॥१५२॥

पर भी मानवोचित दया, क्षमा आदि गुणोंसे युक्त है बालुकी रेखाके सदृश कषायवाला है, न अति संक्लेश परिणामी है। और न अति विशुद्ध परिणामी ही है, किन्तु सरल है, और सरल ही कार्योंको करता है, ऐसा जीव मनुष्यायुका बन्ध करता है।

अब देवायुके बन्धके कारणोंको बतलाते हैं—

जो जीव अणुव्रत या महाव्रतसे संयुक्त है, बालतप और अकामनिर्जरा करनेवाला है, वह जीव देवायुका बन्ध करता है। तथा सम्यग्दृष्टि जीव भी देवायुको बाँधता है ॥१५२॥

विशेषार्थ—जो पाँचों अणुव्रतों और सप्त शीलोंका धारक है, महाव्रतोंको धारणकर षट्कायिक जीवोंकी रक्षा करनेवाला है, तप और नियमका पालनेवाला है, ब्रह्मचारी है, सरागभावके साथ संयमका पालक है, अथवा बाल तप और अकामनिर्जरा करनेवाला है, ऐसा जीव देवायुका बन्ध करता है। यहाँ बालतपसे अभिप्राय उन मिथ्यादृष्टि जीवोंके तपसे है, जिन्होंने कि जीव-अजीवतत्त्वके स्वरूपको ही नहीं समझा है, आपा-परके विवेकसे रहित हैं और अज्ञानपूर्वक अनेक प्रकारके कायक्लेशको सहन करते हैं। बिना इच्छाके पराधीन होकर जो भूख-प्यासकी और शीत-उष्णादिकी बाधा सहन की जाती है, उसे अकाम-निर्जरा कहते हैं। कारागार (जेलखाने) में परवश होकर पृथ्वीपर सोनेसे, रूखे-सूखे भोजन करनेसे, स्त्रीके अभावमें विवश होकर ब्रह्मचर्य पालनेसे, सदा रोगी रहनेके कारण परवश होकर पथ्य-सेवन करने और अपथ्य-सेवन न करनेसे जो कर्मोंकी निर्जरा होती है, वह अकामनिर्जरा है। इस अकामनिर्जरा और बालतपके द्वारा भी जीव देवायुका बन्ध करता है। जो सम्यग्दृष्टि जीव चारित्रमोहकर्मके तीव्र उदयसे लेशमात्र भी संयमको धारण नहीं कर पाते हैं, फिर भी वे सम्यक्त्वके प्रभावसे देवायुका बन्ध करते हैं। तथा जो जीव संक्लेश-रहित हैं, जल-रेखाके समान क्रोधकषायवाले हैं और उपवासादि करते हैं, वे भी देवायुका बन्ध करते हैं। यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि सम्यक्त्वी और अणुव्रती या महाव्रती जीव कल्पवासी देवोंकी ही आयुका बन्ध करते हैं। किन्तु अकामनिर्जरा करनेवाले जीव प्रायः भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवोंकी ही अधिकांशमें आयु बाँधते हैं। बालतप करनेवाले जीव यथा सम्भव सभी प्रकारके देवोंकी आयुका बन्ध करते हैं किन्तु कल्पवासियोंमें विशिष्ट जातिके जो इन्द्र, सामानिक आदि देव हैं, उनकी आयुका बन्ध नहीं करते।

इस प्रकार आयुकर्मके चारों भेदोंके बन्धके कारण बतलाये गये। यहाँ इतना ध्यान रखना चाहिए कि सदा ही आयुकर्मका बन्ध नहीं होता है, अतः त्रिभाग आदि विशिष्ट अवसरोंपर जब आयुबन्धका काल आता है, उस समय उपर्युक्त परिणामोंमें-से जिस जातिके परिणाम जीवके होंगे, उसी जातिकी नरक, तिर्यंच आदिकी आयुका बन्ध होगा।

---

१. पञ्चसं० ४, २११। गो० क० ८०७।

1. स मिथ्यादृष्टिपरिव्राजकतापसपञ्चाग्निसाधकजैनाभासाककायक्लेशैः बालतपसा। 2. राजभृत्यैः कोऽपि पुमान् पुत्रकादुबद्धः गाढबन्धनः सन् पराधीनपराक्रम क्षुधातृषादिदुःखब्रह्मचर्यकष्टभूमिशयनादिकं मलधारणं सहमानः महनेषु इच्छारहितः ईषत्कर्म निर्जरयति सा अकामनिर्जरा, तथा।

मण-वयण-कायवंको माइल्लो गारवेहिं पडिबद्धो ।
असुहं बंधदि णामं तप्पडिवक्खेहिं सुहणामं[1] ॥१५३॥

यो मनोवचनकायैर्वक्रः मायावी रसगारव-ऋद्धिगारव-सातगारवेति गारवत्रयप्रतिबद्धः स जीवो नरकगति-तिर्यग्गत्याऽऽद्यशुभं नामकर्म बध्नाति । यस्तत्प्रतिपक्षपरिणामः मनोवचनकायैः सरलः निष्कपटी गारवत्रयरहितः [स] जीवः शुभं नामकर्म मनुष्य-देवगत्यादिकं बध्नाति ॥१५३॥

अथ तीर्थङ्करनामकर्मबन्धः कारणषोडशभावनां गाथापञ्चकेनाऽऽह—

दंसणविसुद्धि विणए संपण्णत्तं च तह य सीलवदे[2] ।
अणदीचारोऽभिक्खं णाणुवजोगं च संवेगो ॥१५४॥
सत्तीदो चाग-तवा साहुसमाही तहेव णायव्वा ।
[3]विज्जावच्चं किरिया अरहंताइरियबहुसुदे भत्ती ॥१५५॥
पवयण परमा भत्ती आवस्सयकिरियअपरिहाणी य ।
मंग्गपहावणयं खलु पवयणवच्छल्लमिदि जाणे ॥१५६॥

अब शुभ और अशुभ नामकर्मके बन्धके कारण बतलाते हैं—

जो जीव मन वचन कामसे कुटिल हो, कपट करनेवाला हो, अपनी प्रशंसा चाहनेवाला तथा करनेवाला हो, ऋद्धिगारव आदि तीन प्रकारके गारवसे युक्त हो, वह नरकगति आदि अशुभ नामकर्मको बाँधता है। और जो इनसे विपरीत स्वभाववाला हो अर्थात् सरल स्वभावी हो, निष्कपट हो, अपनी प्रशंसाका इच्छुक न हो और गारव-रहित हो ऐसा जीव देवगति आदि शुभनामकर्मका बन्ध करता है ॥१५३॥

विशेषार्थ—जो मायावी है, जिसके मन-वचन-कायकी प्रवृत्ति कुटिल है, जो रसगारव सातगारव और ऋद्धिगारव इन तीनों प्रकारके गारवों या अहंकारोंका धारक है, नाप-तौलके बाट हीनाधिक वजनके रखता है और हीनाधिक लेता-देता है, अधिक मूल्यकी वस्तुमें कम मूल्यकी वस्तु मिलाकर बेंचता है, रस-धातु आदिका वर्ण-विपर्यास करता है, उन्हें नकली बना करके बेंचता है, दूसरोंको धोका देता है, सोने-चाँदीके आभूषणोंमें ताँबा आदि खार मिलाकर और उन्हें असली बताकर व्यापार करता है, व्यवहारमें विसंवादनशील एवं झगड़ालू मनोवृत्तिका धारक है, दूसरोंके अंग-उपांगोंका छेदन-भेदन करनेवाला है, दूसरोंकी नकल करता है, दूसरोंसे ईर्ष्या रखता है; और दूसरोंके शरीरको विकृत बनाता है, ऐसा जीव अशुभ नामकर्मका बन्ध करता है। किन्तु जो इन उपर्युक्त कार्योंसे विपरीत आचरण करता है, सरलस्वभावी है, कलह और विसंवाद आदिसे दूर रहता है, न्यायपूर्वक व्यापार करता है और ठीक-ठीक नाप-तौलकर लेता-देता है। वह शुभ नामकर्मका बन्ध करता है।

यहाँ शुभ नामकर्मसे अभिप्राय नामकर्मकी पुण्य प्रकृतियोंसे है और अशुभनामकर्मसे अभिप्राय नामकर्मकी पापप्रकृतियोंसे है।

अब नामकर्मकी प्रकृतियोंमें जो सर्वोत्कृष्ट है ऐसी तीर्थंकर प्रकृतिके बन्धके कारणोंको बतलाते हैं—

१ दर्शन-विशुद्धि, २ विनय-सम्पन्नता, ३ निरतिचार व्रत-शीलधारणता, ४ आभीक्ष्ण

---

१. पञ्चसं० ४, २१२ । गो० ८०८ । २. ब सीलवदेसु । ३. त वेज्जावच्चं ।

एदेहिं पसत्थेहिं सोलसभावेहिं केवलीमूले।
तित्थयरणामकम्मं बंधदि सो कम्मभूमिजो मणुसो ॥१५७॥

दर्शनस्य सम्यक्त्वस्य विशुद्धिर्निर्मलता पञ्चविंशतिमलराहित्यम्। तदुक्तम्—

मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथाऽनायतनानि षट्।
अष्टौ शङ्कादयश्चेति दृग्दोषाः पञ्चविंशति ॥२०॥

सम्यक्त्वस्य निर्मलता इति दर्शनविशुद्धिः प्रथमभावना १। रत्नत्रयमण्डितमुनौ रत्नत्रये च महान् आदरः, विनये परिपूर्णता २। अहिंसादिव्रतेषु शीलव्रतेषु च निष्पापाचरणं शीलव्रतेष्वनतिचारः ३। निरन्तरं प्रशस्तज्ञानेषु अभ्यास· आभीक्ष्णज्ञानोपयोग. ४। संसारदुःखात् कातरत्वं संवेगः ५। आहाराभय-भैषज्यशास्त्राणां विधिपूर्वकं आत्मशक्त्यनुसारेण पात्रेभ्य [1] दानं शक्तितस्त्यागः ६। निजशक्त्या जिनोपदिष्ट-कायक्लेश. शक्तितस्तपः ७। यतिवर्गस्य कुतश्चित् विघ्न-समुत्पन्ने सति विघ्ननिवारणं समाधिः, साधूनां समाधिः साधुसमाधिः ८। निष्पापविधानेन गुणवतां पुंसां मुनीनां वा दुःखस्फेटनं वैयावृत्यकरणम् ९। अर्हतां स्नपन-पूजन-गुणस्तवनादिकं अर्हद्भक्तिः १०। आचार्याणां सन्मुखगमन पादपूजनं पिच्छिकमण्डल्वादि-दानं आचार्यभक्तिः ११। बहुश्रुतेषु भक्तिः बहुश्रुतभक्तिः १२। जिनसिद्धान्ते मनःशुद्ध्या प्रीतिः प्रवचन-भक्तिः १३। सामायिकं १ चतुर्विंशतितीर्थङ्करस्तवः २ एकतीर्थङ्करवन्दना ३ प्रतिक्रमणं ४ प्रत्याख्यानं ५ कायोत्सर्गः ६ एवंविधषट् अवश्यानि कर्त्तव्यानीति षडावश्यकानि, तेषां षडावश्यकानां अपरिहाणिः १४। ज्ञानेन दानेन पूजया तपोऽनुष्ठानेन वा जिनधर्मप्रकाशनं मार्गप्रभावना १५। सधर्मणि जने स्नेहत्वं प्रव-चनवात्सल्यं १६। एताभिः प्रशस्ताभिः षोडशभावनाभिः कृत्वा केवलिपादमूले केवलज्ञानि-सन्निधाने श्रुत-केवलिसन्निधाने वा स जगत्प्रसिद्धः कर्मभूमिजो मनुष्यः भव्यजीवः तीर्थंकरनामकर्म बध्नाति १५४-१५७॥

ज्ञानोपयोगिता, ५ आभीक्ष्ण संवेगता, ६ शक्त्यनुसार त्याग, ७ शक्त्यनुसार तप, ८ साधु-समाधि, ९ वैयावृत्यकरणता, १० अरहंतभक्ति, ११ आचार्यभक्ति, १२ बहुश्रुतभक्ति, १३ परम प्रवचन-भक्ति, १४ आवश्यक-क्रिया अपरिहानि १५ मार्गप्रभावना और १६ प्रवचनवत्सलत्व इन प्रशस्त सोलह भावनाओंके द्वारा कर्मभूमियाँ मनुष्य केवलीके पादमूलमें तीर्थंकर नाम-कर्मको बाँधता है ॥१५४–१५७॥

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शनका आठ मद, आठ शंकादि दोष, छह अनायतन और तीन मूढ़ता इन पचीस दोषोंसे रहित निर्मल होना दर्शनविशुद्धि है १। रत्नत्रयधर्ममें और उसके धारकोंमें विनयकी पूर्णता विनयसम्पन्नता है २। व्रत और शीलको अतीचार-रहित निर्मल पालना निरतिचार व्रत-शील-धारणता है ३। निरन्तर सम्यग्ज्ञानका अभ्यास करना आभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग है ४। संसार, देह और भोगोंसे उदासीन रहना आभीक्ष्ण संवेगता है ५। अपनी शक्तिके अनुसार पात्रोंको आहार, औषधि, अभय और ज्ञानदान देना शक्तितस्त्याग है ६। अपनी शक्तिको नहीं छिपा करके यथासम्भव बारह प्रकारके तपोंको धारण करना शक्तित-स्तप है ७। साधुजनोंके उपसर्ग आदि आनेपर उसे दूर करना साधु-समाधि है ८। चतुर्विध संघकी भक्तिके साथ वैयावृत्य करना वैयावृत्यकरणता है ९। अरहन्त देवकी पूजा-भक्ति करना, उनके गुणोंका स्तवन करना अरहन्तभक्ति है १०। आचार्योंके सम्मुख जाना, उनके चरण पूजना, पीछी-कमण्डलु आदि देना आचार्यभक्ति है ११। द्वादशांगके पाठी और विशिष्ट श्रुतके धारक उपाध्यायोंकी भक्ति करना बहुश्रुतभक्ति है १२। जैन सिद्धान्तमें आन्तरिक शुद्धिके साथ भक्तिभाव रखना परमप्रवचनभक्ति है १३। सामायिक, चतुर्विंशति तीर्थंकर

---

१. त मग्गप्पभावणं।
1. ब पात्राय।

तित्थयरसत्तकम्मा तदियभवे तब्भवे हु सिज्झेदि ।
खाइयसम्मत्तो पुण उक्कस्सेण दु चउत्थभवे ॥१५८॥

तीर्थङ्करसत्त्वकर्मणि सति भव्यजीवः तृतीयभवे सिद्ध्यति सिद्धिं प्राप्नोति हु स्फुटं । कश्चिन्मनुष्यः[1] तद्भवे तज्जन्मनि सिद्ध्यति । पुनः क्षायिकसम्यक्त्ववान् जीवः[2] तद्भवे मोक्षं गच्छति, अथवा तृतीयभवे सिद्ध्यति सिद्धिं प्राप्नोति । हु उत्कृष्टेन चतुर्थे भवे सिद्ध्यति, चतुर्थभवं नातिक्रामतीत्यर्थः ॥१५८॥

अरहंतादिसु भत्तो सुत्तरुई पढणमाण[1] गुणपेही ।
बंधदि उच्चागोदं विवरीओ बंधदे इदरं[2] ॥१५९॥

यः अर्हदादिषु भक्तः गणधराद्युक्तागमेषु श्रद्धावान् पठनं पाठनं माणु इति मानं ज्ञानं गुण. विनयादिः एतेषां प्रेक्षकः दर्शी अध्ययनार्थं विचारविनयादिगुणदर्शीत्यर्थः । स जीवः उच्चैर्गोत्रं बध्नाति । तद्विपरीतः योऽर्हदादिषु भक्तिरहितः, आगमसूत्रस्योपरि अरुचिः, अध्ययनार्थविचारविनयादिगुणविवर्जितो जीवः इतरत् नीचगोत्रं बध्नाति ॥१५९॥

पर-अप्पाणं णिंदा पसंसणं[3] णीचगोदबंधस्स ।
सदसदगुणाणमुच्छादणमुब्भावणमिदि[4] होदि ॥१६०॥

परेषां निन्दा, आत्मनः प्रशंसा, अन्येषां सन्तोऽपि ये ज्ञानादिगुणाः, तेषामाच्छादनम् , स्वस्यासतामविद्यमानगुणानां प्रकाशनम् , एतानि चत्वारि नीचगोत्रबन्धस्य कारणानि भवन्ति ॥१६०॥

स्तवन, वन्दन, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग इन छहों आवश्यकोंका नियमपूर्वक विधिवत् बिना किसी नागाके पालन करना आवश्यक क्रिया-अपरिहानि है १४। ज्ञान, दान, पूजा, और तप आदिके अनुष्ठान-द्वारा जिनधर्मका प्रकाश संसारमें फैलाना मार्गप्रभावना है १५। साधर्मी जनोंमें गो-वत्सके समान अकृत्रिम स्नेह रखना प्रवचनवत्सलता है १६। उक्त सोलह भावनाओंके द्वारा यह जीव त्रिलोक-पूजित तीर्थंकर नामकर्मका बन्ध करता है।

अब ग्रन्थकार तीर्थंकर प्रकृतिकी सत्तावाला तथा क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव संसारमें अधिकसे-अधिक कितने भव तक रह सकता है इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—

तीर्थंकर प्रकृतिकी सत्तावाला जीव उसी भवमें या तीसरे भवमें सिद्धिको प्राप्त करता है अर्थात् मोक्षको पा लेता है। क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव उत्कृष्टतः चौथे भवमें सिद्धिको प्राप्त करता है॥१५८॥

अब दोनों प्रकारके गोत्रकर्मके बन्धके कारण बतलाते हैं—

जो जीव अरहंत आदि पंच परमेष्ठियोंका भक्त हो, जिनेन्द्र-कथित आगमसूत्रके पठन-पाठनमें प्रीति रखता हो, तत्त्वचिन्तन करनेवाला हो, अपने गुणोंका बढ़ानेवाला हो ऐसा जीव उच्च गोत्रका बन्ध करता है और इससे विपरीत चलनेवाला नीचगोत्र कर्मका बन्ध करता है॥१५९॥

अब नीचगोत्र कर्मके बन्धके कारणोंको और भी विशेष रूपसे बतलाते हैं—

परायी निन्दा करना और अपनी प्रशंसा करना, दूसरेके सद्गुणोंका आच्छादन करना और अपने भीतर अविद्यमान भी गुणोंका उद्भावन करना। इन कारणोंसे भी नीचगोत्रका बन्ध होता है॥१६०॥

---

१. ब पढगमाणु। आ'पठनमान'इति पाठः। २. पञ्चसं ४,२१३। गो० क० ८०९। ३. ब पसंसणा। ४. ब मुब्भावणमपि।

1. ब प्राणी। 2. ब प्राणी।

पाणवधादिसु रदो जिणपूजा-मोक्खमग्गविग्घयरो।
अज्जेइ अंतरायं ण लहइ जं इच्छियं जेण[3] ॥१६१॥

इति श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिविरचितकर्मप्रकृतिग्रन्थः समाप्तः।

द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रिय-[पञ्चेन्द्रिय-] प्राणिवधेषु स्व-परकृतेषु प्रीतः, जिनपूजायाः रत्नत्रयप्राप्तेश्च स्वान्ययोर्विघ्नकरो यः स जीवस्तदन्तरायकर्म अर्जयति येनान्तरायकर्मोदयेन यदीप्सितं तन्न लभते ॥१६१॥

इति सिद्धान्तज्ञानचक्रवर्तिश्रीनेमिचन्द्रविरचितकर्मप्रकृतिबन्धनामग्रन्थस्य टीका[3] समाप्ता।

विशेषार्थ--जो सदा ही अरहन्त, सिद्ध, चैत्य, गुरु और प्रवचनकी भक्ति करता है, नित्य सर्वज्ञ-प्रणीत आगम-सूत्रोंका स्वयं अभ्यास करता है और दूसरोंको कराता है, जगत्‌को यथार्थ तत्त्वका उपदेश देता है, आगम-वर्जित तत्त्वोंका न स्वयं श्रद्धान करता है और न अन्यको भी श्रद्धानके अभिमुख करता है, उत्तम, जाति, कुल, रूप, विद्या आदिसे मण्डित होनेपर भी उनका अहंकार नहीं करता, और न हीन जाति-कुलादिवालोंका तिरस्कार ही करता है, पर-निन्दासे दूर रहता है, भूल करके भी दूसरोंके बुरे कार्योंपर दृष्टि नहीं डालता, किन्तु सदा ही सबके गुणोंको ही देखता है और गुणीजनोंके साथ अत्यन्त विनम्र व्यवहार करता है, ऐसा जीव उच्चगोत्र कर्मका बन्ध करता है। किन्तु इनसे विपरीत आचरण करनेवाला जीव नीचगोत्र कर्मका बन्ध करता है। अर्थात् जो सदा अहंकारमें मस्त रहता है, दूसरोंके बुरे कार्योंपर ही जिसकी दृष्टि लगी रहती है, दूसरोंका अपमान और तिरस्कार करनेमें अपना बड़प्पन समझता है, देव, गुरु शास्त्रादिकी भक्ति विनयादि नहीं करता और आगमके अभ्यासको बेकार समझता है। ऐसा जीव नीच योनियों और कुलोंमें उत्पन्न करनेवाले नीचगोत्र कर्मका बन्ध करता है।

अब अन्तराय कर्मके बन्ध-कारण बतलाते हैं—

जो जीव प्राणियोंके घातमें संलग्न हैं, जिनपूजन और मोक्षमार्गमें विघ्न करनेवाला है, वह उस अन्तराय कर्मका उपार्जन करता है कि जिसके कारण वह अभीष्ट वस्तुको नहीं पा सकता ॥१६१॥

विशेषार्थ—जो जीव पाँचों पापोंको करते हैं, महा आरम्भी और परिग्रही हैं, तथा जिन-पूजन, रोगी साधु आदिकी वैयावृत्त्य, सेवा-उपासनादि मोक्षमार्गके साधन-भूत धार्मिक क्रियाओंमें विघ्न डालते हैं, रत्नत्रयके धारक साधुजनोंको आहारादिके देनेसे रोकते हैं, तथा किसी भी प्रकारके खान-पानका निरोध करते हैं, उन्हें समयपर खाने-पीने और सोने बैठने या विश्राम नहीं करने देते, जो दूसरेके भोगोपभोगके सेवनमें बाधक होते हैं, दूसरेको आर्थिक हानि पहुँचाते हैं और उत्साह-भंग करते हैं, दान देनेसे रोकते हैं, दूसरोंकी शक्तिका मर्दन करते हैं, उन्हें निराश और निश्चेष्ट बनानेका प्रयत्न करते हैं, अथवा कराते हैं, वे जीव नियमसे अन्तराय कर्मका तीव्र बन्ध करते हैं। इस प्रकारसे बाँधे गये अन्तराय कर्मका जब उदय आता है, तब यह संसारी जीव अपनी इच्छाके अनुकूल न आर्थिक लाभ ही उठा पाता है, न भोग-उपभोग ही भोग सकता है और न इच्छा करते हुए भी किसीको कुछ दान ही दे

---

१. पञ्चसं० ४, २१४। गो० क० ८१०।

3 ज -नेमिचन्द्रविरचितकर्मकाण्डस्य टीका। ब टीका भट्टारकश्रीज्ञानभूषणकृता।

टीकाकारस्य प्रशस्तिः

मूलसङ्घे महासाधुर्लक्ष्मीचन्द्रो यतीश्वरः ।
तस्य पट्टे च वीरेन्दुर्विबुधो विश्ववन्दितः ॥१॥
तदन्वये दयाम्भोधिर्ज्ञानभूषो गुणाकरः ।
टीकां हि कर्मकाण्डस्य चक्रे सुमतिकीर्त्तियुक् ॥२॥
टीकां गोम्मटसारस्य विलोक्य विहितं ध्रुवम् ।
पठन्तु सज्जनाः सर्वे भाष्यमेतत् महत्परम्[1] ॥३॥
प्रमादाद् भ्रमतो वापि यद्यशुद्धं कदाचन ।
टीकायामत्र संशोध्य विबुधैर्द्वेषवर्जितैः ॥४॥

इति भट्टारकश्रीज्ञानभूषणनामाङ्किता[2] सूरिश्रीसुमतिकीर्तिविरचिता[3] कर्मकाण्डस्य (कर्मप्रकृतेः) टीका समाप्ता ।

पाता है। कहनेका सार यह है कि दूसरोंके दान देनेमें विघ्न करनेसे दानान्तराय कर्मका बन्ध होता है, दूसरोंके लाभमें विघ्न करनेसे लाभान्तराय कर्मका बन्ध होता है। अन्न आदि एक बार ही खाने-पीनेके काममें आनेवाली वस्तुओंको भोग कहते हैं स्त्री, शय्या आदि बार-बार भोगी जानेवाली वस्तुओंको उपभोग कहते हैं। जो दूसरोंके भोगमें अन्तराय डालता है। वह भोगान्तराय कर्मका बन्ध करता है और जो दूसरोंके उपभोगमें विघ्न डालता है वह उपभोगान्तराय कर्मका बन्ध करता है। जो दूसरोंको निरुत्साहित करके उनके बल-वीर्यको खण्डित करता है, वह वीर्यान्तराय कर्मका बन्ध करता है। इस प्रकार जो पाँचों प्रकारके अन्तराय कर्मका बन्ध करता है वह अपने लिए मनोनुकूल इष्ट वस्तुकी प्राप्तिसे वंचित रहता है।

इस प्रकार नेमिचन्द्राचार्य विरचित कर्मप्रकृति ग्रन्थ समाप्त हुआ।

टीकाकारकी प्रशस्तिः

श्रीकुन्दकुन्दाचार्यके मूलसंघमें महासाधु, यतीश्वर श्रीलक्ष्मीचन्द्र हुए। उनके पट्टपर विश्व-वन्दित महाविद्वान् श्रीवीरचन्द्र हुए। उनके अन्वय (परम्परा) में दयाके सागर और गुणोंके आकर (खानि) श्रीज्ञानभूषण हुए। उन्होंने सुमतिकीर्त्तिके साथ इस कर्मकाण्ड (कर्मप्रकृति) की टीका की। यह टीका गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) को देखकर की गयी है, यह निश्चयसे जानें और सभी सज्जन इस महान् परम (श्रेष्ठ) भाष्यको पढ़ें। यदि इस टीकामें कदाचित् कहीं पर प्रमादसे या भ्रमसे कोई अशुद्धि रह गयी हो, तो द्वेषभावसे रहित विद्वज्जनोंको इसका संशोधन कर देना चाहिए (ऐसी मेरी विनय है) ॥१-४॥

इस प्रकार भट्टारक ज्ञानभूषणके नामसे अंकित सूरिश्री सुमतिकीर्त्ति-विरचित कर्मकाण्ड (कर्मप्रकृति) की टीका समाप्त हुई।

---

1. ख मनोहरम् । वरचिता । 2. ख ज्ञानभूषण विरचिता । 3. ख नास्त्ययं पदः ।

ब प्रति प्रशस्तिः

स्वस्ति श्री संवत् १६२७ वर्षे कार्तिकमासे कृष्णपक्षे पञ्चम्यां तिथौ अद्येह श्रीमधूकपुरे श्रीचन्द्रनाथ-चैत्यालये श्रीमूलसंघे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे श्रीकुन्दकुन्दान्वये भ० श्रीपद्मनन्दिदेवास्तत्पट्टे भ० श्रीदेवेन्द्रकीर्तिदेवास्तत्पट्टे भ० श्रीविद्यानन्दिदेवास्तत्पट्टे भ० श्री[म-]ल्लिभूषणास्तत्पट्टे भ० श्रीलक्ष्मीचन्द्रा-स्तत्पट्टे भ० श्रीवीरचन्द्रास्तत्पट्टे भ० श्रीज्ञानभूषणास्तत्पट्टे भ० श्रीप्रभाचन्द्रोपदेशात् वलसाडनगरवास्तव्यः सिंहपुरज्ञातीयः धर्मकार्यतत्पर श्रे० हांसा भार्या मटकू तयोः पुत्री यतिजनभक्ता अने[क] व्रतकरणतत्परा जिनालयार्थं दत्तनिजगृहा बाई पूतली तयेमां श्रीकर्मकाण्डटीकां लिखाप्य भ० श्रीप्रभाचन्द्रेभ्यो दत्ता। चिरं नन्दतु।

ब्यावर-प्रतिकी लेखक-प्रशस्ति

स्वस्ति श्री सं० १६२७ वर्षके कार्तिक मासके कृष्णपक्ष की पंचमी तिथिमें आज इस श्रीमधूकपुरमें स्थित श्रीचन्द्रनाथ चैत्यालयमें मूलसंघ, सरस्वतीगच्छ, बलात्कारगण वाले श्रीकुन्दकुन्दाचार्यकी परम्परामें भट्टारक श्रीपद्मनन्दिदेव हुए। उनके पट्टपर भ० श्रीदेवेन्द्रकीर्त्ति-देव हुए। उनके पट्टपर भ० श्री विद्यानन्दि देव हुए। उनके पट्टपर भ० श्रीमल्लिभूषण हुए। उनके पट्टपर भ० श्री लक्ष्मीचन्द्र हुए। उनके पट्टपर भ० श्रीवीरचन्द्र हुए। उनके पट्टपर भ० श्रीज्ञानभूषण हुए। उनके पट्टपर आसीन भट्टारक श्री प्रभाचन्द्रके उपदेशसे वलसाढ नगरके रहनेवाले सिंहपुराजातिके और धर्मकार्यमें तत्पर ऐसे श्रेष्ठी हांसा हुए। उनकी स्त्रीका नाम मटकू था। उन दोनोंके पूतलीबाई नामकी पुत्री हुई, जो यतिजनोंकी परम भक्त और व्रत करनेमें तत्पर थी तथा जिनालयके लिए जिसने अपना घर भी प्रदान कर दिया था, उसने श्रीकर्मकाण्डकी यह टीका लिखाकर भ० श्रीप्रभाचन्द्रको भेंट की। पढनेवाले सर्व जन आनन्दको प्राप्त हों।

श्री

अज्ञाताचार्य-प्रणीता

द्वितीया कर्मप्रकृति-टीका

गा० १—अहं नेमिचन्द्रकविः प्रकृतिसमुत्कीर्तनं प्रकृतीनां ज्ञानावरणादिमूलोत्तरभेदयुक्तानां समुत्कीर्तनं कथनं विवरणं वोच्छं वक्ष्ये कथयिष्ये । किं कृत्वा ? सिरसा मस्तकेन नेमिं नेमिनाथतीर्थंकर-स्वामिनं पणमिय प्रणम्य नमस्कृत्य । किंभूतं नेमिम् ? [गुणरयणविहूसणं] गुणाः अहिंसादयः, त एव रत्नानि, तान्येव विभूषणानि आभरणानि यस्य स गुण-[रत्नविभूषण-] स्तम् । [पुन किंभूतम् ? महावीरं] महांश्चासौ वीरश्च महावीरस्तं महावीरम् । [पुनः किंभूतम् ? सम्मत्तरयणणिलयं] स्व-स्वरूपलाभः सम्यक्त्वं सप्तप्रकृतिक्षयलक्षणं क्षायिकसम्यक्त्वं वा, तदेव रत्नं तस्य निलयं स्थानं आश्रय-स्तम् । अथवा किं कृत्वा ? महावीरं प्रणम्य, महती विशिष्टा चासौ ई लक्ष्मीश्च तां राति ददातीति गृह्णातीति महावीरस्तम्, प्रणम्य । कीदृशं महावीरम् ? [नेमिम्] निजोपार्जितपुण्यमाहात्म्येन नागेन्द्र-नरेन्द्र-देवेन्द्रवन्द्यं निजपादारविन्दद्वन्द्वं नमयतीति नेमिः । यदि वा तीर्थंक-रथ-प्रवर्तकपरत्वान्नेमिरिव नेमिः, चक्रधरः । एतादृशं महावीरम् । एतानि सर्वाणि विशेषणानि अस्यापि भवन्ति वीरपक्षे । नेमिनाथपक्षे नेमिचन्द्रं कवि प्रणम्य ॥१॥

गा० २—वाक्यम्—स्वभावो हि स्वभाववन्तमपेक्षत इति । कयोः स्वभावः ? जीवकर्मणोः । तत्र रागादिपरिणमनमात्मन स्वभावः, रागाद्युत्पादकत्वं तु कर्मणः, तदितरेतराश्रयदोषः । इतरेतराश्रयपरि-हारार्थमनयो सम्बन्धः अनादिः । किवत् ? कनकोपलवत् अनयोरस्तित्वं कथं सिद्धमित्युक्ते आह—स्वतः सिद्धमिति चेत् ? अहंप्रत्ययवेद्यत्वेनात्मनोऽस्तित्वम्; एको दरिद्रः, एकः श्रीमान् इति विचित्रपरिणमना-त्कर्मणोऽस्तित्वं सिद्धमिति । जीवंगाणं जीव अङ्गयोः । प्रकृति स्वभावः । [अणाइसंबंधो] अनादि-संबन्ध प्रवर्तते । प्रकृतिः शीलं स्वभावमिति प्रकृतिपर्यायनामानि । स्वभावस्य किं लक्षणमिति चेत्—कारणान्तरनिरपेक्षत्वं स्वभावः । वा यथा जलस्य निम्नगमनं स्वभावः, यथाऽग्नेरूर्ध्वगमनं स्वभावः, यथा [वायोः] तिर्यग्गमनं स्वभावः । स च स्वभावः स्वभाववन्तं अपेक्षते वाञ्छते । स स्वभावः कयोः ? जीवकर्मणोः । कयोरिव ? कनकोपलयोर्मलमिव । यथा कनकपाषाणे मलसम्बन्धः अनादिः वर्तते । इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गः स्यात् तत्परिहारार्थं निवारणार्थं अनयो जीव-कर्मणोः सम्बन्ध. अनादिः वर्तते [इत्युक्तम्] ॥२॥

गा० ३—देहोदएण औदारिक १ वैक्रियिक २ आहारक ३ तैजस ४ कार्मण ५ शरीरपञ्चकम्, तस्योदयेन[1] जीवः कर्म-नोकर्मपुद्गलवाणवः (लाणून्) आहरदि आकर्षति । विग्रहगतौ कहतां (गच्छतां) स्वकीयशरीरं त्यक्त्वा गत्यन्तरनैकरतांथका (   ) तेन शरीरत्रयेण ३ विना कर्मणाऽऽकर्षति न तु नोकर्मकैः । समयं-समयं प्रति इति प्रतिसमयं सर्वाङ्गैः सर्वात्मप्रदेशै. जगच्छ्रेणिघनप्रमितजीवप्रदेशैः स्वस्वसंज्ञं कर्म, नोकर्म आकर्षति । औदारिकवैक्रियिकाऽऽहारकशरीरवर्गणा नोकर्म उच्यते । [तत्तायस-पिंडऽव जलं] अयसि भवं आयसम् । यथा आयसं तप्तलोहपिण्डः गोलकः सर्वात्मप्रदेशैः जलं आकर्षति गृह्णाति, तथा शरीरनामोदयेन सहितो जीवः कर्म नोकर्म प्रतिसमयं आहरतीत्यर्थः ॥४॥

---

1. तत्र कार्मणनामोदयजनितयोगेन । (गो० क० टी०)

गा० ४—सिद्धानां अनन्तिमभागं [1]समयप्रबद्धगणनां बध्नाति, अभव्यसिद्धेभ्य. अनन्तगुणं समयप्रबद्धं बध्नाति। योगवशात् मनोवचनकायात् विसदृशं बध्नाति।

वर्गः शक्तिसमूहोऽणोरणूना वर्गणोदिता !
वर्गणाना समूहस्तु स्पर्धकः स्पर्धकापहैः ॥

जीवो योगवशात् मनोवचनकाययोगात् समयप्रबद्धं समयं समयं प्रति बध्यते इति समयप्रबद्धः। [एवंभूतं] समयप्रबद्धं गृह्णातीति विशेषः। बंधदि बध्नाति। कीदृशम् ? सिद्धेभ्योऽनन्तिमभागं सिद्धराश्यनन्तैकभागम्। पुनः कीदृशम् ? अभव्यसिद्धादनन्तगुणं कर्म नोकर्म बध्नाति। कीदृशं समयप्रबद्धम् ? विसदृशं नानाप्रकारं अनेकरूपं वा त्रिसदृशं आयुर्वर्जितसप्तानां कर्मणां बन्धम् ॥४॥

गा० ५—अस्य जीवस्य समयप्रबद्धः जीर्णाति। [उ-] पयोगतः ज्ञानोपयोगतः दर्शनोपयोगतः [प्रयोगतः[2]……………………अनेकसमयप्रबद्धं जीर्णाति] हीनो भवति द्व्यर्धगुणहानिमात्रसमयप्रबद्धः प्रतिसमयं सत्त्वं भवेत्। एकपल्यस्यासंख्या भागा. क्रियन्ते, तेषां मध्ये एकार्धभागस्य गुणहानिसंज्ञा ज्ञेया (?) ॥५॥

गा० ६—एकसामान्यापेक्षया कर्मत्वेन एकं कर्म। तु पुनः तत्कर्म द्विविधम्। पुद्गलानां ज्ञानावरणादीनां पिण्डसमूहः, तत् द्रव्यकर्म। तच्छक्तिः रागादिपरिणामः, तत् भावकर्म ॥६॥

गा० ७—तत्कर्म पुनः अष्टविधं वा ८, अष्टचत्वारिंशच्छत १४८ वा, असंख्यातलोकमात्रं वा। तेषां कर्मणां पुन घाति इति संज्ञा, अघाति इति संज्ञा भवति। तत्कर्म ज्ञानावरणादिभेदेन अष्टविध भवति। वा तत्कर्म प्रकृतिभावभेदेन अष्टचत्वारिंशच्छतं भवति। वा तत्कर्म असंख्यातलोकप्रमाणमिति समुच्चयार्थः। तेषां चाष्टविधानां पृथक् पृथक् घातिरिति, अघातिरिति च द्वे संज्ञे भवतः ॥७॥

गा० ८—ज्ञानावरणीयं दर्शनावरणीय वेदनीयं मोहनीयं [आयुष्कं नाम गोत्रं] अन्तराय [इति] अष्टौ मूलप्रकृतय. ज्ञातव्या. ॥८॥

गा० ९—ज्ञानावरणीयं दर्शनावरणीयं मोहनीय अन्तराय एतानि चत्वारि घातिकर्माणि ज्ञातव्यानि। कस्मात् ? जीवगुणघातनात्। तथा आयुर्नाम गोत्रं वेदनीयमिति अघातिकर्माणि[3] ज्ञातव्यानि ॥९॥

गा० १०—घाति-घातनात् दूरीकरणात् केवलज्ञानं केवलदर्शनं अनन्तवीर्यं क्षायिकसम्यक्त्वं चकारात् क्षायिकचारित्रं क्षायिकदान-लाभ-भोगोपभोगा. नव क्षायिकगुणा भवन्ति। मति-श्रुतावधि-मनःपर्ययादय एते क्षायोपशमिकगुणाः। [क्षयात्] नाशनात् घातिघातनात् [क्षायिकगुणा भवन्ति]। सर्वघातिस्पर्धकानां उदयाभावः क्षयः, तेषां सदवस्था उपशमः, देशघाति स्पर्धकानां उदये सति क्षयोपशमः कथ्यते। [क्षयोपशमेन भवाः क्षायोपशमिका. । मत्यादय. क्षायोपशमिकगुणाः कथ्यन्ते।] ॥१०॥

गा० ११—आयुःकर्मोदयः कर्मकृते मोहवर्धिते अनादियुक्ते एवंभूते संसारे चतुर्गतिषु जीवस्य अवस्थानं स्थितिं करोति। किंवत् ? नर-हडिवत्। यथा हलिः छिद्रितकाष्ठविशेषः, हलिर्वा निगडः नरं पुरुषं अवस्थानं करोति; तथा आयुः कर्म जीवस्य संसारे स्थितिकारकं भवतीत्यर्थः। छिद्रवद्दारुविशेषः हलिरित्युच्यते ॥११॥

गा० १२—एतस्य नामकर्मणः त्रिनवतिप्रकृतयो भवन्ति। इदं तात्पर्यम्—तासु विषयेषु काश्चन प्रकृतयो जीवविपाकिन्यो भवन्ति, काश्चन प्रकृतयः पुद्गलविपाकिन्यः क्षेत्रविपाकिन्यो भवन्ति। चशब्दात् भवविपाकिन्यो भवन्ति। याः जीवविपाकिन्यः प्रकृतयः सन्ति, ताः अनेकप्रकारगत्यादिर्जीवभेदान् कुर्वन्ति। [याः पुद्गलविपाकिन्य.] प्रकृतयः सन्ति, ता औदारिकादिशरीर-संस्थान-संहननादिकानेकभेदान् कुर्वन्ति।

---

1. समये समये प्रबध्यते इति समयप्रबद्धः। (गो० क० टी०)। 2. सातिशयक्रियोपेतस्य आत्मनः सम्यक्त्वादिप्रवृत्तिलक्षणप्रयोगेन हेतुना एकादश [स्थानीय-] निर्जराविवक्षया अनेकसमयप्रबद्धो जीर्यते। (गो० क० टी०) ३. तथा जीवगुणघातकप्रकारेण न इत्यघातिसंज्ञानि। (गो० क० टी०)

याः क्षेत्रविपाकिन्यस्ताः वर्णानुपूर्वंगतेः [चतस्रः आनुपूर्व्यः गतेः] सकाशात् अन्यत्र गत्यर्थाः । जीव-पुद्गल-[भव-] क्षेत्रविपाकिनामिति कथितम् ॥१२॥

गा० १३—सन्तानक्रमेण अनुक्रमेण परम्पराक्रमेण आगतजीवस्याचरणं गोत्रमिति सण्णा संज्ञा स्यात् । यत्र उच्चं चरणं भवेत्, तत्र उच्चं गोत्रम् ; यत्र नीचं च भवति [तन्नीचगोत्रम्] ॥१३॥

गा० १४—अक्षाणां इन्द्रियाणां यदनुभवनं अनुभूतिः तद्वेदनीयम् । यदिन्द्रियाणां सुखस्वरूपं तत्सातम्, यद्दुःखस्वरूपं तदसातम् । तत् सुख-दुःखं वेदयतीति वेदनीयम् ।

गा० १५—अयं संसारी जीव अर्थं पदार्थं पूर्वं दृष्ट्वा जानाति, पश्चात्, सप्तभङ्गीभिः वाणीभिः श्रद्दधाति, इत्यनेन प्रकारेण दर्शनं ज्ञानं सम्यक्त्वं च [जीव] गुणाः भवन्ति । चशब्दात् वीर्यमपि गृह्यते । स्यादस्ति १ स्यान्नास्ति २ स्यादस्तिनास्ति ३ स्यादवक्तव्यं ४ स्यादस्ति-अवक्तव्यं ५ स्यान्नास्ति-अवक्तव्यं ६ स्यादस्ति-नास्ति-अवक्तव्यं ७ इति सप्तभङ्गी वाणी भगवत ॥१५॥

गा० १६—खु स्फुटं सप्तभङ्गं द्रव्यं सम्भवति । केन ? आदेशवशेन पूर्वसूरिकथनवशेन । ते सप्तभङ्गाः के इति चेदुच्यते—स्याच्छब्दः प्रत्येकं अभिसंबध्यते—स्यादस्ति १ स्यान्नास्ति २ स्यादस्तिनास्ति ३ स्यादवक्तव्यं ४ स्यादस्ति अवक्तव्यं ५ स्यान्नास्ति-अवक्तव्यं ६ स्यादस्ति-नास्त्यवक्तव्यम् ७ एते सप्त भङ्गाः ज्ञातव्याः । स्यात्कथंचित्प्रकारेण विवक्षितप्रकारेण स्वद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया द्रव्यमस्ति १ । स्यान्नास्ति—स्यात्कथंचित्प्रकारेण परद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया नास्त्यर्थः २ । स्यादस्तिनास्ति—स्यात्कथञ्चिद् विवक्षितप्रकारेण क्रमेण स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया द्रव्यमस्तिनास्तीत्यर्थः ३ । स्यादवक्तव्यम्–स्यात्कथञ्चिद् विवक्षितप्रकारेण युगपद् वक्तुमशक्यत्वात् 'क्रमप्रवर्त्तिनी भारती' इति वचनाद् युगपत् स्व-परद्रव्यादि-चतुष्टयापेक्षया द्रव्यमवक्तव्यमित्यर्थः ४ । स्यादस्त्यवक्तव्यम्—स्यात्कथञ्चिद्विवक्षितप्रकारेण [स्वद्रव्यादि-चतुष्टयापेक्षया] जीवोऽस्तीति अवक्तव्यं द्रव्यापेक्षया इति ५ । स्यान्नास्त्यवक्तव्यम्—स्यात्कथञ्चिद्विवक्षित-प्रकारेण परद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया युगपत् स्व-परद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया वा द्रव्यं नास्त्यवक्तव्यम् ६ । स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्यम्-स्यात्कथञ्चिद्विवक्षितप्रकारेण क्रमेण स्व परद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया युगपद्द्रव्यमस्ति नास्त्यवक्तव्यमित्यर्थः ७ । ॥१६॥

गा० १७—अभ्यर्हितत्वात् पूज्यत्वात् पूर्वं ज्ञानं भणितम् । ततो दर्शनं भवति, अतः सम्यक्त्वं भवति । वीर्यन्तु जीवाजीवेषु प्राप्तमिति हेतोः चरमे अन्ते पठितम् ॥१७॥

गा० १८—[घात्यपि] अन्तरायकर्म [अ-] घातिवद् ज्ञातव्यम् । कुतः ? निःशेषजीवगुणघातने अशक्यत्वात्, नाम-गोत्र-वेदनीय-निमित्तात् नाम-गोत्र-वेदनीयान्येव निमित्तं कारणं यस्य अन्तरायस्य; तस्मादघातिनां चरमे अन्ते पठितम् ॥१८॥

गा० १९—भवस्य संसारस्य आयुःकर्मबलेन स्थितिः भवति, नामकर्म आयुःपूर्वकं भवति । आयुः-कर्मपूर्वस्य नामकर्मणः । तत् पुनः गतिलक्षणभवं आश्रित्य नीचत्वं उच्चत्वं च गोत्रकर्मणः नामकर्मपूर्वकं कथितं नामकर्म पूर्वं यस्य गोत्रस्य तत् ॥१९॥

गा० २०—वेदनीयकर्म [अ-] घात्यपि मोहस्य कर्मणः बलेन उदयेन घातिवत् जीवस्य [गुणं] घातयति पीडयति इति हेतोः कारणात् घातिकर्मणां मध्ये मोहनीयस्यादौ वेदनीयं पठितम् ॥२०॥

गा० २१—अनुक्रमात् पतिं (पठितम्) इति पूर्वोक्तप्रकारेण सिद्धं पठितं कथितं वा ॥२१॥

गा० २२—एकस्मिन्नेकस्मिन् जीवप्रदेशे कर्मप्रदेशाः हु स्फुटं अन्तपरिहीना इति अनन्ता भवन्ति । एतेषां आत्म-कर्मप्रदेशानां सम्यक् [बन्धो] सम्बन्धो भवति । किंलक्षणो ज्ञातव्यः ? घननिचिडभूतः—घनवत् लोहमुद्गरवन्निबिडभूतः दृढतर इत्यर्थः ॥२२॥

---

१ विषयावबोधनम् । (गो० क० टी०)

गा० २३—जीवस्य विविधकर्मणा सह अनादिभूतः बन्धोऽस्ति । तस्य द्रव्यकर्मबन्धस्य [उदयेन] पुनः राग-द्वेषमयः भाव. परिणाम· जायते उत्पद्यते ॥२३॥

गा० २४—पुनरपि तेन राग-द्वेषमयेन भावेन अन्ये बहवः कर्मपुद्गलाः आत्मनः लगन्ति बन्धं प्राप्नुवन्ति । यथा घृतलिप्तगात्रस्य निविडा रेणवो लगन्ति, तथा रागद्वेष क्रोधादिपरिणामस्निग्धात्मप्रदेश-स्तवः निवट (निविड) रजवो (रजसः रेणवो वा) लगन्ति इत्यर्थः ॥२४॥

गा० २५—'जीवे' इति शेषः । एकसमयेन यत्कर्म [बद्धं] तत्कर्म आयुकर्म विना ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय-वेदनीय-मोहनीय-नाम-गोत्रान्तरायभेदैः सप्तप्रकारैः परिणमनं करोति बन्धं प्राप्नोति । च पुनः यद् बद्धं आयुकर्म तद्भुक्तायुःशेषेण भुज्यमानायुस्त्रिभाग-त्रिभागानुक्रमेण [बन्धं प्राप्नोति ।] ॥२५॥

कर्मभूमितिर्यग्मनुष्यायुर्बन्धविधिः—

सुर-णिरया णर-तिरिये छमास [सिट्ठगे] सगाउस्स ।
णर-तिरिया सव्वाउगतिभागसेसे तु कम्मस ॥१॥
संसारसमावाणं जीवाणं जीवियाउ वमुवारं ।
गयदोभाग तिगेकं छेप्पेणलेहइगि-तिभंगदलं । ॥२॥
इगिवीसेसेयसेत्तासी सत्तसेयगुणतीस वेमेयं तेदालं
पुण इक्कासी कहियं सेगेवीसं णवं तिण्णिमेगं च ॥३॥

२ ३ ४ ५ ६ ७ ८
६५६१ + ३ = ,२१८७ – ३ = ७२६ – ३ = २४३ ÷ ३ = ८१ ÷ = २७ ÷ ३ = ९ – ३ = ३ ÷ १ ।

अनेनानुक्रमेणायुः कर्म बन्धं याति—

गा० २६—स बन्धः सूत्रे अनादिनिधनद्वादशाङ्गवाण्यां निर्दिष्टः सूत्रनिर्दिष्टः भवति । स पूर्वोक्तः कर्मबन्धश्चतुर्भेदो ज्ञातव्यो भवति । स कथम्भूत ? जिनागमे कथितः । ते चत्वारो भेदाः के ? प्रकृति-स्थित्यनुभाग प्रदेशबन्धा । अयं भेदः पुरा पूर्वोक्तगाथासु (?) कथितः ।

प्रकृतिः परिणामः स्यात् स्थितिः कालावधारणं ।
अनुभागो रसो ज्ञेयः प्रदेशो दलसंचयः ॥२६॥

गा० २७—पटो वस्त्रम् ! प्रतिहारो द्वारपालः । असिः खड्गम् । मद्यम् [मदिरा । हडिः] काष्ठ-विशेषः निगडः । चित्रम् चित्र वस्त्रं वा चित्रकारी पुरुषः कुलालः कुम्भकार । भाण्डागारी कोषनियुक्त पुमान् । यथा एतेषां भावाः, तथाविधानि कर्माणि ज्ञातव्यानि ॥२७॥

गा० २८—ज्ञानावरणं कर्म सूत्रनिर्दिष्टं पञ्चविधं भवति । दृष्टान्तमाह—यथा प्रतिमाया उपरि क्षिप्तं क्षेपितं प्रतिमोपरि क्षिप्तं कर्पटकं वस्त्रं आच्छादकं भवति ॥२८॥

गा० २९—पुनः दर्शनावरणं कर्म किंस्वभावम् ? यथा नृपद्वारे प्रतीहारः राजदर्शननिषेधको भवति, तथा दर्शनावरणकर्म वस्तुदर्शननिषेधको भवति । तद्दर्शनावरणीयं कर्म नवप्रकारं स्फुटार्थवादिभिर्गणधरदेवैः सूत्रे सिद्धान्ते प्रोक्तम् ॥२९॥

गा० ३०—पुनः वेदनीयं कर्म द्विविधं भवति । कथम्भूतम् ? मधुलिप्तखड्गसदृशम् । तत्साता-सातभेदप्राप्तं सत् जीवस्य सुख-दुःखं ददाति ॥३०॥

गा० ३१—मोहनीयकर्म आत्मानं मोहयति, यथा मदिरा पुरुषं मोहयति । [यथा वा मदन-कोद्रवा पुरुषं मोहयन्ति ।] तन्मोहनीयं कर्म अष्टाविंशतिभेदेन विभिन्नं जिनोपदेशेन ज्ञातव्यम् ॥३१॥

गा० ३२—आयुःकर्म चतुःप्रकारम्। किं लक्षणं आयुःकर्म ? नारकश्च तिर्यक् मनुष्यश्च सुरश्च ये तेषां गतिर्गमनं पर्यायस्तद्धारकम्। गम्यते यथा सा गतिः, तस्याः गम्यं रोचनं (?) नारक-तिर्यङ्-मनुष्य-सुरगतिगं प्राप्तम्। कीदृशं आयुः ? हडिनिगडपुरुषसदृशम्। पुनः कीदृशम् ? जीवानां भवधारणे समर्थं भवति ॥३२॥

गा० ३३—नामकर्म गति-जाति-शरीरादिकं त्रिनवतिसंख्यागणितम्। पुनस्तत् किम्भूतं नाम ? चित्रकारवत् विचित्रं भवति। पुनः किम्भूतं नामकर्म ? नानानामनि- [र्वर्तकं] उत्पादकं भवति ॥३३॥

गा० ३४—गोत्रकर्म कुलालसदृशं कुम्भकारतुल्यं वर्तते। कीदृशम् ? नीचोच्चकुलेषु उत्पादने दक्षं प्रवीणम्। घटरञ्जनादिकरणे यथा कुम्भकारो निपुणः ॥३४॥

गा० ३५—यथा भाण्डागारिकः पुरुषः राजदत्तधनं निवारयति, तथा अन्तरायपञ्चक लब्धीनां निवारकं भवति ॥३५॥

गा० ३६—पञ्च नव द्वौ अष्टविंशतिः चत्वारि कर्माणि अनुक्रमेण त्रिनवतिः द्व्युत्तरशतं वा द्वे पञ्चकं उत्तरप्रकृतयो भवन्ति ॥३६॥

गा० ३७—अभिमुख-नियमितबोधनं आभिनिबोधकं भवति [तत्] अनिन्द्रियजं इन्द्रियजं बह्वादि-अवग्रहादिककृतषट्त्रिंशद्-भेदम्। किंभूतं आभिनिबोधकमतिज्ञानम् ? अनिन्द्रियजं [मनोनिष्पन्नं] इन्द्रियजं पञ्चस्पर्शनादिकोत्पन्नम्। अवग्रहादिभेदाश्चत्वारः। अवग्रहः वस्तुदर्शनम्। ईहा तद्वस्तुज्ञातुमिच्छा। अवायः तद्वस्तुनिश्चयः। धारणा तद्वस्तुनः पुनरविस्मरणम्। एते भेदाः बहु १ अबहु २ बहुविध ३ अबहु-विध ४ क्षिप्र ५ अक्षिप्र ६ निःसृत ७ अनिःसृत ८ उक्त ९ अनुक्त १० ध्रुव ११ अध्रुव १२ एतैः द्वादशभिः भेदैः गुण्यन्ते, तदा ४८ भेदा भवन्ति। पुनरेते भेदा पञ्चेन्द्रियैः मनसा च गुण्यन्ते, तदा अर्थावग्रहस्य २८८ भेदा भवन्ति। व्यञ्जनावग्रहस्य ४८ भवन्ति चक्षुर्मनोभेदरहितचतुरिन्द्रियैर्गुणिताः ४८ भेदा भवन्ति। एवं (२८८ + ४८ =) ३३६ भेदाः मतिज्ञानस्य भवन्ति। मतिज्ञानमावृणोतीति मतिज्ञानावरणीयम् ॥३७॥

गा० ३८—अर्थादर्थान्तरं येन उपलभ्यते तदाऽऽचार्याः श्रुतज्ञानं कथयन्ति। कीदृशं श्रुतज्ञानम् ? आभिनिबोधकपूर्वं श्रुतज्ञानं नियमेन शास्त्रप्रमुखं प्रधानम्। श्रुतज्ञानमावृणोतीति श्रुतज्ञानावरणीयम् ॥३८॥

गा० ३९—अवधीयते मर्यादीक्रियते इति अवधिः, सीमाज्ञानमिति वर्णितं समये सिद्धान्ते। एको भवप्रत्ययोऽवधिः, एकश्च गुणप्रत्ययः, इत्येतद्द्विविधमवधिज्ञानं यदवधिज्ञा इदं ब्रुवन्ति कथयन्ति। अवधिज्ञानमावृणोतीति अवधिज्ञानावरणीयम् ॥३९॥

गा० ४०—चिन्तितं अचिन्तितं वा अर्धं चिन्तितं वा अनेकभेदगतं [परमनसि स्थितमर्थं] यज्जानाति, तन्मनःपर्यय इति ज्ञानमुच्यते। तत्स्फुटं नरलोके मनुष्यक्षेत्रे सार्धद्वयद्वीपे एव [भवति] न तत्परमिति। मनःपर्ययज्ञानमावृणोतीति मनःपर्ययज्ञानावरणीयम् ॥४०॥

गा० ४१—सम्पूर्णं पुनः समग्रं केवलं असपत्नं शत्रुरहितं सर्वभावगतं लोकालोके वितिमिरं प्रकाशकं केवलज्ञानं मुणेयव्वं ज्ञातव्यम्। केवलज्ञानमावृणोतीति केवलज्ञानावरणीयम् ॥४१॥

गा० ४२—मति-श्रुतावधि-मनःपर्यय-केवलज्ञानानि, एतेषां आवरणं मतिज्ञानावरणीयं १ श्रुतज्ञानावरणीयं २ अवधिज्ञानावरणीयं ३ मनःपर्ययज्ञानावरणीयं ४ केवलज्ञानावरणीयं ५ इति पञ्चविकल्पं पञ्चप्रकारं ज्ञानावरणीयं कर्म जिनभणितं हे शिष्य, त्वं जानीहि ॥४२॥

गा० ४३—भावानामाकारं नैव कृत्वा अर्थान् पदार्थान् अविशेषयित्वा यत्सामान्यं ग्रहणं तत् समये सिद्धान्ते दर्शनमिति भण्यते ॥४३॥

गा० ४४—चक्षुषा नेत्रेण यत् प्रकाशयते दृश्यते, तच्चक्षुर्दर्शनं ब्रुवन्ति। शेषेन्द्रियाणां स्पर्शनादीनां प्रकाशः, स अचक्षुर्दर्शनमिति ज्ञातव्यः। चक्षुर्दर्शनमावृणोतीति चक्षुर्दर्शनावरणीयम्। अचक्षुर्दर्शनमावृणोतीति अचक्षुर्दर्शनावरणीयम् ॥४४॥

गा० ४५—परमाण्वादि द्रव्यं अन्तिमस्कन्धं त्रैलोक्यस्कन्ध [पर्यन्तं] इति मूर्तिद्रव्याणि, तानि प्रत्यक्षं पश्यति, तदवधिदर्शनमिति। अवधिदर्शनमावृणोतीति अवधिदर्शनावरणीयम् ॥४५॥

गा० ४६—बहुविध-बहुप्रकारा. उद्योताः चन्द्रसूर्याग्निरत्नप्रमुखाः परिमिते क्षेत्रे सार्धद्वयद्वीपे [भवन्ति]। यः केवलदर्शनोद्योतः स लोकालोकवितिमिरः। केवलदर्शनमावृणोतीति केवलदर्शनावरणीयम् ॥४६॥

गा० ४७—एतेषां चक्षुरचक्षुरवधिकेवलालोकानां आवरणं दर्शनावरणीयं कर्म। इतः पञ्चनिद्रादर्शनावरणं प्रभणिष्यामः ॥४७॥

गा० ४८—अथ स्त्यानगृद्धिः १ निद्रानिद्रा २ तथैव प्रचलाप्रचला ३ निद्रा ४ प्रचला ५ च। एवं नवभेदं दर्शनावरणीयम् ॥४८॥

गा० ४९—स्त्यानगृद्धिनिद्रोदयेन उत्थापिते सत्यपि स्वपिति, कर्म करोति, जल्पति च। निद्रानिद्रोदयेन दृष्टिमुद्घाटयितुं न शक्नोति ॥४९॥

गा० ५०—प्रचलाप्रचलोदयेन [मुखात्] लाला वहन्ति, अङ्गानि चलन्ति। निद्रोदये सति गच्छन् सन् तिष्ठति। पुनः उपविशति, पतति च ॥५०॥

गा० ५१—प्रचलोदयेन च जीवः ईषन्नेत्रे मीलयित्वा (उन्मील्य) स्वपिति, सुप्तः सन् ईषज्जानाति, मुहुर्मुहुः मन्दं मन्दं स्वपिति ॥५१॥

गा० ५२—द्विविधं स्फुटं वेदनीयं सातमसातं वेदनीयमिति। पुनः द्विविकल्पं मोहं दर्शनमोहं चारित्रमोहमिति ॥५२॥

गा० ५३—बन्धादेकं मिथ्यात्वम्, उदयं सत्त्वं प्रतीत्य आश्रित्य त्रिविधं स्फुटं दर्शनमोहं मिथ्यात्वं मिश्रं सम्यग्मिथ्यात्वं सम्यक्त्वप्रकृतिः इति त्वं जानीहि ॥५३॥

गा० ५४—यन्त्रेण कोद्रवः त्रिधा भवति प्रथमोपशमसम्यक्त्वभावयन्त्रेण मिथ्यात्वद्रव्यं त्रिधा भवति। कीदृशं मिथ्यात्वद्रव्यं द्रव्यकर्मणः असंख्यातगुणहीनम्। मिथ्यात्वादसंख्यातगुणहीनं सम्यग्मिथ्यात्वं भवति, सम्यग्मिथ्यात्वादसंख्यातगुणहीनं सम्यक्त्वप्रकृतिमिथ्यात्वं भवति ॥५४॥

गा० ५५—द्विविधं चारित्रमोहं कषायवेदनीय नोकषायवेदनीयं चेति द्विविधम्। प्रथमं षोडशविकल्पम्, द्वितीयं नवभेदं उद्दिष्टं कथितम् ॥५५॥

गा० ५६—अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यानं प्रत्याख्यानं तथैव संज्वलन क्रोधः मानः मायच्च लोभः षोडश कषाया एते ॥५६॥

गा० ५७—शिला-पृथिवीभेद-धूलि-जलराजिरेखासमानः क्रोधः नारकतिर्यङ्-मनुष्यामरगतिषु क्रमशः क्रमेण उत्पादकः ॥५७॥

गा० ५८—शिलाऽस्थि काष्ठ-वेत्ररूपनिजभेदेन अनुहरन् अनुसरन् मानः नारक-तिर्यङ्-मनुष्य-देवगतिषु क्रमशः उत्पादकः ॥५८॥

गा० ५९—वेणुमूल-मेषशृङ्ग-उरभ्रशृङ्ग गोमूत्र-क्षुरप्रसदृशी माया नारक तिर्यङ्-नरामरगतिषु जीवं क्षिपति ॥५९॥

गा० ६०—कृमिराग-चक्रमल-तनुमल-हरिद्रारागेन सदृशः लोभः नारक-तिर्यङ्-मनुष्य-देवेषु क्रमशः उत्पादकः ॥६०॥

गा० ६१—सम्यक्त्वं घातयति अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानं देशव्रतं घातयति, प्रत्याख्यानं महाव्रतं घातयति, संज्वलनं यथाख्यातचारित्रं घातयति। कषायाश्चत्वारः षोडश असंख्यात-लोक-परिमाणाः सन्ति ॥६१॥

गा० ६२—हास्यं अरतिः शोकः भयं जुगुप्सा रूपा स्त्रीवेदः पुंवेदः तथा षण्ढवेदः एते नव नोकषाया ईषत्कषायाः ॥६२॥

गा० ६३—छादयति स्व आत्मानं दोषैः नियतो निश्चयात् छादयति परं अन्यं अपि दोषेण। छादनशीला यस्मात् , तस्मात् सा वर्णिता कथिता स्त्री।

श्रोणिमार्दव-भीरुत्व-मुग्धत्व-क्लीवता-स्तनाः।
पुंस्कामेन समं सप्त लिङ्गानि स्त्रीनिवेदने ॥१॥   ॥६३॥

गा० ६४—पुरुगुण-पुरुभोगान् शेते स्वामित्वेन प्रवर्तते, लोके पुरुः श्रेष्ठः गुणो यस्मिन्, तत् ईदृशं कर्म करोति, पुरुः उत्तमः, उत्तमे परमोक्षपदे शेते तिष्ठतीति पुरूत्तमः वा पुरुषोत्तमः यस्मात् तस्मात् स वर्णितः पुरुषः।

खरत्व-मेहन-स्तब्ध-शौण्डीर्य-श्मश्रु-धृष्टताः।
स्त्रीकामेन समं सप्त लिङ्गानि नरवेदने ॥६४॥

गा० ६५—नैव स्त्री, नैव पुमान् , नपुंसकः, उभयलिङ्गव्यतिरिक्तः रहितः इष्टाग्निसमानः वेदनागुरुः कलुषचित्तः।

यानि स्त्री पुरुषलिङ्गानि पूर्वोक्तानि चतुर्दश।
सूक्तानि तानि मिश्राणि षण्ढभावनिवेदने ॥२॥   ॥६५॥

गा० ६६—नारक-तिर्यक्-नरामरलक्षणं आयुःकर्म चतुर्विधं भवेत्। नामकर्म द्वाचत्वारिंशत्प्रमं पिण्डापिण्डभेदेन ॥६६॥

गा० ६७—नारक-तिर्यक्-मनुष्य-देवगति इति गतिनामपिण्डप्रकृतिश्चतुर्धा वर्तते। एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय पञ्चेन्द्रियभेदेन जातिनामपिण्डप्रकृतिः पञ्चप्रकारा ॥६७॥

गा० ६८—औदारिक वैक्रियिकाऽऽहारक तैजस-कार्मणभेदेन शरीरनाम पञ्चविधम् [इति] तेषां शरीराणां विकल्पान् विजानीहि ॥६८॥

गा० ६९—त्रिके औदारिक-वैक्रियिकाऽऽहारके तैज-सकार्मणाभ्यां कृतसंयोगे सति चतस्रः चतस्रः प्रकृतयो भवन्ति। तैजस-कार्मणेन कृतसंयोगे सति द्वे प्रकृती भवतः। कार्मणं कार्मणेन कृतसंयोगे सति एका प्रकृतिर्भवति। एवं शरीरस्य पञ्चदश भेदा भवन्ति। [तद्यथा—]

औ	औ औ	औ तै	औ का	औ तै का
वै	वै वै	वै तै	वै का	वै तै का
आ	आ आ	आ तै	आ का	आ तै का
तै	तै तै	तै का		
का	का का			

नामकर्मत्रिनवतिमध्ये पुनरुक्तशरीरपञ्चकं च विना शरीरदशकं मिलितं चेदेतानि [१०३] ॥६९॥

गा० ७०—पञ्च शरीरबन्धनं नामकर्म—औदारिकबन्धनं वैक्रियिकबन्धनं आहारकबन्धन तैजस-बन्धनं कार्मणबन्धन इति पञ्चविधं बन्धननामकर्म ॥७०॥

गा० ७१—पञ्चसंघातनामकर्म—औदारिकसंघातः वैक्रियिकसंघातः आहारकसंघातः तैजससंघातः कार्मणसंघातः इति पञ्च संघातनामकर्म ॥७१॥

गा० ७२—समचतुरस्रसंस्थानं न्यग्रोधसंस्थानं स्वातिकसंस्थानं कुब्जकसंस्थानं वामनसंस्थानं हुण्डकसंस्थानं इति संस्थानं षड्भेदं निर्दिष्टं जिनागमे जानीहि हे शिष्य ॥७२॥

गा० ७३—औदारिकाङ्गोपाङ्गं वैक्रियिकाङ्गोपाङ्गं आहारकाङ्गोपाङ्गं इति भणितं आङ्गोपाङ्गं त्रिविधं परमागमकुशलसाधुभिः ॥७३॥

गा० ७४—पादयोर्नालिके २ बाहू २ तथा नितम्बः ५ पृष्ठी ६ उरः ७ शीर्षः मस्तकं ८ अष्टौ अङ्गानि देहे [भवन्ति।] शेषाः उपाङ्गानि ॥ ४॥

गा० ७५-७६—द्विविधं विहायो नाम—प्रशस्तगमन अप्रशस्तगमनमिति नियमात्निश्चयात् ।

वज्रर्षभनाराचसंहननं वज्रनाराचसंहननं नाराचसंहननं तथा अर्धनाराचसंहननं कीलकसंहननं असम्प्राप्तासृपाटिकासंहननमिति संहननं षड्विधं अनादिनिधनाऽऽर्षे भणितम् ॥७५-७६॥

गा० ७७—यस्य कर्मण उदये वज्रमयं अस्थि ऋषभं नाराचं तत् संहननं भणितं वज्रर्षभनाराचं नामेति ॥७७॥

गा० ७८—यस्योदये वज्रमयं अस्थि, नाराचं सामान्यं एव, तत्संहननं नाम्ना वज्रनाराचमिति ॥७८॥

गा० ७९—यस्योदये वज्रमयाः हड्डाः वज्ररहितं नाराच ऋषभश्च तत् नाराचशरीरसंहननं भणितव्यम् ॥७९॥

गा० ८०—वज्रविशेषणरहितानि अस्थीनि अर्धनाराचं च यस्योदये [भवन्ति] तत् भणितं नाम्ना अर्धनाराचम् ॥८०॥

गा० ८१—यस्य कर्मण उदये वज्ररहितहड्डाः कीलिता इव दृढबन्धनाः भवन्ति, स्फुटं तत् कीलक-नामसंहननम् ॥८१॥

गा० ८२—यस्य कर्मण उदये अन्योन्यासम्प्राप्तहड्डसन्धयः नरशिराबद्धाः भवन्ति, तत् स्फुटं असम्प्राप्तासृपाटिकसंहननं भवेत् ॥८२॥

गा० ८३—असृपाटिकेन गम्यते आदितश्चतु:कल्पयुगलान्तम् । तत परं द्वियुगले द्वियुगले कीलक-नाराचार्धनाराचान्ता [गच्छन्ति] ॥८३॥

गा० ८४—ग्रैवेयकानुदिशानुत्तरविमानवासिषु यान्ति ते नियमात् त्रिद्विकैकसंहननाः नाराचादिकाः क्रमशः ॥८४॥

तेषां स्वर्गादिगमनरचनेयम्—

गा० ८५—संज्ञी षट्संहननयुक्तः व्रजति गच्छति मेघान्तम् । तत परं चापि असृपाटिकारहिताः पञ्च पञ्च-चतुरेकसंहननाः व्रजन्ति ॥८५॥

गा० ८६—घर्मा वंशा मेघा अञ्जना अरिष्टा तथैव ज्ञातव्या षष्ठी मघवी पृथिवी, सप्तमी माघवी नाम ॥८६॥

एतासु गमनरचनेयम्—

गा० ८७—मिथ्यात्वापूर्वद्विकादिषु सप्त-चतुः-पञ्चस्थानेषु नियमेन प्रथमादिषट्त्र्येकगुणस्थानेषु ओघे। [अयमर्थः—] मिथ्यात्वादिसप्तगुणस्थानेषु षट्संहननयुक्ताः जीवा यान्ति। चतुर्षु उपशमश्रेणिषु वज्रर्षभनाराच-वज्रनाराच-नाराचसंहननानि यान्ति। पञ्चक्षपकेषु एको वज्रर्षभनाराचसंहनन एव गच्छति।

गुणस्थानेषु रचनेयम्—

गुणस्थानेषु

गुण०	१	२	३	४	५	६	७	संह० ६
उप०	८	९	१०	११				संह० ३
क्षप०	८	९	१०	१२	१३			संह० १

आदेशे [मार्गणास्थानेषु] विशेषतो ज्ञेयानि ॥८७॥

गा० ८८—विकलचतुष्के द्वीन्द्रिये त्रीन्द्रिये चतुरिन्द्रिये असंज्ञि पञ्चेन्द्रिये च षष्ठं संहननं भवति। असंख्यातायुर्युक्तेषु जीवेषु प्रथमं संहननं भवति। [अवसर्पिण्याः] चतुर्थकाले षट्संहननानि भवन्ति। पञ्चमकाले त्रीणि संहननानि भवन्ति। षष्ठे काले एकं [सृपाटिकं] संहननं भवति ॥८८॥

गा० ८९—सर्वविदेहेषु तथा विद्याधर-म्लेच्छमनुष्य-तिर्यक्षु षट् संहननानि भणितानि। नागेन्द्र-पर्वतात्परतः तिर्यक्षु षट् संहननानि सन्ति ॥८९॥

गा० ९०—अन्तिमत्रिकसंहननानां उदयः पुनः कर्मभूमिस्त्रीणाम्। आदिमत्रिकसंहननानि तत्-स्त्रीणां न सन्तीति जिनैर्निर्दिष्टं कथितम् ॥९०॥

गा० ९१—पञ्च च वर्णाः—श्वेतं पीतं हरितं रक्तं कृष्णं वर्णमिति। गन्धं द्विविधं लोके सुगन्ध-दुर्गन्धमिति जानीहि ॥९१॥

गा० ९२—तिक्तं कटुकं कषायमाम्लं मधुरमिति एतानि पञ्च रसनामानि। मृदु-कोमल-कर्कश-गरिष्ठ-लघु-शीतोष्ण-स्निग्ध-रूक्षाः एते अष्टौ स्पर्शाः ॥९२॥

गा० ९३—स्पर्शः अष्टविकल्पः। चतस्रः आनुपूर्व्यः अनुक्रमेण जानीहि—नरकगत्यानुपूर्वी तिर्यग्गत्यानुपूर्वी मनुष्यगत्यानुपूर्वी देवगत्यानुपूर्वी चेति ॥९३॥

गा० ९४—एताः चतुर्दश पिण्डप्रकृतयः वर्णिताः कथिताः संक्षेपेण। अतोऽग्रे अपिण्डप्रकृतयः अष्टाविंशतिं वर्णयिष्यामि कथयिष्यामि ॥९४॥

गा० ९५—अगुरुलघुकं उपघातं परघातं पुन जानीहि उच्छ्वासं आतपं उद्योतं षट् प्रकृतयः अगुरुषट्कमिति ॥९५॥

गा० ९६—मूलोष्णप्रभः अग्निः, आतपः भवति उष्णसंयुक्तप्रभः। आदित्ये तिरश्चि उष्णप्रभा-रहित उद्योतः ॥९६॥

गा० ९७—त्रस-स्थावरं पुनः बादर-सूक्ष्मं पर्याप्तं तथा अपर्याप्तं प्रत्येकशरीरं पुनः साधारणशरीरं स्थिरं अस्थिरम् ॥९७॥

गा० ६८—शुभनाम अशुभनाम सुभगनाम दुर्भगनाम सुस्वरनाम दुःस्वरनाम तथैव ज्ञातव्याः आदेयनाम अनादेयनाम यशःकीर्तिनाम अयशस्कीर्तिनाम निर्माणनाम तीर्थंकरनाम ॥९८॥

गा० ९९— त्रस-बादर-पर्याप्त-प्रत्येकशरीर-स्थिर-शुभ-सुभग-सुस्वर-आदेय-यशस्कीर्ति-निर्माण-तीर्थंकरमिति एताः त्रसद्वादशप्रकृतयः ॥९९॥

गा० १००—स्थावरं, सूक्ष्म, अपर्याप्तं, साधारणशरीरं, अस्थिरं, अशुभं, दुर्भगं दुःस्वरं, अनादेयं अयशस्कीर्तिः इति स्थावरदशकम् ॥१००॥

गा० १०१—इति नामप्रकृतयः त्रिनवतिः । उच्चं नीचं इति द्विविधं गोत्रकर्म भणितं कथितम् । पञ्चविधं अन्तरायकर्म ॥१०१॥

गा० १०२—तथा दानं लाभः भोगः उपभोगः वीर्यम्, एतेषु अन्तरायमिति पञ्चविधं ज्ञेयम् । इति सर्वोत्तरप्रकृतयः अष्टचत्वारिंशदधिकशतप्रमाः भवन्ति ॥१०२॥

गा० १०३—देहे अविनाभाविन्यः पञ्च बन्धनानि पञ्च संघाताः इति अबन्धोदयाः । वर्णचतुष्के अभिन्ने भेदरहिते गृहीते सति चतस्रः प्रकृतयो बन्धोदयाः सन्ति । यः येन विना न भवति स अविनाभावी इत्युच्यते । बन्धश्च उदयश्च बन्धोदयौ, न बन्धोदयौ यासां ताः अबन्धोदयाः । अष्टाविंशतिः प्रकृतयः बन्धेऽपि न, उदयेऽपि न सन्ति ॥१०३॥

गा० १०४—वर्ण-रस-गन्ध-स्पर्शा चत्वारः चत्वारः एकः सप्त सम्यग्मिथ्यात्व भवन्ति । एताः अबन्धाः बन्धनानि पञ्च पञ्च सघाताः सम्यक्त्वप्रकृतिमिथ्यात्वम् ॥१०४॥

गा० १०५—पञ्च नव द्वे षड्विंशतिः चतस्र. क्रमेण सप्तषष्टिः द्वे पञ्च च भणिता एता बन्धप्रकृतयः ॥१०५॥

गा० १०६—पञ्च नव द्वे अष्टाविंशतिः चतस्रः क्रमेण सप्तषष्टि. द्वे पञ्च च भणिता एता उदयप्रकृतयः ॥१०६॥

गा० १०७—भेदबन्धे षट्चत्वारिंशदधिकं शतम् १४६ । अभेदबन्धे विंशत्यधिकं शतम् १२० । भेदोदये सर्वा १४८ उदयरूपाः प्रकृतयः । द्वाविंशत्यधिक शतं १२२ अभेदोदये ॥१०७॥

गा० १०८—क्रमेण ५।९।२।२८।४।९३।२।५ एता सत्त्वप्रकृतयः भणिताः ॥१०८॥

गा० १०९—केवलज्ञानावरणं दर्शनषट्कं—पञ्च निद्रा केवलदर्शनं-कषायद्वादशकं—अन० ४ अप्र० ४ प्रत्या० ४—मिथ्यात्वं च सर्वघाति । सम्यग्मिथ्यात्वं अबन्धे [सर्वघाति] ॥१०९॥

गा० ११०—ज्ञानावरणचतुष्कं—म० श्रु० अ० म०-त्रीणि दर्शनानि सम्यक्त्वप्रकृतिः संज्वलनं ४ नव नोकषायाः अन्तरायाः ५ [एताः] १६ देशघातिन्यः ॥११०॥

गा० १११-११२—साता त्रीण्यायूंषि उच्चगोत्रं मनुष्यगतिः मनुष्यगत्यानुपूर्वी देवगतिः तदानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियत्वं, शरीराणि पञ्च, बन्धनानि पञ्च, संघाताः पञ्च, अङ्गोपाङ्गानि [त्रीणि] वर्णचतुष्कं, समचतुरस्रसंस्थानं वज्रर्षभनाराचं उपघातोनागुरुषट्कं प्रशस्तविहायोगतिः त्रसद्वादशकं (त्रस-बादर-पर्याप्त-प्रत्येकशरीर-स्थिर-शुभ-सुभग-सुस्वरादेय-यशःकीर्तिनिर्माण-तीर्थकराणि) [भेदत] अष्टषष्टिः ६८। द्वाचत्वारिंशत् अभेदतः शस्ता पुण्यप्रकृतयः ॥१११-११२॥

गा० ११३-११४—घातीनि सर्वाण्यप्रशस्तान्येवेति तानि सप्तचत्वारिंशत् । नीचैर्गोत्रं असातवेदनीयं नरकायुष्यं नरकगति-तदानुपूर्व्ये तिर्यग्गति-तदानुपूर्व्ये एकेन्द्रियादिचतुर्जातयः न्यग्रोधपरिमण्डलादिपञ्चसंस्थानानि वज्रनाराचादिपंचसंहननानि अशुभवर्णगन्धरसस्पर्शाः उपघातः अप्रशस्तविहायोगतिः स्थावरदशकम् (स्थावर-सूक्ष्मापर्याप्त-साधारणास्थिराशुभ-दुर्भग-दु.स्वरानादेयायशः कीर्तयः) इत्येताः अप्रशस्ताः बन्धोदयौ प्रति क्रमेण भेदविवक्षायामष्टनवतिः शतं च भवन्ति । अभेदविवक्षायां द्व्यशीतिश्चतुरशीतिश्च भवन्ति । ११३-११४॥

गा० ११५—अनन्तानुबन्धिनः सम्यक्त्वं घातयन्ति, अप्रत्याख्यानकषायाः देशचारित्रं घातयन्ति, प्रत्याख्यानकषायाः सकलचारित्रं घातयन्ति, संज्वलनकषाया यथाख्यातचारित्रं घातयन्ति, तेन गुणनामानो भवन्ति। अनन्तसंसारकारणत्वात् मिथ्यात्वमनन्तं तद् बध्नन्तीत्यनन्तानुबन्धिनः। अप्रत्याख्यानं ईषत्संयमः, तं कषन्तीति अप्रत्याख्यानकषायाः। प्रत्याख्यानं सकलसंयमः, तं कषन्तीति प्रत्याख्यानकषायाः। सम् एकीभूय ज्वलन्ति संयमेन सहावस्थानात्, संयमो वा ज्वलत्स्वेषु सत्स्वपीति संज्वलनाः, त एव यथाख्यातं कषन्तीति संज्वलनकषायाः। एवं शेषनोकषायज्ञानावरणादीन्यप्यन्वर्थसंज्ञानि भवन्ति। ॥११५॥

गा० ११६—उदयाभावेऽपि तत्संस्कारकालो वासनाकालः। स च संज्वलनानामन्तर्मुहूर्तः प्रत्याख्यानावरणानामेकपक्षः, अप्रत्याख्यानावरणानां षण्मासाः, अनन्तानुबन्धिनां संख्यातभवोऽसंख्यातभवोऽनन्तभवो वा भवति नियमेन ॥११६॥

गा० ११७—देहादि-स्पर्शान्ताः ५० पञ्चशरीर-पञ्चबन्धन-पञ्चसंघात-षट्संस्थान-त्र्यङ्गोपाङ्ग-षट्संहनन-पञ्चवर्ण-द्विगन्ध-पञ्चरस-स्पर्शाष्टकमिति पञ्चाशत्, निर्माणं आतपोद्योतौ स्थिरास्थिर-शुभाशुभ-प्रत्येकसाधारणानि अगुरुलघूपघातपरघाताश्चेति द्वाषष्टिः पुद्गलविपाकीनि भवन्ति; पुद्गले एव एषां विपाकित्वात् ॥११७॥

गा० ११८—चत्वारि आयूंषि भवविपाकीनि, चतस्रः आनुपूर्व्यः क्षेत्रविपाकिन्यः, अवशिष्टाः अष्टसप्ततिः जीवविपाकिन्यः; नरकादि जीवपर्यायनिर्वर्तनहेतुत्वात् ॥११८॥

गा० ११९—वेदनीयद्वयं गोत्रद्वयं घातिसप्तचत्वारिंशत् नामसप्तविंशतिश्चेति अष्टसप्ततिर्जीवविपाकिन्यः प्रकृतयः ॥११९॥

गा० १२०—तीर्थङ्करं उच्छ्वासः बादर-सूक्ष्म-पर्याप्तापर्याप्त-सुस्वरदुःस्वरादेयानादेय-यशःकीर्त्य-यशःकीर्ति-त्रसस्थावर-प्रशस्ताप्रशस्तविहायोगति-सुभग-दुर्भग-चतुर्गतयः पञ्च जातयश्चेति सप्तविंशतिः नामप्रकृतयः जीवविपाकिन्यः ॥१२०॥

गा० १२१—चतुर्गतयः पञ्चजातयः उच्छ्वासः विहायोगति-त्रस-बादर-पर्याप्तयुगलानि सुभग-सुस्वरादेय-यशःकीर्तियुगलानि तीर्थकरं चेत्यथवानामसप्तविंशतिः ॥१२१॥

गा० १२२—उत्कृष्टः स्थितिबन्धः कोटीकोटिसागरोपमाणि ज्ञान-दर्शनावरणान्तरायवेदनीयेषु त्रिंशत्। नाम-गोत्रयोः विंशतिः। मोहनीये सप्ततिः। आयुषि शुद्धानि कोटीकोटिविशेषणरहितानि सागरोपमाण्येव त्रयस्त्रिंशत्। अत्र शुद्धविशेषणं कोटीकोटिव्यवच्छेदार्थम् ॥१२२॥

गा० १२३—उत्कृष्टस्थितिबन्धः असातवेदनीय-ज्ञान-दर्शनावरणान्तरायविंशतेः ओघः मूलप्रकृतिवत्-त्रिंशत्कोटीकोटिसागरोपमाणि। सातावेदनीय-स्त्रीवेद-मनुष्यद्विकेषु तदर्धम्—पञ्चदशकोटीकोटिसागरोपमाणि। दर्शनमोहे—मिथ्यात्वे बन्धे एकविधत्वात् तत्र सप्ततिकोटीकोटिसागरोपमाणि। चारित्रमोहनीय-षोडशकषायेषु चत्वारिंशत्कोटीकोटिसागरोपमाणि ॥१२३॥

गा० १२४—संस्थान-संहननानां चरमसंस्थान-संहननस्य मूलप्रकृतिवद् विंशतिकोटीकोटिसागरोपमाणि। शेषसंस्थान-संहननानां समचतुरस्रसंस्थान-वज्रवृषभनाराचसंहननपर्यन्तं द्वि-द्विकोटिसागरोपमविहीन ओघः। विकलत्रयाणां सूक्ष्मत्रयाणां च अष्टादशकोटीकोटिसागरोपमाणि ॥१२४॥

गा० १२५-१२६—अरति-शोक-षण्ढवेद-तिर्यग्द्विक-भयद्विक-नरकद्विक-तैजसद्विकौदारिकद्विक-वैक्रियिकद्विकातपद्विक-नीचैर्गोत्र-त्रसचतुष्क-वर्णचतुष्का-गुरुलघुचतुष्कैकेन्द्रिय-पञ्चेन्द्रिय-स्थावर-निर्माणासद्गमना-स्थिरषट्कानां विंशतिकोटीकोटिसागरोपमाणि ॥१२५॥

गा० १२७—हास्य-रत्युच्चैर्गोत्र-पुंवेद-स्थिरषट्क-प्रशस्तगमन-देवद्विकानां तस्यार्धं दशकोटीकोटिसागरोपमाणि। आहारकद्वय-तीर्थकृतोः अन्तःकोटीकोटिसागरोपमाणि ॥१२७॥

गा० १२८—सुर-नरकायुषोः ओघः त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि। तिर्यङ्मनुष्यायुषोः त्रीणि पल्योपमानि। अयमुत्कृष्टस्थितिबन्धः संज्ञिपर्याप्तस्यैव, असंज्ञ्यन्तानामग्रे प्ररूपणात्। योग्यं इत्यनेन अयं संसारकारणत्वादशुभत्वात् शुभाशुभकर्मणां चातुर्गतिकसंक्लिष्टैरेव बध्यत इत्यर्थः ॥१२८॥

गा० १२९—आयुस्त्रयवर्जितशुभाशुभप्रकृतीनां उत्कृष्टस्थितिकारणं संक्लेश एवेत्याह—तु पुनः तिर्यङ्-मनुष्य-देवायुर्वर्जितसर्वप्रकृतिस्थितीनां उत्कृष्टस्थितिबन्ध उत्कृष्टसंक्लेशेन भवति। तु पुनः तासां जघन्यस्थितिबन्ध उत्कृष्टविशुद्धिपरिणामेन भवति। तत्त्रयस्य तु उत्कृष्टं उत्कृष्टविशुद्धिपरिणामेन जघन्यः तद्विपरीतेन भवति ॥१२९॥

गा० १३०—आहारकद्विकं तीर्थं देवायुश्चेति चत्वारि मुक्त्वा ११६ प्रकृतिसर्वोत्कृष्टस्थितीनां मिथ्यादृष्टिरेव बन्धको भणितः। तच्चतुर्णां तु सम्यग्दृष्टिरेव ॥१३१॥ तत्रापि विशेषमाह—

गा० १३१—देवायुः उत्कृष्टस्थितिकं प्रमत्त एवाप्रमत्तगुणस्थानाभिमुखो बध्नाति; अप्रमत्ते तद्व्युच्छित्तावपि तत्र सातिशये तीव्रविशुद्धत्वेन तदबन्धात्, निरतिशये च तदुत्कृष्टासम्भवात्। तु पुनः आहारकद्वयं उत्कृष्टस्थितिकं अप्रमत्तः प्रमत्तगुणस्थानाभिमुखः संक्लिष्ट एव बध्नाति, आयुस्त्रयवर्जितानां उत्कृष्टस्थितेः उत्कृष्टसंक्लेशेन इत्युक्तत्वात्। तीर्थंकरं उत्कृष्टस्थितिकं नरकगतिगमनाभिमुखमनुष्यासंयतसम्यग्दृष्टिरेव बध्नाति ॥१३१॥

शेषाणां ११६ उत्कृष्टस्थितिबन्धकमिथ्यादृष्टीनां गाथाद्वयेनाह—

गा० १३२-१३३—नरक-तिर्यङ्-मनुष्यायूंषि वैक्रियिकषट्कं विकलत्रयं सूक्ष्मत्रयं चोत्कृष्टस्थितिकानि नराः तिर्यञ्चश्च बध्नन्ति, औदारिकद्वयं तिर्यग्द्वयोद्योतासम्प्राप्तासृपाटिकसंहननानि सुर-नारका एव, एकेन्द्रियातपस्थावराणि पुनः देवाः, शेषद्वानवतिं उत्कृष्टसंक्लिष्टा ईषन्मध्यमसंक्लिष्टाश्च चातुर्गतिकाः। उक्कस्सट्ठिदिबंधपाओग्गअसंखेज्जलोगपरिणामाणं पलिदोवमस्स असंखेज्जभागमेत्ताणि खंडाणि कादूण तत्थ चरमखंडस्स उक्कस्ससंकिलेसो णाम, पढमखंडस्स ईसिसंकिलेसो णाम, दोण्हं विचालखंडाणं मज्झिमसंकिलेसो णामेत्ति उच्चदि ॥१३२-१३३॥

गा० १३४—जघन्यस्थितिबन्धो वेदनीये द्वादश मुहूर्त्ताः, नाम-गोत्रयोरष्टौ, शेषपञ्चानां तु पुनः एकैकोऽन्तर्मुहूर्त्तः ॥१३४॥

गा० १३५—लोभस्य सूक्ष्मसाम्परायबन्धसप्तदशानां च जघन्यस्थितिबन्धः मूलप्रकृतिवद् भवति, क्रोधस्य द्वौ मासौ, मानस्य एकमासः, मायाया अर्धमासः, पुंवेदस्य अष्टवर्षाणि ॥१३५॥

गा० १३६—तीर्थंकराहारकद्विकयोरन्तःकोटीकोटिसागरोपमाणि। अयं जघन्यस्थितिबन्धः सर्वोऽपि क्षपकेषु स्व-स्वबन्धव्युच्छित्तिकाले एव नियमाद् भवति। तद्यथा—आसां तीर्थंकराहारकशरीराहारकाङ्गोपाङ्गानां बन्धविच्छित्तिस्थानं अष्टमगुणस्थानकषष्ठमभागः, तत्र जघन्यस्थितिबन्धः। दशमगुणस्थाने लोभस्य जघन्यस्थितिबन्धः अन्तर्मुहूर्त्तकालः। सूक्ष्मसाम्पराये ज्ञानावरणपञ्चकं ५ अन्तरायपञ्चकं ५ चक्षुरादिदर्शनचतुष्कं ४ एतासां चतुर्दशप्रकृतीनां अन्तर्मुहूर्त्तकालः जघन्यस्थितिबन्धः। तथा सूक्ष्मसाम्पराये यशस्कीर्त्त्युच्चगोत्रयोरष्टौ मुहूर्त्ता जघन्यस्थितिबन्ध, सातावेदनीयस्य जघन्यस्थितिबन्धः द्वादश मुहूर्त्ताः ॥१३६॥

गा० १३७—नर-तिर्यगायुषोर्जघन्यस्थितिबन्धोऽन्तर्मुहूर्त्तो भवति, सुर-नारकायुषोः दशसहस्रवर्षाणि ॥१३७॥

गा० १३८—उक्ताभ्यः ३९ शेषप्रकृतीनां ८१ मध्ये वैक्रियिकषट्क-मिथ्यात्वरहितानां ८४ जघन्यस्थितिं बादरैकेन्द्रियपर्याप्तः तद्योग्यविशुद्ध एव बध्नाति स्व-स्वोत्कृष्टप्रतिभागेन त्रैराशिकविधाने नेत्यर्थः ॥१३८॥

गा० १३९—एकेन्द्रिया मिथ्यात्वोत्कृष्टस्थितिमेकसागरोपमां बध्नन्ति, द्वीन्द्रियाः पञ्चविंशतिसागरोपमाणि, त्रीन्द्रियाः पञ्चाशत्सागरोपमाणि, चतुरिन्द्रियाः शतसागरोपमाणि, असंज्ञिनः सहस्रसागरोपमाणि, संज्ञिनः पर्याप्ता एव सप्ततिकोटीकोटिसागरोपमाणि। तज्जघन्यं तु एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रियादीनां स्व-स्वोत्कृष्टात् पल्यासंख्येय-पल्यसंख्येयभागोनक्रमो भवति ॥१३९॥

गा० १४०—शुभप्रकृतीनां सातादीनां प्रशस्तानां विशुद्धिपरिणामेन, असातादाप्रशस्तानां संक्लेशपरिणामेन च तीव्रानुभागबन्धो भवति। विपरीतेन संक्लेशपरिणामेन प्रशस्तानां विशुद्धिपरिणामेन च, अप्रशस्तानां च जघन्यानुभागबन्धो भवति ॥१४०॥

गा० १४१—घातिनां ज्ञान-दर्शनावरण-मोहनीयान्तरायाणां शक्तयः स्पर्धकानि लतादार्वस्थिशैलोपमचतुर्विभागेन तिष्ठन्ति खलु स्फुटम्। तत्र लताभागमादिं कृत्वा दार्वनन्तैकभागपर्यन्तं देशघातिन्यो भवन्ति। तत उपरि दार्वनन्तबहुभागमादिं कृत्वा अस्थि-शैलभागेषु सर्वत्र सर्वघातिन्यो भवन्ति ॥१४१॥

गा० १४२—लताभागमादिं कृत्वा दार्वनन्तैकभागपर्यन्तानि देशघातिस्पर्धकानि सर्वाणि सम्यक्त्वप्रकृतिर्भवति, शेषदार्वनन्तबहुभागेषु अनन्तखण्डीकृतेषु एकखण्डं जात्यन्तरसर्वघातिमिश्रप्रकृतिर्भवति। शेषदार्वनन्तबहुभागभागाः अस्थि-शिलास्पर्धकानि च सर्वघातिमिथ्यात्वप्रकृतिर्भवति ॥१४२॥

गा० १४३—अघातिनां प्रतिभागा शक्तिविकल्पाः प्रशस्तानां गुड-खण्ड-शर्करामृतसदृशाः खलु स्फुटम्। अप्रशस्तानां निम्ब-काञ्जीर-विष-हालाहलसदृशाः खलु स्फुटम्। सर्वप्रकृतयः १२०। तासु घातिन्यः ४७, अघातिन्यः ७५। एतासु प्रशस्ताः ४२, अप्रशस्ताः ३३, अप्रशस्तवर्णचतुष्कमस्तीति तन्मिलिते ३७ भवन्ति ॥१४३॥

गा० १४४—श्रुत-तद्धरादिषु अविनयवृत्तिः प्रत्यनीकं प्रतिकूलतेत्यर्थः। ज्ञानविच्छेदकरणमन्तरायः। मनसा वाचा वा प्रशस्तज्ञानदूषणमध्येतृषु क्षुद्बाधाकरणं वा उपघातः। तत्प्रदोषः तत्त्वज्ञाने हर्षाभावः। तस्य मोक्षसाधनस्य कीर्तने कृते कस्यचिदनभिव्याहरतोऽन्तःपैशुन्यं वा प्रदोषः। कुतश्चित्कारणात् जानन्नपि नास्ति, न वेद्मीति व्यपलपनमप्रसिद्धगुरूव्यपलप्य प्रसिद्धगुरुकथनं वा निह्नवः। काय-वाग्भ्यामननुमननं कायेन वाचा वा परप्रकाश्यज्ञानस्य वर्जनं वेत्यासादना। एतेषु षट्सु सत्सु जीवो ज्ञान-दर्शनावरणद्वयं भूयो बध्नाति—प्रचुरवृत्त्या स्थित्यनुभागौ बध्नातीत्यर्थः। ते च षडपि तद्द्वयस्य युगपद् बन्धकारणानि तु तथा बन्धात्। अथवा विषयभेदादास्रवभेदः—ज्ञानविषयत्वेन ज्ञानावरणस्य, दर्शनविषयत्वेन दर्शनावरणस्येति ॥१४४॥

गा० १४५—गतौ गतौ कर्मोदयवशाद् भवन्तीति भूताः प्राणिनः, तेष्वनुकम्पा। व्रतानि हिंसादिविरतिः। योगः समाधिः सम्यक् प्रणिधानमित्यर्थः। तैर्युक्तः। क्रोधादिनिवृत्तिलक्षणक्षान्त्या चतुर्विधदानेन पञ्चगुरुभक्त्या च सम्पन्नः स जीवः सातं तीव्रानुभागं भूया बध्नाति। तद्विपरीतस्त्वतादृगसातं बध्नाति ॥१४५॥

गा० १४६—दुःख-वध-शोक-तापाक्रन्दनं परिदेवनं च आत्मनि स्थितं अन्यस्थितं उभयस्थितमिति वा असातायाः बन्धं करोति ॥१४६॥

गा० १४७—योऽर्हत्सिद्धचैत्य-तपो गुरु-श्रुत-धर्म-संघप्रतिकूलः स तद्दर्शनमोहनीयं बध्नाति, येनोदयागतेन जीवोऽनन्तसंसारी स्यात् ॥१४७॥

गा० १४८—यः तीव्रकषाय-नोकषायोदययुतः बहुमोहपरिणतः राग-द्वेषसंसक्तः च रित्रगुणविनाशनशीलः स जीवः कषाय-नोकषायभेदं द्विविधमपि चारित्रमोहनीयं बध्नाति ॥१४८॥

गा० १४९—यो जीवो मिथ्यात्वयुक्तः स्फुटं महारम्भः शीलरहितः, तीव्रलोभसंयुक्तः रौद्रपरिणामः पापकारणबुद्धिः स नरकायुः निबध्नाति ॥१४९॥

गा० १५०—यो जीव उन्मार्गदेशकः सन्मार्गनाशकः गूढहृदयः मायी कपटी शठशीलः सशल्यः स तिर्यगायुः बध्नाति ॥१५०॥

गा० १५१—यो जीवः प्रकृत्या स्वभावेन तनुकषायः मन्दकषायोदयः दानरतिः दाने रतिः प्रीतिर्यस्य स एवम्भूतः शीलैः संयमेन च विहीनः मध्यमगुणैर्युक्तः स मनुष्यायुर्बध्नाति ॥१५१॥

गा० १५२—यः सम्यग्दृष्टिर्जीवः स केवलं सम्यक्त्वेन साक्षादणुव्रतैः महाव्रतैर्वा देवायुर्बध्नाति। यो मिथ्यादृष्टिर्जीवः स उपचाराणुव्रत-महाव्रतैः बालतपसा अकामनिर्जरया च देवायुर्बध्नाति ॥१५२॥

गा० १५३—यो जीवो मनोवचनकायैर्वक्रः मायावी गारवत्रयप्रतिबद्धः स नरक-तिर्यग्गत्याद्यशुभं नामकर्म बध्नाति। तत्प्रतिपक्षपरिणामैर्हि शुभं नामकर्म बध्नाति ॥१५३॥

गा० १५४-१५७—दर्शनविशुद्धिः विनयसम्पन्नता तथा शीलव्रतेष्वनतीचारः आभीक्ष्णज्ञानोपयोगः संवेगः शक्तितस्त्याग-तपसी साधुसमाधि तथैव ज्ञातव्यः। वैयावृत्त्यं क्रिया अर्हद्भक्तिराचार्यभक्तिः बहुश्रुत-भक्तिः प्रवचने परमा भक्तिः आवश्यकक्रियाऽपरिहाणिश्च मार्गप्रभावना प्रवचनवात्सल्यमिति जानीहि। एताभिः प्रशस्ताभिः षोडशभावनाभिः केवलिमूले समीपे तीर्थंकरनामकर्म कर्मभूमिजो मनुष्यः बध्नाति ॥१५४-१५७॥

गा० १५८—तीर्थंकरसत्कर्मा जीवः तृतीयभवे वा तद्भवे एव स्फुटं सिद्ध्यति। क्षायिकसम्यक्त्वी जीवः पुनः उत्कर्षेण चतुर्थभवे सिद्ध्यति ॥१५८॥

गा० १५९—योऽर्हदादिषु भक्तः, सूत्रेषु गणधराद्युक्तागमेषु पठनानुमननगुरुदर्शी श्रद्धाध्ययनार्थ-विचारविनयादिगुणदर्शी स जीव उच्चैर्गोत्रं बध्नाति। तद्विपरीतो नीचैर्गोत्रं बध्नाति ॥१५९॥

गा० १६०—परात्मनो निन्दाप्रशंसे, अन्येषां विद्यमानगुणानामाच्छादनं स्वस्याविद्यमानगुणानां उद्भासनं प्रकटीकरणं च नीचगोत्रबन्धस्यास्रवहेतवः ॥१६०॥

गा० १६१—यः द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रियादिप्राणिवधादिषु स्व-परकृतेषु प्रीतः, जिनपूजाया रत्नत्रय-प्राप्तेश्च स्वाम्ययोर्विघ्नकरः स जीवस्तदन्तरायकर्म अर्जयति येनोदयागतेन यदीप्सितं तन्न लभते ॥१६१॥

इति श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिविरचितकर्मप्रकृतिग्रन्थः समाप्तः।

पण्डित श्री हेमराज विरचित हिन्दी टीकासहित

कर्मप्रकृति

पणमिय सिरसा णेमिं गुणरयणविहूसणं महावीरं।
सम्मत्तरयणणिलयं पयडिसमुक्कित्तणं वोच्छं ॥१॥

अहं नेमिचन्द्राचार्यः प्रकृतीनां समुत्कीर्तनं वक्ष्ये—मैं जो हूँ नेमिचन्द्र आचार्य सो कर्मनिकी प्रकृतिनि वर्णन करूँगा। किं कृत्वा? क्या करके? नेमिं प्रणम्य नेमिनाथं तीर्थंकरं नमस्कृत्य—नेमिनाथ नामके जो बाईसवें तीर्थंकर हैं, उन्हें प्रणाम करके। कथंभूतं नेमिं गुणरत्नविभूषणं अनन्तज्ञानादिगुणास्तान्येव विभूषणानि यस्य—कैसे हैं नेमिनाथ? अनन्तज्ञानादि जो गुण वे ही हैं आभूषण जिनके ऐसे हैं। पुनः किंभूतम्? बहुरि कैसे हैं? महावीरं महासुभटम्—महावीर कहिए महासुभट हैं। पुन. किंभूतम्? बहुरि कैसे हैं? सम्यक्त्वरत्ननिलयं स्थानम्—सम्यक्त्वरूप रत्नके निलय कहिए स्थान हैं।

प्रकृतिशब्देन किमिति प्रश्नः, तत्रोच्यते—प्रकृति कहा कहिए यह आगेकी गाथामें दिखावे हैं—

पयडी सील सहावो जीवंगाणं अणाइसंबंधो।
कणयोवले मलं वा ताणत्थित्तं सयं सिद्धं ॥२॥

प्रकृतिः शीलः स्वभाव एते शब्दास्त्रय एकार्थवाचकाः सन्ति—प्रकृति शील अरु स्वभाव ये जो तीनों शब्द हैं सो एक ही अर्थकूं कहै हैं। स्वभावो हि स्वभाववन्तं अपेक्षते। स्वभावः प्रकृतिः स्वभाववन्त जीवं इच्छति—स्वभाव जो है सो स्वभाववानकी अपेक्षा करै है सो प्रकृतिनाम स्वभावको है, वह स्वभाववान् जीवकी अपेक्षा करै है। अत्र कश्चित्प्रश्नः करोति जीवः शुद्धचैतन्यः पुद्गलपिण्डस्तु जडः एतयोर्द्वयो· पृथक्-पृथक् लक्षणं वर्तते। एतौ द्वौ जीवपुद्गलौ तस्मिन् कुतः मिलितौ? यहाँ कोई शिष्य प्रश्न करे कि जीव तो शुद्धचैतन्यरूप है, अरु पुद्गलपिण्ड जड अचेतन है। जब इन दोनोंके लक्षण भिन्न-भिन्न हैं, तब ये दोनों परस्पर कैसे मिले हैं? तत्र प्रश्नोत्तरमुच्यते—जीवाङ्गयोः सम्बन्धः अनादिः—ऊपरके प्रश्नका उत्तर कहिए है कि जीव और पुद्गलका सम्बन्ध अनादि है। एवं न वाच्यं जीव-पुद्गलौ प्रथमतः भिन्नौ भिन्नौ, पश्चात् मिलितौ। ऐसा नाहीं कि जीव अरु पुद्गल पहले भिन्न-भिन्न थे, पाछैं आपसमें मिले हैं। कस्मिन् कयोरिव? कनकोपलयोर्मलवत्—यथा एकस्मिन् पाषाणे स्वर्णोपलौ सार्धमेवोत्पद्येते। पुनः सार्धमेव द्वयोर्मध्ये मलस्तिष्ठति। जैसे एक स्वर्णपाषाणमें सोना अरु पाषाण दोनों साथ-साथ ही मिलि रहे हैं, ऐसा नाहीं कि सोना पहले खानिविषें था, पाछे आयकर पाषाणरूपमल मिलि गया होय। अत्र कश्चिद् वदति—जीवकर्मणोऽस्तित्वं कथं ज्ञातम्? तस्योत्तरं दीयते—इहाँ कोई प्रश्न करै है कि जीव अरु कर्मका अस्तित्व कैसे जानिए है, ताका उत्तर कहैं हैं—तयोरस्तित्वं स्वतः सिद्धम्? केन? दृष्टान्तेन—एकः दरिद्रः एकः श्रीमान् इति दृश्यते—जीव अरु कर्मका अस्तित्व स्वतः सिद्ध है। किस दृष्टान्त करि? जो कोई एक पुरुष

दरिद्र देखिए है अरु कोई एक श्रीमान् देखिए है, तातें जीव अरु कर्म दोनोंका अस्तित्व सिद्ध होय है। अहमिति प्रतीत्या आत्मनः अस्तित्वं प्रकटीभवति। यदि आत्मा पदार्थ एव न भवेत् तर्हि अहमिति ज्ञानमेव न स्यात्, तस्मादात्मनोऽस्तित्वं तिष्ठत्येव। अहं कहिए 'मैं हूँ' इस प्रतीति करि आत्माका अस्तित्व प्रगट सिद्ध होय है। यदि आत्मा नामका कोई पदार्थ ही न होय तो 'अहं' इस प्रकारका ज्ञान ही न होय। तातें आत्माका अस्तित्व सिद्ध है।

देहोदएण सहिओ जीवो आहरदि कम्म-णोकम्मं।
पडिसमयं सव्वंगं तत्तायसपिंडओ व्व जलं॥३॥

देहोदयेन सहितः जीवः, देहाः पञ्च औदारिक-वैक्रियिकाहारक-तैजस-कार्मणास्तेषामुदयेन प्रतिसमयं सर्वाङ्गैः कर्म नोकर्म आकर्षति। देह जो शरीरनामा नामकर्म सो पंच प्रकार है- औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, अरु कार्मणके भेद करि। सो तिनके उदय करि सहित जो यह जीव है सो प्रतिसमय अपने सर्व आत्म-प्रदेशनिकर कर्म अरु नोकर्मको ग्रहण करै है। किंवत्? तप्तायःपिण्डं जलवत्। यथा तप्तलोहः सर्वाङ्गेण जलमाकर्षति तथा जीवः देहोदयेन कर्म आकर्षति। जैसे अगनिविषैं खूब तपाया जो लोहेका पिण्ड सो सर्वांगकरि जलको खींचे है तैसे ही शरीर नाम कर्मके उदय करि यह जीव सर्व आत्म-प्रदेशनिकरि कर्मको अपने भीतर आकर्षित करै है।

समये-समये जीवोऽयं [कियन्ति] कर्माण्याकर्षतीति प्रश्नः, तत्रोच्यते—समय-समय विषैं यह जीव कितनेक कर्मनिकूं आकर्षित करै इस प्रश्नका उत्तर दीजिए है—

सिद्धाणंतिमभागं अभव्वसिद्धादणंतगुणमेव।
समयपबद्धं बंधदि जोगवसादो दु विसरित्थं॥४॥

सिद्धानन्तिमभागं सिद्धराशेरनन्तिमभागः—सिद्धजीवनिका जो प्रमाण है, उनके अनन्तवें भागप्रमाण कर्मप्रदेशनिकूं यह जीव एक समयविषैं बांधे है। पुनः अभव्य सिद्धादनन्तगुणमेव-अभव्यराशेरनन्तगुणम्। बहुरि अभव्य जीवनिका जो प्रमाण है, तिनतें अनन्तगुणें कर्मप्रदेशनिकूं एक समयविषैं बांधे हैं। एतासां वर्गणानां समयप्रबद्धं बध्नाति—इतनी प्रमाण वर्गणानिके समुदायरूप समयप्रबद्धको बांधे है। पुनः किंभूतं समयप्रबद्धम्? विसदृशं आयुर्वर्जितसप्तकर्मजातिवर्गणासंयुक्तं बध्नाति। बहुरि कैसे समयप्रबद्धको बांधे है? विसदृश भी समयप्रबद्धको बांधे है। जो समयप्रबद्ध बांधे है तिनि विषैं आयुकर्म-रहित शेष जो सात कर्म-जातीय जो वर्गणा है तिनिकरि संयुक्त बांधे है। कस्मात्? योगवशात् मनवचनकाय-योगात्—कैसे बांधे है? योग जो मन वचन काय तिसके वशि करि यह जीव कर्मवर्गणानिकूं बांधे है।

भावार्थ—जितनी कछु संसारमें अभव्यराशि है, तिसको जो अनन्तगुणा कीजे, तो सिद्धराशिको अनन्तमां भाग होय। अरु जो सिद्धराशिके अनन्तवें भागको अनन्तमां भाग करिए तो अभव्य राशि होय। तिसतें सिद्धराशिके अनन्तवें भाग अरु अभव्यसिद्धतें अनन्त-गुणा ए दोऊ गिनती समान है। इस गिनती समान जो वर्गणा मिले तो एक समयप्रबद्ध कहिए। ऐसे समयप्रबद्धको समय-समयविषैं संसारी जीव निरन्तर बांधे है मन वचन काय इन तीनों योगके उदयतें।

इहां कोई प्रश्न करे है कै सिद्धराशिके अनन्तमें भाग अरु अभव्यराशिके अनन्तगुणें

ए दोऊ गिनती समान है, तो दोनों बात गाथामें क्यों न कही ? ताको समाधान—संसारतें ज्यों-ज्यों जीव मुक्त होंय, त्यों-त्यों सिद्धराशि बढ़ती जाय हैं, त्यों ही सिद्धराशिको अनन्तमा भाग बढ़े है, तातें सिद्धराशिको अनन्तमां भाग एक अनन्तता करि निश्चित नांही है, उत्कृष्ट होत जात है। अरु यह संसारमें जो है अभव्यराशि सो ज्योंकी-त्यों रहै है। जातें इसमें कछू बढ़ती-घटती नाहीं हैं, तातें इसकी अनन्तगुणी अनन्तता निश्चित है, तातें यह ठीकता जाननी। अभव्यराशिको अनन्तगुणें करें तें जो अनन्तता होय, ताही प्रमाण वर्गणाको जघन्य समयप्रबद्ध जानना। या गिनतीका अनन्ततातें समयप्रबद्धकी जघन्यताकी मर्यादा है। या जघन्य समयप्रबद्धवर्गणाको अनन्ततातें आगे भूत भविष्यत् वर्तमानकालकी अपेक्षाकरि सिद्धके अनन्तवें भाग जितने अपने अनन्ते भेद लिये हैं जघन्य उत्कृष्ट मध्यम अनन्तताके भेदकरि तितने ही भेद समयप्रबद्धके अनन्तता करि जानना। तातें अभव्यराशितें अनन्त-गुणप्रमाण वर्गणानिको जघन्य समयप्रबद्ध, अरु भविष्यत् कालकी अपेक्षा उत्कृष्ट सिद्ध-राशिके अनन्तिम भागप्रमाण वर्गणानिको उत्कृष्ट समयप्रबद्ध है। मध्यमके अनन्ते भेदकरि मध्यम अनन्त जानना। समयप्रबद्धकी अनन्तताके दिखायबेकूं ए दोऊ गिनती गाथामें कही।

समये समये कति निर्जरा भवति पुनः कति सत्ता तिष्ठति जीवस्य, तदेवोच्यते गाथया। जीवके प्रतिसमय कितनी निर्जरा होय और कितनी सत्ता रहे यह बात आगेकी गाथामें दिखाइए है—

जीरदि समयपबद्धं पओगदो णेगसमयबद्धं वा।
गुणहाणीण दिवड्ढं समयपबद्धं हवे सत्तं ॥५॥

अयं संसारी जीवः एकस्मिन् समये एकं समयप्रबद्धं सदा कालं निर्जरयति—यह जो है संसारी जीव सो एक-एक समयविषैं एक-एक समयप्रबद्ध सदा काल निर्जरै है। प्रयोगतः एकस्मिन् समये अनेकसमयप्रबद्धं निर्जरयति—प्रयोग कहिए मन वचन कायकी चंचलताकी वृद्धितें उदीरणावश एक समयमें अनेक समयप्रबद्धनिकूं निर्जरै है। अग्रेऽर्धगाथायां कथयति—एवं सत्ता कियती तिष्ठति ? आगे आधी गाथामें कहै हैं कि इस प्रकार सत्ता कितनी रहै है ? तत्रोच्यते—द्व्यर्धगुणहानिमात्रं समयप्रबद्धं सत्त्वं भवेत्—द्व्यर्धगुणहानिमात्रसमयप्रबद्धस्य सत्तां जीवः करोति—यह जीव डेढ़ गुण हानिप्रमाण समयप्रबद्धनिकी सत्ताकूं सदा धारण करै है।

औदारिक वैक्रियिक आहारक इनकी नाना गुणहानिको काल अन्तर्मुहूर्त है। तैजस कार्मणकी नाना गुणहानिका काल पल्यको असंख्यातमो भाग जानिवो। सबकी गुणहानिको काल एक समय है। औदारिक शरीरकी स्थिति तीन पल्य, वैक्रियिककी तेतीस सागर, आहा-रककी अन्तर्मुहूर्त, तैजसकी छयासठ सागर, कार्मणकी उत्कृष्ट स्थिति सामान्यताकरि सत्तर कोड़ाकोड़ी। विशेषकरि ज्ञानावरणादिककी जुदी जानिवी। जिस कर्मकी जितनी स्थिति है, तिस माफिक नाना गुणहानि अर्ध अरु गुणहानि हो है। द्व्यर्धगुणहानिको अर्थ कहियतु हैं—जो कर्म अनन्तवर्गणाके पुंजकरि समयप्रबद्धरूप बंध्यो, सो एक नानागुणहानिविषें आधो-आधो होय खिरे है। जितनी नाना गुणहानि हैं, ताहीतें इहको नाम द्व्यर्धगुणहानि कहिए। द्वि कहिए दोय, तिसको अर्धगुण कहिए आधा सो हानि कहिए ये घाटि होई। जितनी नाना-गुणहानि हैं तिनि विषें खिरे है, यह द्व्यर्धगुणहानिको अर्थ है। नाना गुणहानिको अर्थ कहिए

है—[१]नाना कहिए अनेक प्रकारकी है गुणहानि जा विषें, सो नाना गुणहानि कहिए है। गुणहानि कहा कहिए? जो पहिले-पहिले समयहूतें अगले-अगले समयविषें कछू गिनतीकरि वर्गणा घाटि खिरें; सो गुणहानि कहिए। एक कर्मस्थितिकी असंख्याती नानागुणहानि हैं, जातें नानागुणहानिको काल एक समय है। अन्तर्मुहूर्त्त अरु पल्यके असंख्यातवें भाग, इनके असंख्याते समय हैं तातें असंख्याती जाननी। आगे एही अर्थ अंकस्थापनाकी निसानी करि सिद्धान्तप्रमाण प्रकट लिखिए है—एक मोहनीयकर्मके उदयपर दृष्टान्तकरि दिखायतु हैं, तिसकी भाँति सब ऊपर जानियहु। मोहकर्मकी स्थिति सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर है तिसकी स्थापना अबाधाकाल छोड़िके अड़तालीस ४८ समय कीजे। असंख्याती नानागुणहानिकी छह ६ नानागुणहानि कल्पिए। एक-एक नानागुणहानिविषें आठ-आठ गुणहानि स्थापना कीजे। मोहनीयकर्मकी अनन्तवर्गणाके समयप्रबद्धकी कल्पना त्रेसठिसै ६३०० वर्गणा कीजे ऐसी स्थापना कीजे समझनेके वास्ते। पहिली गुणहानिविषें बत्तीससै ३२०० वर्गणा खिरैं। दूसरीविषें १६०० तीसरीविषें ८०० चौथीविषें ४०० पाँचवींविषें २०० छठीविषें १००। इस भाँति नानागुणहानि प्रति आधा-आधा कम होय खिरे है, यह द्व्यर्धगुणहानि है। पहिली नानागुणहानिविषें बत्तीससै वर्गणा किस भाँति खिरैं, यह बात कहिए है—

एक नाना गुणहानिविषें आठ गुणहानि हैं। तिनमें भिन्न-भिन्न किमी होय-होय खिरैं हैं, तिन सबको जोड़ बत्तीससै हो है। सोई कहिए है—पहिली गुणहानिविषें ५१२ पांचसै बारह खिरैं। आगे-आगे गुणहानिविषें बत्तीस-बत्तीस किमी होय खिरै है—४८०।४४८।४१६।३८४।३५२।३२०।२८८। पहिली नानागुणहानिविषें इस भाँति। गुणहानि-गुणहानिविषे आठ समयमें खिरे हैं। दूसरी गुणहानिविषें १६०० सोहलसै खिरैं है। इसविषें पुनि आठ गुणहानि हैं। तहां पुनि भिन्न-भिन्न किमी होय खिरैं हैं। पहिली गुणहानिविषें २५६ खिरैं हैं। आगे गुणहानिविषें सोलह-सोलह वर्गणा घटावणी।२४०।२२४।२०८।१९२।१७६।१६०।१४४। इस भाँतिसो अनुक्रम जानिबो। तीसरी नानागुणहानिविषें ८०० खिरै हैं। तिसकी आठ गुणहानिविषें पहिले १२८ एकसौ आठवीस खिरैं। पीछें आठ-आठ घटावने।१२०।११२।१०४।९६।८८।८०।७२। इस भाँति चौथी नानागुणहानिविषें ४०० खिरैं। तिनकी आठगुणहानिविषें पहिले ६४ चौसठ खिरैं। पीछे चार-चार घटावने।६०।५६।५२।४८।४४।४०।३६। पांचवीं नानागुणहानिविषें २०० खिरैं। तिनको आठ गुणहानिविषे पहिले ३२ खिरैं। पीछे दोय-दोय घटावने ३०।२८।२६।२४।२२।२०।१८। इस भाँति छठी नानागुणहानिमें सौ १०० खिरे है। तिसकी आठ गुणहानिविषें पहिले सोलह १६ खिरैं। आगे एक-एक घटावनें १५।१४।१३।१२।११।१०।९ इस भाँति सर्वकर्मकी त्रेसठिसै वर्गणा छह स्थानकविषें आठ-आठ अन्तर भेद लिये अड़तालीस समयकी थितिनिविषें मोहनीयकर्म अबाधाकाल बिना पहिले समयतें लेकरि खिरैं। इस ही भाँति और कर्मकी भी वर्गणा निर्झरै हैं। इस ही भाँति सिद्धान्तविषें कही है—जीवके समयप्रबद्धकी द्व्यर्धगुणहानि मात्र सत्ता सदाकाल है। जितनी वर्गणा अतीतकाल पहिली-पहिली नानागुणहानिविषें रस लेकरि तिनतें आधी-आधी वर्गणा वर्तमानकी नानागुणहानिविषें रहे

१. भाषा-वचनिकाकारने पाँचवीं गाथाका स्पष्टीकरण करते हुए जो कुछ लिखा है, उससे ज्ञात होता है कि उन्हें गुणहानि और नानागुणहानिका अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाया था। परिणामस्वरूप उन्होंने निषेकको गुणहानि और एक गुणहानिको नानागुणहानि पदका प्रयोग किया है। इसी प्रकार द्व्यर्धगुणहानि शब्दके अर्थ करनेमें विपर्यास हुआ है। इसलिए यह पूरा विवेचन विचारणीय हो गया है। इन दोनों गाथाओंका आगमानुकूल स्पष्टीकरण पाँचवीं गाथाके विशेषार्थमें संक्षेपसे कर दिया गया है।

है इस वास्ते द्रव्यर्धगुणहानिमात्रसत्ता सदा रहे है। आगे इसको सामान्य यन्त्र लिखिए है। विशेष त्रिकोणयन्त्र है।

२८८	१४४	७२	३६	१८	९
३२०	१६०	८०	४०	२०	१०
३५२	१७६	८८	४४	२२	११
३८४	१९२	९६	४८	२४	१२
४१६	२०८	१०४	५२	२६	१३
४४८	२२४	११२	५६	२८	१४
४८०	२४०	१२०	६०	३०	१५
५१२	२५६	१२८	६४	३२	१६

सो कर्म के प्रकार है, आगे यहु कहे हैं—

कम्मत्तणेण एक्कं दव्वं भावो त्ति होइ दुविहं खु।
पुग्गलपिंडो दव्वं तस्सत्ती भावकम्मं तु ॥६॥

तत्कर्म कर्मत्वेन एकम्। कया जात्यपेक्षया। पुनः तदेव कर्म द्रव्य-भावभेदेन द्विविधं भवेत्। बहुरि सोई कर्म द्रव्य-भाव भेद करि दोइ प्रकार है। द्रव्यकर्म कहा कहिए ? पुद्गलपिण्ड ज्ञानावरणादि अष्ट प्रकार कर्मजातिकी वर्गणाओंका पिण्ड सो द्रव्यकर्म कहिए। भावकर्म कहा कहिए ? तु पुनः तच्छक्तिः भावकर्म। तस्य ज्ञानावरणादिकर्मकी जु है शक्ति सुख-दुःखादिककी देनवाली सो भावकर्म कहिए। जैसे मिश्री तो द्रव्य है। ता मिश्रीविषें जु है मिश्रत्व मिष्टशक्ति सो भाव है। अरु जैसे निम्ब द्रव्य है, ता निम्बविषें जु है कटुकता सो भाव है। तैसे जु है पुद्गलपिण्ड द्रव्यकर्म तिसका जु है शक्ति सुख-दुःखकी उपजावनहारी शक्ति सो भाव कहिए।

तं पुण अट्ठविहं वा अडदालसयं असंखलोगं वा।
ताणं पुण घादि त्ति य अघादि त्ति य होंति सण्णाओ ॥७॥

पुनः तत्कर्म अष्टविधम्। बहुरि सो कर्म आठ प्रकार है। वा अडदालसयं अष्टचत्वारिंशत्। अथवा सोई कर्म एक सौ अड़तालीस प्रकार है। अथवा असंख्यात लोकप्रमाण है। तेषां मध्ये पुनः कानिचित् घातिसंज्ञा, कानिचित् अघातिसंज्ञा भवन्ति। तिन कर्महुके मध्य केई कर्म घातिया है, केई अघातिया है।

आगे यद्यपि असंख्यातलोकमात्रं कहिए असंख्यातलोकप्रमाण कर्महु की जाति है, तथापि अष्ट मूलप्रकृति तावत् कहिए है—

णाणस्स दंसणस्स य आवरणं वेयणीय मोहणीयं।
आउगं णामं गोदंतरायमिदि अट्ठ पयडीओ ॥८॥

ज्ञानावरणी १ दर्शनावरणी २ वेदनी ३ मोहनी ४ आयु ५ नाम ६ गोत्र ७ अन्तराय ८ अष्ट मूलप्रकृति जानवी।

आगे इन मूल प्रकृतिहूमेंकें कै घातिया के अघातिया हैं ते कहैं है—

आवरण मोहविग्घं घादी जीवगुणघादणत्तादो।
आउगं णामं गोदं वेदणीयं तह अघादि त्ति ॥९॥

आवरण-मोह-विघ्नानि घातिकर्माणि भवन्ति। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय ए चारि कर्म घातिया जानने। काहे तें? जीवगुणघातनत्वात्। जातें ए चारि कर्म जीवके गुणहूको घाते हैं, तातें घातिया कहिए है। तथा आयुर्नाम गोत्रं वेदनीयं अघातिकर्माणि भवन्ति। तैसे ही आयु नाम गोत्र वेदनी ए चारि प्रकृति अघातिया हैं।

इहां कोई वितर्क करै है—जीवगुणहूको तो आठों कर्म घातें हैं, इनमें चारि घातिया ऐसा भेद क्यों करो हो? ताको उत्तर—कै जीवके अनन्तहूमें चारि गुण प्रधान है, अनन्तज्ञान अनन्तदर्शन अनन्तसुख अनन्तवीर्य इन चारिहू गुणहु कौ जिसते आदिके वे चारि कर्म आच्छादै हैं, तिसतें घातिया कहिए है। प्रधान गुणके घातनेतें, जातें ए चारि गुण आत्माके स्वरूपको प्रगट करि दिखावे हैं, ताते ए चारि गुण प्रधान है। अरु आयु नाम गोत्र वेदनी ए चारि कर्म वैसे प्रधानहूको नहीं आच्छादै हैं तातें अघातिया कहिए, जातें अनन्तचतुष्टय-विराजमान शुद्ध सर्वज्ञ केवलीविषै ए चारि कर्म जली जेवरीवत् पाइए हैं, ताते प्रधान गुणहुको नाहीं आच्छादै है। अरु जो प्रधान गुणहुको आच्छादत होते तो केवलज्ञानीके अनन्तचतुष्टय गुण प्रगट न होन देते। इस वास्ते आयु नाम गोत्र वेदनीय ए चारि कर्म अघातिया कहिए।

अथ घातिया कर्महुके अरु क्षयोपशमते जे गुण प्रगट हो हैं ते कहें हैं—

केवलणाणं दंसणमणंतविरियं च खइयसम्मं च।
खइयगुणे मदियादी खओवसमिये य घादी दु ॥१०॥

केवलज्ञानं केवलदर्शनं अनन्तवीर्यं क्षायिकसम्यक्त्वं च एते क्षायिकगुणाः। केवलज्ञान केवलदर्शन अनन्तवीर्य क्षायिकसम्यक्त्व च शब्दते क्षायिकचारित्र दानादि चारि इन [नौ] क्षायिक भावके घात होए घातियाकर्म। इन चारि घातियाकर्मके क्षयतें केवलज्ञान केवलदर्शन अनन्तवीर्य क्षायिकसम्यक्त्व क्षायिकचारित्र दानादि चारि ए गुण उपजै हैं। ज्ञानावरणकर्मके गयेतें अनन्तज्ञान, दर्शनावरणकर्म गये अनन्तदर्शन, अन्तरायके गयेतें दानादि पंच [लब्धियां] मोहनीके गये क्षायिकसम्यक्त्व क्षायिकचारित्र प्रगट होहि, यह वास्ते ए अनन्तज्ञानादि नव गुण क्षायिक कहे हैं। मत्यादयः क्षायोपशमिकगुणाः। अउर इन घातिकर्महुके क्षयोपशमतें मति आदिक गुण प्रगट होहि। काहे तै? घातनत्वात्। जातैं सर्वांग ही निरावरण नाहीं, घातै भी हैं, तातें क्षयोपशमगुण कहिए। ज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमतें मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय ए गुण प्रगटै हैं। दर्शनावरण-क्षयोपशमतें चक्षु अचक्षु अवधि-दर्शन हो है। अन्तरायके क्षयोपशमतें किंचित् पंच दानादि हो है। मोहनीयके क्षयोपशमतें क्षायिक बिना अष्ट सम्यक्त्व चारित्रादि गुण होहि। ए मति आदिक गुण याहीतें क्षयोपशमरूप हैं।

अथ चारि अघातिया कर्मद्दूके मध्य आयुकर्मके स्वरूप क्यों कहै हैं—

कम्मकयमोहवड्ढियसंसारम्हि य अणादि जुत्तम्हि।
जीवस्स अवट्ठाणं करेदि आऊ हलिव्व णरं ॥११॥

कर्मकृतमोहवर्धितसंसारे आयुः जीवस्य अवस्थानं करोति। कर्मद्दु करि कय कीयहु जो मोह तिस करि बढ्यौ जु संसार तिस विषै जीकी स्थितिको आयुकर्म करै है। कैसा है संसार ? अनादिजुत्तम्हि। अनादिकालथै चल्यौ आयौ है। आयुकर्म संसारविषै किस दृष्टान्तकरि स्थिति करै है ? यथा हलिः नरस्य अवस्थानं करोति। जैसे हडिविषै पाँव दिए संते हडि पुरुषकी स्थिनिको करै है, तैसे ही आयुकर्म स्थिति करै है।

भावार्थ—यह जु है अनादि संसार, सो वढ़ै तो है मोहादिक कर्महु करि, परन्तु इस विषै स्थितिकौ कारण एक आयु ही कर्म जानना। जातैं जिस गतिविषै यहु जीव जाय है तिस गति विषै जितनी आयुकर्मकी स्थिति है, तितने कालताईं सुख-दुखको भोक्ता है।

अथ नामकर्मके स्वरूपको कहै हैं—

गदिआदिजीवभेदं देहादी पोग्गलाण भेयं च।
गदि-अंतरपरिणमणं करेदि णामं अणेयविहं ॥१२॥

इदं नामकर्म गत्यादिजीवभेदान् अनेकविधान् करोति। यह जु है नामकर्म सो अनेक प्रकार गति आदि जीवके पर्यायभेद करै है। तु पुनः देहादिपुद्गलभेदान् करोति। वहुरि यह नामकर्म अनेक प्रकार देहादिक जु है पुद्गलके भेद तिनकौं करै है। पुनः गत्यन्तरपरिणमनम्। वहुरि यह नामकर्म गतितै अउर गतिके परिणमनकौ करै।

तात्पर्य यह—इस नामकर्मकी तिराणवे प्रकृति है, तिनमें केई एक प्रकृति जीवविपाकी है, केई एक पुद्गलविपाकी हैं, केई क्षेत्रविपाकी हैं। जे जीवविपाकी प्रकृति हैं, ते अनेक प्रकार गति आदिक जीवके भेदकौ करै हैं। अरु जे पुद्गलविपाकी है ते औदारिकादिशरीर संस्थान संहननादिक अनेक प्रकार करै है। अरु जे क्षेत्रविपाकी हैं चारि आनुपूर्वी ते गतिके परिणामकौं करै हैं।

अथ गोत्रकर्मके स्वरूपकों कहै हैं—

संताणकमेणागय जीवायरणस्स गोदमिदि सण्णा।
उच्चं णीचं चरणं उच्चं णीचं हवे गोदं ॥१३॥

सन्तानक्रमेणागतजीवाचरणस्य गोत्रं इति संज्ञा। सन्तानक्रमकरिकै चलौ आयौ है जीवका आचरण, तिसकौ गोत्र जैसा नाम कहिए है। यदुच्चं चरणं भवेत् तदुच्चं गोत्रम्, यन्नीचं चरणं तच्च नीचं गोत्रम्।

अथ वेदनीयकर्मके स्वरूपकौं कहै हैं—

अक्खाणं अणुभवणं वेयणीयं सुहसरूवयं सादं।
दुक्खसरूवमसादं तं वेदयदीदि वेयणीयं ॥१४॥

अक्षाणां यद् अनुभवनं तद् वेदनीयम्। समस्त इन्द्रियहुका जु है प्रत्यक्ष आस्वाद सो वेदनीय कहिए। सो दुविध प्रकार है। यद् इन्द्रियाणां सुखरूपं तत्सातं गुडादिचतुर्भेदम्।

यत्तु दुःखरूपं तद् असातं निम्बादिवच्चतुर्भेदम्। सुख-दुःखे वेदयतीति वेदनीयम्। जो सुख-दुःखहु कौ जुवलि करि भुक्तावै है, सो वेदनीयकर्म कहिए।

भावार्थ—यह वेदनीयकर्म साता असाताके भेद करि दोय प्रकार है, सो आपणी विपाक अवस्थाविषै जीवकौ इन्द्रियद्वार करि बहुत बलकरि सुख-दुःखकौ देहै।

अथ सामान्यता करि जीवके दर्शनादि गुण कहै हैं—

अत्थं देक्खिय जाणदि पच्छा सद्दहदि सत्तभंगीहि।
इदि दंसणं च णाणं सम्मत्तं हुंति जीवगुणा ॥१५॥

अर्थं संसारी जीवः अर्थं दृष्ट्वा जानाति। यह जो है संसारी जीव प्रथम ही पदार्थकौ देखै है, पाछे जाणै है कि यह अमुका पदार्थ है, अरु उसके गुणहुकौ जानै है। पश्चात् सप्तभङ्गीभिः श्रद्धाति। पाछे सप्तभंगी वाणी करि उस पदार्थकी श्रद्धा करै है। इति कृत्वा दर्शनं ज्ञानं सम्यक्त्वं च जीवगुणा भवन्ति। इस करि यह जानिए है कि अर्थका देखना तौ दर्शन-गुण करि है, जानना ज्ञानगुणेन (ज्ञानगुणकरि)। इसतै ए तीनौ जीवपदार्थके गुण है।

अथ सप्तभंगी वाणीके नाम कहै हैं—

सिय अत्थि णत्थि उभयं अव्वत्तव्वं पुणो वि तत्तिदयं।
दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि ॥१६॥

खु द्रव्यं सप्तभङ्गं सम्भवति खु स्फुटम्, प्रगट द्रव्य जु है सो सप्तभङ्गम्—सप्त है भंग प्रकार जा विषै ऐसा है। काहे करि? आदेशवशेन आदेश जुहै पूर्वाचार्यनिका कथन ताके वशकरि जु द्रव्य है सो वचन-विलासकरि सात प्रकार साधिए है। जातैं सात प्रकार साधनतैं, द्रव्यका यथार्थ ज्ञान होइ है। ते सप्तभंग कौन हैं? स्यादस्ति नास्ति उभय अवक्तव्यं पुनरपि तत्त्रितयम्। स्यात् शब्द सात ही आगै लगाइ लेना। स्यात् अस्ति १ स्यात् नास्ति २ स्यादस्ति-नास्ति ३ स्यादवक्तव्यम् ४ पुनरपि तत्त्रितयम्। बहुरि तेई पूर्वोक्त तीनौ अवक्तव्य संयुक्त जानने। स्यादस्ति-अवक्तव्यं ५ स्यान्नास्ति-अवक्तव्यं ६ स्यादस्ति नास्ति-अवक्तव्यम् ७। ए सप्त भंग जानने। आगे इन सप्त भंगनिकरि द्रव्यका स्वरूप साधिए है—स्यादस्ति—स्यात् कहिए कथंचित् प्रकार अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावकरि अस्ति द्रव्य है जो वस्तु सो तौ द्रव्य कहिए १। जो द्रव्य—अवगाहना सो क्षेत्र २। जो द्रव्य-पर्यायकी कालमर्यादा सो काल ३। जो द्रव्यका स्वरूप सो भाव ४। जो द्रव्य है सो अपने स्वरूपकौ इक चतुष्टयकरि धारै है, तातै स्वचतुष्टयकी अपेक्षा द्रव्यका अस्तित्व कह्या। जैसे स्वचतुष्टयकरि घटका अस्तित्व है १। स्यात् नास्ति—कथंचित् प्रकार पर-चतुष्टयकी अपेक्षा नास्ति द्रव्य नाहीं। जैसे पट-चतुष्टयकरि घट नाहीं। जो पटस्वरूपकरि घट नास्ति घट न होइ, तो घट-पट एक ही वस्तु होइ। सो प्रत्यक्ष प्रमाणतैं यो तौ नाहीं। तातैं पर-स्वरूपकरि जु द्रव्यविषै नास्ति स्वभाव है सो परतैं द्रव्यके भिन्न-स्वरूपको साधै है। यातैं कथंचित् प्रकार द्रव्य नास्ति कह्या २। स्यादस्ति-नास्ति—स्यात् काहू एक प्रकार अपने-परके चतुष्टयकी अपेक्षाकरि 'अस्तिनास्ति' द्रव्य है, नाहीं, ऐसा कहिए। यद्यपि द्रव्य एक ही काल अस्तिनास्ति है, तथापि जब वचनकरि अस्तिनास्ति ऐसा कहिए, तब क्रमसौं कह्या जाइ है। जातैं वचन-उच्चार क्रमतैं, एक काल नाहीं। यातैं कथंचित् प्रकार द्रव्य अस्ति-नास्ति कह्या ३। स्यादवक्तव्यम्—स्यात् कथंचित् प्रकार एक ही बार द्रव्य अस्तिनास्ति ऐसा अवक्तव्य कह्या जात नाहीं। जब द्रव्यकौं अस्तिनास्ति ऐसा कहिए तब जिस काल अस्ति कहिए तब नास्ति उचार नाहीं। यातैं वचन-विलासकरि वस्तु-स्वरूप सिद्ध नाहीं, वस्तु एक ही काल अस्ति-

नास्ति-स्वरूप है, तातें एक ही बार द्रव्य अस्ति ऐसा अवक्तव्य है ४। स्याद्स्ति अवक्तव्यम्—स्यात् कथंचित् प्रकार अपने चतुष्टयकरि एक ही बार अपने परके चतुष्टयकी अस्तिनास्तिता अस्ति द्रव्य अस्तिवंत है, पर अवक्तव्यं अवक्तव्य है। यद्यपि अपने चतुष्टयकरि द्रव्य अस्ति है, तथापि जब द्रव्य अस्ति ऐसा कहिए, तब 'अस्ति' इस एकान्त वचनकरि 'नास्ति' की अभाव होइ है। द्रव्यका अस्तिनास्तिस्वरूप है, यातें द्रव्य अस्ति ऐसा अवक्तव्य है। अरु यद्यपि एक ही काल अपने परके चतुष्टयकी अस्तिनास्तिकरि अस्तिवन्त है, तथापि एक ही बार अस्तिनास्तिकरि अस्तिवन्त है द्रव्य जैसा अवक्तव्य है, जातें वचन-विलास क्रमवान् है। जु कोई पूछै कि अपनी अस्तिताकरि तो द्रव्य अस्तिवन्त है, परकी नास्तिता करि अस्तिवन्त क्यों संभवै ? उत्तर—जैसे पटकी नास्तिताकरि घटको अस्तित्व है, जो घटविषैं पटरूप नाहीं, तो घटका अस्तित्व है। जो पटविषैं घट होइ तो घट-पट एक ही वस्तु होइ ? यातैं परकी नास्तिताकरि अस्तिवन्त द्रव्य कह्या। इस ही तैं करि अगलैं व्याख्यानमें भी परचतुष्टयकरि द्रव्य अस्ति जानना। तातैं अपने चतुष्टयकरि अपेक्षा एकान्तताकरि अरु एक ही बार अपने परके अस्ति-नास्तित्वकरि द्रव्य अस्ति ऐसा वक्तव्य है, स्यात् नास्ति अवक्तव्यं स्यात् कथंचित् प्रकार परके चतुष्टयकरि अरु एक ही अपने परके चतुष्टयकी अस्तिताकरि नास्ति द्रव्यं-द्रव्य नास्तिवन्त है, पर अवक्तव्यं अवक्तव्य है। यद्यपि परस्वरूपकरि द्रव्य नास्ति है, तथापि जब नास्ति ऐसा कहिए, तब वचन एकान्तता करि अस्तिस्वभावका अभाव हो है। तातैं द्रव्य नास्ति ऐसा अवक्तव्य है। अरु यद्यपि एक ही काल अपने परके स्वरूपकी अस्ति-नास्तिताकरि द्रव्य नास्ति-वन्त है, तथापि एक ही बार अस्तिनास्तिता करि नास्ति ऐसा अवक्तव्य है। यहाँ कोई पूछै कि परकी नास्तिताकरि तो नास्ति द्रव्य है, अपने अस्तिताकरि नास्तिवंन्त क्यों बनै ? जैसे घट अपनी अस्तिताकरि नास्ति है जो घट विषैं अपने स्वरूपका अस्तित्व है तो घटविषैं-पटका अभाव है। अरु जो घटविषैं अस्तित्व न होय तो पटस्वरूपकरि घट नास्ति ऐसा न होय। यातैं अपनी अस्तिताकरि द्रव्य नास्ति जानना। इस ही नयकरि अगले व्याख्यानमें भी अपने चतुष्टयकरि द्रव्य नास्ति जानना, तातैं परचतुष्टयकी अपेक्षा एकान्तताकरि अरु एक ही बार अपने परके चतुष्टयकी अस्ति-नास्तिताकरि द्रव्य नास्ति ऐसा अवक्तव्य है ६। स्यात् अस्ति-नास्ति अवक्तव्यं-स्यात् कथंचित् प्रकार अपने चतुष्टयकरि अरु परके चतुष्टयकरि अरु एक ही बार अपने परके चतुष्टयकी अस्ति नास्तिताकरि अस्तिताकरि अस्ति, नास्तिताकरि नास्ति द्रव्य अस्तिनास्तिवन्त है। पर अवक्तव्यं अवक्तव्य है। यद्यपि अपने स्वरूपकरि द्रव्य अस्ति-नास्ति है, तथापि जब अपने स्वरूपकरि अस्तिनास्ति ऐसा कहिए तब एकान्त वचनतें पर स्वरूपकरि अस्तिनास्तिका अभाव है। यातें अपने स्वरूपकरि द्रव्य अस्ति नास्ति अवक्तव्य है। अरु यद्यपि पर स्वरूपकरि द्रव्य अस्ति नास्ति है, तथापि जब पर स्वरूपकरि द्रव्य अस्ति-नास्ति ऐसा कहिए है ते एकान्त वचनतें पर स्वरूपकरि अस्तिनास्तिका अभाव है। यातें पर स्वरूपकरि द्रव्य अस्तिनास्ति ऐसा अवक्तव्य है। अरु यद्यपि एक ही काल अपने परके स्वरूपकी अस्तिनास्तिताकरि द्रव्य अस्तिनास्ति है, तथापि जब अपने परके स्वरूपतें अस्ति-नास्ति ऐसा कहिए, तब एक ही बार अपने परके स्वरूपकी अस्तिनास्तिता करि द्रव्य अस्ति-नास्ति ऐसा अवक्तव्य है। तातें अपने स्वरूपकी अपेक्षा एकान्तता करि अरु पर स्वरूपकी अपेक्षा एकान्तता करि, अरु एक ही बार अपने पर स्वरूपकी अस्तिनास्तिता करि द्रव्य अस्तिनास्ति ऐसा अवक्तव्य है ७। यह सप्तभंगी बाणीका व्याख्यान परद्रव्यकी अपेक्षा जानना। अरु एई सप्तभंग द्रव्य-पर्यायकी अपेक्षा एक द्रव्यमें साधै हैं—जैसे सुवर्ण अपने पर्यायकी अपेक्षा सप्तभंगरूप है। जो समय सुवर्ण कंकणपर्याय धार्यो है तब कंकण द्रव्य

है, यावत् प्रमाण कंकण है सो क्षेत्र है, कंकणकी जु काल-मर्यादा सो काल है, जो कंकणका स्वरूप सो भाव है। इस कंकणपर्यायके चतुष्टयकी अपेक्षा सुवर्ण अस्ति है। अरु वही सुवर्ण कुण्डलपर्यायके चतुष्टयकी अपेक्षा नास्ति है। या ही भाँति पूर्वोक्त प्रकारको नाई सप्तभंग सुवर्णविषैं अपने पर्यायकी अपेक्षा जानना। यों ही अपने-अपने पर्यायकी अपेक्षा सप्तभंगात्मक सब द्रव्य सधैं हैं। जातें द्रव्य उत्पाद व्यय ध्रौव्य संयुक्त है, तातें सप्तभंग पर्यायकी अपेक्षा है। आगैं एई सप्तभंग संक्षेपता करि कहिए है—है १। नाहीं २। है नाहीं ३। है नाहीं अवक्तव्य ४। है करि है, है नाहीं करि है पर अवक्तव्य है ५। नाहीं करि नाहीं है, नाहीं करि नाहीं, पर अवक्तव्य है ६। है करि है, नाहीं करि नाहीं है, है नाही करि है नाही, पर अवक्तव्य है ७। द्रव्य ऐसा जानना। जैसे एक ही पुरुष पिताकी अपेक्षा पुत्र है, पुत्रकी अपेक्षा पिता है। अरु वही पुरुष मामाकी अपेक्षा भानिजा है, भानिजाकी अपेक्षा मामा है, बहिनकी अपेक्षा भाई है, स्त्रीकी अपेक्षा भर्त्ता है इत्यादि अनेक अपेक्षाकरि वही पुरुष अनेक रूप है, तैसे ही द्रव्य सप्तभंगात्मक जानना।

अथ शिष्य प्रश्न करै है—कै ज्ञानावरण दर्शनावरण वेदनीय मोहनीय आयु नाम गोत्र अन्तराय ऐसा जु है पिछली गाथामें पाठक्रम करो सु काहेकों, और ही भाँति सो आगे-पीछे ए कर्म कहे होते ताकौ गुरु उत्तर करथौ आगिली गाथामें—

अब्भरिहिदादु पुव्वं णाणं तत्तो दु दंसणं होदि।
सम्मत्तमदो विरियं जीवाजीवगदमिदि चरिमे ॥१७॥

अस्यार्थः—अभ्यर्हितात् पूर्वं ज्ञानं जीवके समस्त गुणहुमें ज्ञानगुण बड़ा है, पूज्य है, तिसतें पूर्व ही कह्या। ततः दर्शनं भवति तिसतें उत्तरि दर्शन गुण प्रधान है, ताते ज्ञानके पीछे दर्शनगुण कह्या। अतः सम्यक्त्वं तिसतें उतरि सम्यक्त्व गुण प्रधान है, तिसते दर्शनके आगे सम्यक्त्वगुण कह्या। चरमे जीवाजीवगतं वीर्यं पठितम् जानें वीर्यगुण जीवमें भी पाइए है अरु अजीवमें भी पाइए, तातें वीर्यगुण सबतें अन्तमें कह्या। जिस भाँति यहु अनन्त चतुष्टयको पाठक्रम कह्या, तिस ही भाँति घातियहुको पाठक्रम जानना। जातें अनन्त चतुष्टयको ए चारि घातियाकर्म घातै हैं। जैसे प्रधान गुणहुको जो-जो घातियाकर्म घातै है तैसा-तैसा प्रधानत्व घातियाकर्महुमें जानना। सबमें ज्ञानगुण प्रधान है तिसके आच्छादनतें प्रथम ही ज्ञानावरणी कर्म कह्या। तिसतें दर्शनावरणी, तिसतें मोहनीय, तिसतें अन्तराय। इन चारि घातियहुको पाठक्रम जानना।

अथ शिष्य कहे है कि अन्तरायकर्म आठहु कर्मके विषें अघातियहुके अन्तराख्या, सु किस वास्ते ? चाहिए तो घातियहुको अन्त ? ताको उत्तर आचार्य कहे हैं—

घादिंवि अघादिं वा णिस्सेसं घादणे असक्कादो।
णामतियणिमित्तादो विग्घं पठिदं अघादिचरिमम्हि ॥१८॥

अन्तरायकर्म घात्यपि अघातिवद् ज्ञातव्यम्, अन्तरायकर्म यद्यपि घातिया है, तथापि अघातिया सो है। काहे तें ? निःशेषजीवगुणघातने अशक्यत्वात्। समस्त ही जीवके गुणको घातनेको असमर्थ है। जातें याकी पंचप्रकृति देशघाति हैं। पुनः नामत्रिकनिमित्ततः बहुरि नाम गोत्र वेदनीय इन तीन्यों कर्महुको निमित्त पायकरि उदय होय है। अतः विघ्नं अघातिचरमे पठितम् इसतें अन्तरायकर्म अघातिकर्महुके अन्त पढ़िए है।

भावार्थ—यह जु है अन्तरायकर्म सो नाम गोत्र वेदनीय इनके अनुसारे बल अरु हीनताको धरै है। जैसे कुछ साता-असाताको उदय होय तिस माफिक अन्तरायकर्म अपने बलको करै है। इसतें अन्तरायकर्म हीन है तिसतें अन्तरायकर्म नाम गोत्रके अन्त कह्यो।

अथ नामकर्मके पूर्व आयुकर्म कह्यो, अरु गोत्रकर्मके पूर्व नामकर्म कह्यो, सु किस वास्ते ? सु इसका समाधान कहे हैं—

आउबलेण अवट्ठिदि भवस्स इदि णाममाउपुव्वं तु।
भवमस्सिय णीचुच्चं इदि गोदं णामपुव्वं तु ॥१९॥

आयुर्बलेन भवस्य अवस्थितिः नामकर्मके उदयतें उत्पन्न भये जु हैं गति इन्द्रिय शरीरादि पर्याय तिनकी स्थितिको कारण है एक आयुकर्म इति कृत्वा आयुःपूर्वकं नाम इस वास्ते नामकर्मके पूर्व आयुकर्म कह्यौ। जातें नामकर्मकी स्थिति आयुकर्मके बलकरि है। तु पुनः भवमाश्रित्य नीचत्वम् उच्चत्वं गोत्रम् इति हेतोः नामकर्मपूर्वकं गोत्रकर्म भवति। बहुरि नामके उदय उत्पन्न भई जु है गति तिसको आश्रय लेकरि नीच-ऊँच गोत्र होय है। जो नीचगति होय तो नीचगोत्र होइ, अरु जो ऊँचगति देवगत्यादिक की होय तो ऊंच ही गोत्र होइहै। इस कारणतें गोत्रकर्मके पूर्व नामकर्म कह्यौ।

अथ घातियाकर्महुके मध्य मोहनीयकर्मके ऊपर वेदनीय अघातिया कह्यो, सु किस वास्ते ? इसको समाधान कहे हैं—

घादिं व वेयणीयं मोहस्स बलेण घाददे जीवं।
इदि घादीणं मज्झे मोहस्सादिम्हि पठिदं तु ॥२०॥

घातिवद्वेदनीयं— घातियासो वेदनीयकर्म है, यद्यपि अघातिया है। काहेते ? मोहस्य बलेन जीवं घातयति—जिसतें मोहनीयकर्मके बलकरि जीवको साता-असाताके निमित्त इन्द्रिय-विषयके बलकरि जीवको घातै है। इति हेतोः घातिकर्मणां मध्ये मोहस्य आदौ पठितम्—इस कारणतें वेदनीयकर्म घातियाकर्मनिके मध्य मोहनीयकी आदि पढ़िये है।

भावार्थ—यह जु बताई इस मोहकर्मको उदय हेतु बताई साता-असातारूप वेदनीय-कर्म बल करै है, जातें रति-अरतिके उदय सुख-दुःख यह जीव मानै है; तातें मोहके अधीन है तिसतें घातियासा कहिए है। इस वास्ते घातियहुके मध्य मोहनीयके पूर्व यो वेदनीय कर्म कह्यो।

अथ गाथाके ऊपर इन आठ कर्मको पाठक्रम कहैं हैं—

णाणस्स दंसणस्स य आवरणं वेयणीय मोहणियं।
आउग णामं गोदंतरायमिदि पठिदमिदि सिद्धं ॥२१॥

ज्ञानावरण दर्शनावरण वेदनीय मोहनीय आयु नाम गोत्र अन्तराय यह पूर्व ही पढ्या था जो पाठक्रम सो पूर्वोक्त प्रकार करि सिद्ध हुआ।

अथ बन्धको स्वरूप कहै हैं—

जीवपएसेक्केक्के कम्मपएसा हु अंतपरिहीणा।
होंति घणनिविडभूओ संबंधो होइ णायव्वो ॥२२॥

एकैकस्मिन् जीवप्रदेशे कर्मप्रदेशाः अन्तपरिहीना भवन्ति। एक-एक जीवके प्रदेशविषैं कर्महुके प्रदेश अन्ततें रहित है।

भावार्थ—यह संसारविषैं जीव अनन्त हैं। एक-एक जीवके असंख्यात प्रदेश हैं, तिन एक-एक प्रदेशविषैं अनन्त-अनन्त कर्महुके प्रदेश जानने। तेषां जीवकर्मप्रदेशानां घननिबिड-भूतः सम्बन्धः ज्ञातव्यः। तिन जीव-पुद्गलके प्रदेशहुका जु घन अत्यन्त सघन निबिड अति दृढ़ लोहके मुद्गरसा जु सम्यक् प्रकारकरि बन्ध तिसको नामबन्ध जानिबो।

अथ यहु बन्ध कहातें है अरु इस बन्धके उदय होत संते क्या हो है सो कहै हैं—

अत्थि अणाईभूवो बंधो जीवस्स विविहकम्मेण।
तस्सोदएण जायइ भावो पुण राय-दोसमओ ॥२३॥

अस्य जीवस्य विविधकर्मणा सह अनादिभूतः बन्धः अस्ति—इस संसारी जीवके आठ प्रकार कर्महुतैं अनादिकालविषैं उत्पन्न हुआ यह पूर्व ही कह्या जो बन्ध सो यावत्काल है। पुनस्तस्योदयेन रागद्वेषमयः भाव उत्पद्यते—बहुरि तिस बन्धके उदयकरि राग-द्वेषमय भाव परिणाम उपजै हैं।

भावार्थ—यहु इस जीवकै अनादि सन्तानवर्त्ती आठ कर्महुका जो बन्ध है तिसका जब उदय हो है तब यह जीव संसारके समस्त इष्ट अनिष्ट पदार्थहुकों मानता संता राग-द्वेषरूप परिणामको करै है। ऐसे परिणाम भावकर्म कहिए।

अथ इनि राग-द्वेष परिणामके होत संते जो हो है सो कहै हैं—

भावेण तेण पुणरवि अण्णे बहु पुग्गला हु लग्गंति।
जह तुप्पियगत्तस्स य णिबिडा रेणुव्व लग्गंति ॥२४॥

पुनरपि तेन भावेन अन्ये बहवः पुद्गलाः लगन्ति—बहुरि तिस राग-द्वेषमय परिणामकरि और बहुत कार्मण वर्गणा लागै है जीवकों सर्वांग ही। किस दृष्टान्तकरि लागै हैं? यथा तुप्पियगात्रस्य निबिडा रेणवः लगन्ति। जैसे घृतलेपि गात्रस्यां निबिड सघन धूलि लागै है।

भावार्थ—यहु जब यह जीव इष्ट-अनिष्ट संसारीक भावहोंविषें राग-द्वेषरूप परिणमै है तब इस जीवकै सर्वांग प्रदेशहुविषें अनेक वर्गणा लागै हैं। जैसे स्निग्ध गात्रको धूलि अति सघन लागै है तैसे राग-द्वेषरूप स्निग्ध परिणामकरि विलिप्त आत्माके अत्यन्त सघन कर्मरूप धूलि लागै है।

इहाँ कोई प्रश्न करै है कि जब यह आत्मा राग-द्वेषरूप परिणमै है, तब इसके कहाँतैं कर्म आइ लगैं हैं? ताकों उत्तर—कि इस तीन्यों लोकविषें सर्वप्रदेशविषें कार्मणवर्गणा अनन्तानन्त हैं। जिस जागै यह आत्मा जैसे गठास लिए राग-द्वेषरूप परिणमै है ताहीतैं तिस गठासमाफिक आत्माके कर्मधूलि लागै है।

अथ एक समयविषें जीवके बन्ध हुआ संता के प्रकार होइ परिणमै है, यह कहै हैं—

एकसमएण बद्धं कम्मं जीवेण सत्तभेएहिं।
परिणमइ आउकम्मं बंधं भूयाउसेसेहिं ॥२५॥

जीवेन एकस्मिन् समये यत् कर्म प्रबद्धं तत्सप्तभेदैः परिणमति—इस जीवने एक समय-विषें जु कर्म बाँधा है सो सात प्रकार होय परिणमै है।

भावार्थ :—यहु जीव जब यह बन्ध करै एक समयविषें तब एक ही समय प्रबद्धका बन्ध करै। परन्तु वही समयप्रबद्ध जीवके प्रदेशहु सेती बंधा सातकर्मरूप परिणमै है। जातै इस जीवके संसारविषें समय-समय सातकर्म बन्ध-योग्य परिणाम सदा रहै हैं, तातैं सात जातिका बन्ध करै है। जैसे एक अन्न आहार्‌या संतै रस रुधिर मास चर्बी अस्थि मज्जा शुक्र इन सात धातुरूप होइ परिणमै है। जातें पंचेन्द्रिय औदारिक शरीरमें सात धातु परिणमनकी योग्यता है, तातैं परिणमै है। तैसे यह कर्म सात जाति होइ परिणमै है ज्ञाना-वरणी आदि सप्त आयुकर्म बिना।

पुनः यत् आयुःकर्म तत् भुक्तायुः शेषेण। बहुरि जो आयुकर्मको बन्ध है सो भुज्यमान जु है आयु तिसके त्रिभागकरिकें जानना।

भावार्थ :—यह जु जितनी जिस जीवके वर्तमान एक पर्यायमिश्रित आयु है तिस आयुके तीसरे भागविषें आयुबन्ध जानना। अरु जो तीसरे भागविषें न होइ तो तीसरेके तीसरे भागमें होइ। अरु जो इहाँ भी न होइ तो इसके तीन भाग करिए। इस ही भाँति नव बार तीन-तीन भाग करि अन्त मरणसमय अवश्य आयुबन्ध होइ।

अथ बन्ध के प्रकार है सो कहै हैं—

सो बंधो चउभेओ णायव्वो होदि सुत्तणिद्दिट्ठो।
पयडि-ट्ठिदि-अणुभाग-पएसबंधो पुरा कहिओ ॥२६॥

चतुर्भेदः बन्धः पुरा कथितः सूत्रनिर्दिष्टः। पूर्व ही जो बन्ध सो चार प्रकार कह्या। कौन-कौन ? प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध, प्रदेशबन्ध यहु चार प्रकार बन्ध जानना।

प्रकृतिः परिणामः स्यात् स्थितिः कालावधारणम्।
अनुभागो रसो ज्ञेयः प्रदेशो दलसञ्चयः॥

प्रकृति कहिए स्वभाव परिणाम जिस कर्मका जु स्वभाव सु प्रकृति कहिए। जु ज्ञानका आच्छादनत्व सु ज्ञानावरण कर्मका स्वभाव है। दर्शनका आच्छादन सु दर्शना-वरणका स्वभाव है इस भाँति सब कर्महुका स्वभाव जानना। योगनिकी तीव्रता-मन्दताकरि जु तीव्र-मन्द स्वभाव लिए कर्मका बन्ध सो प्रकृतिबन्ध कहिए। कषायकी तीव्र-मन्दताकरि उत्कृष्ट मध्यम जघन्यरूप कालकी मर्यादा लिए बन्ध होइ सु स्थिति कहिए। कषायकी तीव्र-मन्दता अनेक भेद लिए जु अपने रस लिए बन्ध होइ सो अनुभागबन्ध कहिए। योगनिके अनुसारे तीव्र-मन्दता रूप करि तीव्र मन्दरूप होइ आत्माके प्रदेशनिसों एकमेक होइ जु-जु कर्म ही की पुंज बंधे सो प्रदेशबन्ध कहिए। एक-एक बन्धके असंख्याते-असंख्याते भेद हैं तीव्र-मन्दताकरि, जातें कषाय योगनिका भी असंख्यात जातिका परिणमन है।

अथ इन आठ कर्महुका दृष्टान्त है—

पडपडिहारसिमज्जाहडिचित्तकुलालभंडयारीणं।
जह एदेसिं भावा तह विह कम्मा मुणेयव्वा ॥२७॥

यथा पट-प्रतीहार-असि-मद्य-हलि-[चित्रक-] कुलाल-भाण्डारिकाणां एतेषां भावाः तथैव कर्माणि ज्ञातव्यानि यथाक्रमम्। जैसे पट वस्त्र, प्रतीहार दरवान, असि खड्ग, मद्य

सुरा, हलि खेड़ो, चित्रक चितेरा, कुलाल कुम्हार, भाण्डागारी भंडारी इन आठोंका जैसा परिणमन है तैसा ही अनुक्रम आठ कर्महुका परिणमन जानना।

भावार्थ :—ज्ञानमावृणोतीति ज्ञानावरणीयम्—ज्ञानको जो आच्छादै सो ज्ञानावरणीय कर्म कहिए। तिसका स्वभाव ज्ञान-आच्छादनत्व है। किस दृष्टान्तकरि ? जैसे देवताके मुख ऊपरि वस्त्र डारैतें प्रतिमा आच्छादिए है तैसे ज्ञानावरणकर्म ज्ञानगुणको आच्छादै है। दर्शनमावृणोतीति दर्शनावरणीयम्—जो दर्शनगुणको आच्छादै सो दर्शनावरणीयकर्म कहिए। तिसको प्रकृति दर्शन आच्छादनता। किस दृष्टान्तकरि ? जैसा द्वारि बैठा प्रतीहार राजाके दर्शनको न होन देइ, तैसे दर्शनावरणीयकर्म दर्शनगुणको प्रगट होन नहीं देइ है। वेदयतीति वेदनीयम्—जो सुख-दुःखको जणावै सो वेदनीय कहिए। तिसका स्वभाव सुख-दुःख उत्पादक। कैसे ? जैसे शहद लपेटी खाँड़ेकी धार चाटतें प्रथम ही मिष्ट है अरु पाछै जीभको काटै है, तैसे वेदनीयकर्म जानना। मोहयतीति मोहनीयम्-जो जीवको मोहै सो मोहनीय कर्म कहिए। तिसका स्वभाव मोहोत्पादक है। जैसे—मद्य-धत्तूर-मदनकोद्रववत् जैसे मद्य पीए संते अरु धत्तूरा माचन कोदोंके खाए संते जीव अत्यन्त विकल हो है, तैसे मोहनीयकर्मका उदय जानना। भवधारणाय एति गच्छतीत्यायुः पर्याय स्थितिको जो प्राप्त होइ है सो आयुकर्म कहिए। तिसका स्वभाव जीव पर्यायकी स्थिति करै है। कैसे ? जैसे सांकल सापराध पुरुषकी स्थितिको करै है, तैसे आयुकर्म जानना। नाना मिनोतीति नाम अनेक प्रकार गत्यादि रचनाको जो करै सो नामकर्म कहिए। तिसका स्वभाव अनेक प्रकार करणत्व। कैसे ? चित्रकारवत्। जैसे चितेरा अनेक प्रकार रचना रचै तैसे नामकर्म जानना। उच्चं नीचं गमयतीति गोत्रम् ऊँचे-नीचे गोत्रविषें जो जीवको लै जाहै सो गोत्रकर्म कहिए। तिसका स्वभाव ऊँच नीच प्रापकत्व। कैसे ? जैसे कुम्हार घट-हंडादि करणविषें समर्थ तैसे गोत्रकर्म जानना। दातृ-पात्रयोरन्तरमेतीत्यन्तरायः। दाताके देते संते अरु पात्रके लेते जो विघ्न करै तैसे अन्तराय कर्म जानना।

अथ इन आठ कर्मप्रकृतिहूकी जु है उत्तरप्रकृति तिनकी संख्या कहे हैं अरु मूलप्रकृति हू का स्वभाव—

णाणावरणं कम्मं पंचविहं होइ सुत्तणिद्दिट्ठं।
जह पडिमोवरि खित्तं कप्पडयं छादयं होइ ॥२८॥

ज्ञानावरणं कर्म सूत्रनिर्दिष्टं पञ्चविधं भवति—ज्ञानावरणकर्म सूत्रविषें कह्या पंच प्रकार सो किस दृष्टान्तकरि है ? यथा प्रतिमोपरि क्षिप्तं कर्पटकं छादकं भवति। जैसे प्रतिमा ऊपर डारा हुआ वस्त्र आच्छादक है तैसे ज्ञानावरणीय कर्म जानना।

दंसण-आवरणं पुण जह पडिहारो हु णिवदुवारम्मि।
तं णवविहं पउत्तं फुडत्थवाईहि सुत्तम्मि ॥२९॥

यथा नृपद्वारे प्रतीहारः तथा दर्शनावरणीयं कर्म [वस्तुदर्शननिषेधको भवति] जैसे राजाके द्वारपर बैठा प्रतीहार राजाके दर्शन नाहीं करण देहै तैसे दर्शनावरणीयकर्म पदार्थ-दर्शनका निषेधक जानना। तत् नवविधं स्फुटार्थवाग्भिः सूत्रे प्रोक्तम् सोई दर्शनावरणीयकर्म सिद्धान्तविषें गणधरदेवहूने नव प्रकार कह्या है।

महुलित्तखग्गसरिसं दुविहं पुण होइ वेयणीयं तु।
सायासायविभिण्णं सुह दुक्खं देइ जीवस्स ॥३०॥

पुनः वेदनीयं द्विविधम् बहुरि वेदनीयकर्म दोय प्रकार है। कैसा है वेदनीयकर्म ? मधुलिप्तखड्गसदृशम् शहदकरि लपेटा जैसा खड्ग तैसा है। बहुरि कैसा है ? सातासातविभिन्नम् साताअसाता ऐसे हैं दो भेद जिसके। तु तद्वेदनीयं कर्म जीवस्य सुख-दुःखं ददाति। बहुरि वह वेदनीयकर्म जीवको सुख-दुःख देइ है।

मोहेइ मोहणीयं जह मयिरा अहव कोद्दवा पुरिसं।
तं अडवीसविभिण्णं णायव्वं जिणुवदेसेण ॥२१॥

यथा मदिरा पुरुषं मोहयति तथा मोहनीयं कर्म पुरुषं मोहयति जैसे मदिरा पुरुषको मोहित करै, तैसे ही मोहनीयकर्म पुरुषको मोहै है। तथा जैसे मदनकोद्रवा पुरुषं मोहयन्ति माचन कोदों मूर्च्छित करै हैं, उसी प्रकार मोहनीयकर्म जीवको मूर्च्छित करै है। तत् मोहनीयं कर्म अष्टाविंशतिभेदभिन्नं जिनोपदेशेन ज्ञातव्यम् वह मोहनीयकर्म जिन भगवान्‌के उपदेशतें अट्ठाईस भेद रूप जानना।

आऊ चउप्पयारं णारय-तिरिक्ख-मणुय-सुरगइयं।
हडिखित्त पुरिससरिसं जीवे भवधारणसमत्थं ॥२२॥

नारक-तिर्यङ्-मनुष्य-सुरगतिकं आयुःकर्म चतुःप्रकारम्। नरकगति तिर्यंचगति मनुष्यगति देवगति इनको प्राप्तवारो जो है आयुकर्म जानना। सो आयुकर्म कैसा है ? हलिक्षिप्तपुरुषसदृशम् जैसे हलि खेड़ा हो पुरुष तैसा है। बहुरि कैसा है ? जीवानां भवधारणे समर्थम् जीवहुकी पर्याय स्थिति करनेको समर्थ है।

चित्तपडं व विचित्तं णाणाणामे णिवत्तणं णामं।
तेयाणवदी गणियं गइ-जाइ-सरीर-आईयं ॥२३॥

गति-जाति-शरीरादिकं त्रिनवतिगणितं नामकर्म विचित्रं भवति। गति जाति शरीरादि प्रकृतिहु करिके तिरानवै प्रकार गिना जु है नामकर्म सो नाना प्रकार जानना। किंवत् ? चित्रपटवत्। जैसे अनेक चित्रहूकरि मण्डितवस्त्र तैसा है नामकर्म। नाना नामनिवर्तकं पूर्ण ..

गोदं कुलालसरिसं णीचुच्चकुलेसुपायणे दच्छं।
घडरंजणाइकरणे कुंभायारो जहा णिउणो ॥२४॥

गोत्रं कर्म कुलालसदृशं वर्तते गोत्रकर्म कुम्हारसरीखा है। पुनः कथम्भूतम् ? नीचोच्चकुलेषु उत्पादने दक्षम्। नीच ऊँच कुळविषै उपजावनेको दक्ष प्रवीण है। घटरंजनादिकरणेषु यथा कुम्भकारः घट अरु कूलहड़ी आदिलेय करिवेविषै जैसे कुंभकार निपुण है, तैसे गोत्रकर्म नीचोच्चेषु निपुणः नीच ऊँच कुळविषै उपजावनेको निपुण है।

जह भंडयारि पुरुसो धणं णिवारेइ राइणा दिण्णं।
तह अंतरायपणगं णिवारयं होइ लद्धीणं ॥२५॥

यथा भाण्डागारिकः पुरुषः राज्ञा दत्तं धनं निवारयति तथा अन्तरायपञ्चकं लब्धीनां निवारकं भवति। जैसे भंडारी पुरुष राजाने दिया जो द्रव्य तिसको नाहीं दे है, तथा तैसे अन्तरायपंचक दानादि पाँच लब्धियोंका निवारण करै है।

अथ उत्तरप्रकृतिहुका ठीक कहे हैं—

पंच णव दोण्णि अट्ठावीसं चउरो कमेण तेणवदी ।
ते उत्तरं सयं वा दुग पणगं उत्तरा होंति ॥३६॥

ज्ञानावरणीयकी ५ दर्शनावरणीयकी ६ वेदनीयकी २ मोहनीयकी २८ आयुकी ४ नामकी ९३ वे हैं अरु एकसौ तीन १०३ भी जाननी। गोत्रकी २ अन्तरायकी ५ इतनी सब उत्तरप्रकृति हैं आठ कर्महुकी।

अथ पांच प्रकार ज्ञानावरणीयके कहनेके वास्ते प्रथम ही पंच प्रकार ज्ञानके स्वरूपको आचार्य कहे हैं। जातें पंच प्रकार ज्ञानके कहे बिना ज्ञानावरणीयका स्वरूप नाहीं जाना जाय है तातें ताहि कहिए है—

अहिमुहणियमियबोहणमाभिणिबोहियमणिंदि-इंदियजं ।
बहुआदि-ओग्गहादिय कयछत्तीसतिसयमेयं ॥३७॥

अभिमुखनियमितबोधनं आभिनिबोधकं भवति, जो पदार्थ स्थूल है अरु वर्त्तमान है अरु इन्द्रियग्रहणयोग्य प्रदेशविषे प्रवर्त्ते है सो पदार्थ अभिमुख कहिए। अरु जो पदार्थ निश्चित है इस इन्द्रियग्रहणयोग्य यह है इस भांति ठीक किया है जो पदार्थ तिसका नाम नियमित कहिए। इस अभिमुख अरु नियमित पदार्थका जाननेवाला तिसका नाम आभिनिबोधक मतिज्ञान कहिए है। यह मतिज्ञान स्थूल वर्त्तमान योग्य प्रदेशविषै स्थित निश्चित पदार्थको जानै है जातें यह मतिज्ञान अनिन्द्रियेन्द्रियजं अनिन्द्रिय कहिए मन अरु पंच स्पर्शनादि इन्द्रिय तिनकरि उत्पन्न है पदार्थ स्पर्शनादि इन्द्रियहुकरि स्थूल पदार्थ जानिए है। परन्तु स्थूल पदार्थ भी तब जानिए है जो वर्तमान होइ है। यो नाहीं कि भूत भविष्यत्कालके स्थूलपदार्थ प्रत्यक्ष जानिए है। अरु स्थूल वर्तमान भी पदार्थ तब जानिए है जो इन्द्रियग्रहण योग्य स्थूलविषै होहि। यो नाही कि स्थूल वर्तमान मेरु पर्वतादिक दूर तिष्ठहि है यो पदार्थ अरु पटलहुकरि आच्छादित नरक पदाथ ते प्रत्यक्ष जानिए है। अरु स्थूल वर्तमान इन्द्रियग्रहणयोग्य स्थूलविषै भी तब पदार्थ जानै जाइ है जो पदार्थ निश्चित हो है कि इस इन्द्रियके ग्रहणको योग्य यह अर्थ है। यो नाहीं कि श्रवण इन्द्रिय ग्रहणयोग्य शब्दको नेत्र इन्द्रिय ग्रहै है, अरु जिह्वा इन्द्रिय ग्रहणयोग्य रसको श्रवण ग्रहै है। जो जिस इन्द्रिय ग्रहणयोग्य पदार्थ होइ तिस ही इन्द्रियकरि ग्रहिए तो स्पर्शनादि इन्द्रियहुकरि पदार्थ जाने जाय हैं। तातें यह सिद्धान्त सिद्ध हुआ कै इन्द्रियाधीन मतिज्ञान है। बहुरि मतिज्ञान कैसा है ? बह्वादि-अवग्रहादिककृत षट्त्रिंशत्त्रिशतभेदम् बहुआदिक बारह १२ जु भेद अरु अवग्रहादि चार ४ तिनकरि किए है तीन सै छत्तीस भेद जिसके।

भावार्थ—इस मतिज्ञानके तीन सै छत्तीस भेद हैं, ते समस्त प्रगट आगे कहिए है— अवग्रह १ ईहा २ अवाय ३ धारणा ४। अवग्रह कहा कहिए ? पदार्थ अरु इन्द्रिय इन दोनोंके संयोग हुए संते पदार्थ-दर्शन हो है। तिसके पीछे जो पदार्थको कछूक ग्रहण तिसको नाम अवग्रह कहिए। जैसे—दूरतें नेत्रकरि ग्रहिएके यह जु कछु पदार्थ देखिए है सो श्वेत है ऐसा जु ग्रहण सो अवग्रह है। ईहा कहा कहिए ? जो पदार्थ अवग्रहकरि जान्यो है तिसकी जु विशेष जानिवेकी इच्छा सो ईहा कहिए। जैसे यह श्वेतरूप कहा है ? बकहुकी पंकति है कि धुजा है ऐसा जो ग्रहण सो ईहा। अवाय कहा कहिए ? जो पदार्थको यथावत् स्वरूप विशेषकरि जानना तिसका नाम अवाय कहिए। कै यह बकपंक्ति ही है, पताका नाहीं।

जातें उड़ि ऊंचे जाय है अरु नीचे आवे है, अरु पांख हलावती देखिए है, तातें बकपंक्ति है ऐसा जु है ठीक ग्रहण सो कहिए। धारणा कहा कहिए ? जो पदार्थ यथार्थ ग्रहीत है कालान्तरविषें भी न भूलै तिसका नाम धारणा कहिए। ए चारि अवग्रहादिक भेद जानने। आगे बहु आदिक भेद कहिए है—बहु अबहु बहुविध अबहुविध क्षिप्र अक्षिप्र निसृत अनिसृत उक्त अनुक्त ध्रुव अध्रुव। बहु बहुत वस्तुको नाम जानना। अबहु स्तोकका नाम जानना। बहुविध बहुप्रकारकरि जाने। अबहुविध एक प्रकारकरि जाने। क्षिप्र शीघ्र ही जाने। अक्षिप्र विलम्बकरि जाने। निसृत निकसे पुद्गलको जाने। अनिसृत अनिकसे पुद्गलको जाने। उक्त कहनेका नाम जानना। अनुक्त अनुक्त अभिप्राय कहिए। ध्रुव यथार्थ ग्रहणशक्ति। अध्रुव अयथार्थ ग्रहणनाम। इन बारहसों अवग्रहादिकके जो भेद जोड़िए तो ४८ भेद होय हैं। बहुत वस्तुको जो किंचित् ज्ञान सो बहु-अवग्रह। बहुतको सन्देहरूप जानना सो बहु-ईहा। बहुतको निश्चित जानना सो बहु-अवाय। जो बहुतको भूले नहीं सो बहु-धारणा। इस ही भांति ए चारों अवग्रहादिक बहु-अबहु आदि भेद १२ सों लगाएतें भेद ४८ जानने। अथ एई अड़तालीस पंच इन्द्रिय छठे मनसों लगावने सो दो सै अठासी २८८ भेद जानने। पूर्व ही कहा जो अवग्रह तिनके दोय भेद जानने—एक अर्थ-अवग्रह एक व्यंजन-अवग्रह। जो प्रगट अवग्रह होइ कै यह कछू वस्तु है सो अर्थ अर्थ-अवग्रह कहिए। अरु जो अप्रगट अवग्रह होय कै यह कछू वस्तु है ऐसा भी ज्ञान न होय सो व्यंजनावग्रह कहिए। जैसे कोरे सरवाके ऊपर दोइ बूंद डारें मालूम नाहीं हो है। अरु सरवा आला नाहीं हो है। अरु वही सरवा बारम्बार पानीके सीचिए तो आला हो है, तैसे स्पर्श जिह्वा नासिका कान इन चारयों इन्द्रियविषें स्पर्श रस गन्ध शब्दरूप परिणमै है तब अर्थ-अवग्रहकरि प्रगट हो है। व्यंजन-अवग्रहके पीछे अर्थावग्रह जानना। व्यंजनावग्रह मन अरु नेत्र विना चार इन्द्रियहुको है। मन अरु नेत्रको अर्थावग्रह है। उन चारयों इन्द्रियहुको व्यंजनावग्रह अरु अर्थावग्रह दोऊ है जातें मन अरु नेत्रकरि अर्थके विना ही स्पर्शे दूरतें ज्ञात हो है। अरु वे जो हैं चार इन्द्रिय तिनकरि पदार्थके स्पर्शे विना ज्ञान नाहीं हो है, तातें स्पर्शन जिह्वा नासिका कर्णविषें प्रथम ही जब स्पर्श रस गन्ध शब्दरूप पुद्गल स्पर्शे है तब दोय तीन समय व्यंजनावग्रह हो है, पीछै बारम्बार स्पर्शतें अर्थावग्रह हो है। नेत्र अरु मनकरि पदार्थके स्पर्शे विना जातें ज्ञान है तातें इन दोनोंको प्रथम ही अवग्रह है। तातें यह सिद्धान्त सिद्ध हुआ कै चार इन्द्रियहुको अर्थावग्रह है। आगें इन चार इन्द्रियहुके व्यंजनावग्रहसों बहु आदिक १२ भेद लगाइए तो अड़तालीस ४८ भेद हो है। पूर्व ही कहे जे २८८ भेद अरु अड़तालीस व्यंजनावग्रहके ते सब मिलायकरि ३३६ भेद मतिज्ञानके भये।

अथ श्रुतज्ञानको स्वरूप कहै हैं—

> अत्थादो अत्थंतरमुवलंभं तं भणंति सुदणाणं।
> आभिणिबोहियपुव्वं णियमेणिह सत्थजप्पमुहं ॥३८॥

अर्थात् अर्थान्तरं येन उपलभ्यं तत् आचार्याः श्रुतज्ञानं भणन्ति मतिज्ञानकरि ठीक किया है जो पदार्थ तिसतें और पदार्थ जिस ज्ञानकरि जानिए विशेषरूप तिसका नाम आचार्य श्रुत कहै हैं। भावार्थ—जिस ज्ञानकरि एक पदार्थके जाने सते अनेक पदार्थ जानिए सो श्रुतज्ञान कहिए। सो श्रुतज्ञान कैसा है ? आभिनिबोधिकपूर्वम्। भावार्थ—मतिज्ञान बिना श्रुतज्ञान न होय। जो पहिले मतिज्ञानकरि पदार्थ जान्यो होय तो तिसके पीछे श्रुतज्ञानकरि विशेष

जानिए है। बहुरि कैसा है श्रुतज्ञान? नियमेन—शास्त्रजप्रमुखम् निश्चयकरि शास्त्र-जनित श्रुतज्ञान है प्रधान जिसविषें। भावार्थ—यह श्रुतज्ञान दोय प्रकार है—एक शब्दज है, एक लिंगज है। जो शब्दतें उत्पन्न है अक्षर स्वर पद वाक्यरूप है सो शब्दज श्रुतज्ञान कहिए। जो श्रुतज्ञान अनक्षररूप है, एकेन्द्रिय आदि पंचेन्द्रिय पर्यन्त समस्त जीवहुके विषें प्रवर्ते है सो लिंगज है। इन दोनोंमें शब्दज श्रुतज्ञान प्रधान है, जातें शास्त्र-पठन-पाठन उपदेशादिक समस्त व्यवहारका यह मूल है।

अथ अवधिज्ञानके स्वरूप कहिए है—

अवधीयदि त्ति ओही सीमाणाणेत्ति वण्णियं समये।
भव-गुणपच्चयविहियं जमोहिणाणेत्ति णं वेंति ॥३६॥

अवधीयते इति अवधिः द्रव्य क्षेत्र काल भाव इन चारों करि मर्यादा करिए है जिसकी, सो अवधिज्ञान कहिए। इदं समये सीमाज्ञानं वर्णितम् यही अवधिज्ञान परमागमविषें मर्यादा कह्या है। भावार्थ—मति श्रुत केवल ये तीन्यों अमर्यादिक ज्ञान हैं जातें इन विषें अपरमान है। मति श्रुतज्ञान परोक्ष समस्त जाने है। केवलज्ञान सकलप्रत्यक्ष जाने है, तातें ये तीन्यों अमर्यादिक ज्ञान कहिए। इस अवधिज्ञानका जु है विषय सो मर्यादा लिए है, तातें अवधिज्ञान सीमाज्ञान कह्यो है। यद् भवगुणप्रत्ययविहितं तद् अवधिज्ञानं इति वदन्ति। जो यह ज्ञान भवप्रत्यय अरु गुणप्रत्ययके भेदकरि दोयप्रकार कह्यो है। तिसहि अवधिज्ञान ऐसो नाम आचार्य कहे हैं।

भावार्थ—अवधिज्ञान दोय प्रकार है—भवप्रत्यय अरु गुणप्रत्यय। भवप्रत्यय सो कहा कहिए? जो पर्यायको निमित्त पायकरि उपजे सो भवप्रत्यय कहिए। सो भवप्रत्यय देव-नारकीके अरु तीर्थंकरके पर्यायविषें अवश्य होय। इहां कोई प्रश्न करै कै अवधिज्ञान तो अवधिज्ञानावरणीयकर्मके क्षयोपशमतें उपजे है, तुमने इहां कह्यो के भवप्रत्यय अवधि पर्यायको निमित्त पाय उपजै है सो यह क्यों संभवे है? ताको उत्तर-कै जब देव नारक पर्यायकी उत्पत्ति होय है तब ही अवश्यकरि अवधिज्ञानावरणीयकर्मको क्षयोपशम हो है जातें देव-नारकीको पर्यायविषें वह सबको है तातें भवप्रत्यय अवधिको पर्याय निमित्त कारण कहिए है। जैसे पक्षी पर्यायविषें उड़नेको गुण सबके है, कोई शिक्षा देयकरि उड़ना सिखावता नाहीं; स्वाभाविक पर्याय अवलंबिकरि उड़ना जाने हैं तैसो पर्याय अवलंबिकरि भवप्रत्यय अवधि जाननी। जो अवधिज्ञानावरणीयकर्मके क्षयोपशमतें मनुष्य अरु तिर्यंचविषें होइ सो गुण-प्रत्यय अवधि कहिए। मनुष्य अरु तिर्यंचविषें भी तब होइ जो सैनी पर्यायमें होहि। अरु जो सम्यग्दर्शनादिकको निमित्त होइ।

अथ मनःपर्यय ज्ञानको स्वरूप कहिए है—

चिंतियमचिंतियं वा अद्धं चिंतियमणेयभेयगयं।
मणपज्जवं ति वुच्चइ जं जाणइ तं खु णरलोए ॥४०॥

चिन्तितं अचिन्तितं वा [अर्धचिन्तितं] अनेकभेदगतं परमनसि स्थितं अर्थं यत् जानाति तत् मनःपर्ययज्ञानं उच्यते। चिन्तितं पूर्वं ही चिन्तयो होय, अचिन्तितं आगें चिन्तइगा, अर्धं चिन्तितं वा अथवा आधा चितया होय ऐसा जो अनेक प्रकार संयुक्त परमनसि-स्थितं अर्थं पराये मनकेविषें तिष्ठै है जु पदार्थ तिनकों जो जाने सो मनःपर्ययज्ञान कहिए। तत् खलु नरलोके सो मनःपर्ययज्ञान मनुष्यलोकविषें उपजे है।

भावार्थ—अढाई द्वीपविषें सब जीवहुको भूत भविष्यत वर्तमानरूप जु है अनेक प्रकार मनके परिणामनि सूक्ष्म स्थूलरूप सो मनःपर्ययज्ञानकरि सब जानिए है। सो मनःपर्ययज्ञान दोय प्रकार है—एक ऋजुमति एक विपुलमति। ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान कालाश्रित जघन्यता-करि अपने अरु औरके आगिले पीछिले दोय-तीन पर्याय जाने। अरु उत्कृष्ट योजन ६ नवके मध्य जीवनिके मनकी बात जाने। विपुलमति मनःपर्ययज्ञान जघन्य कालस्थिति सात-आठ पर्याय जाने। उत्कृष्ट असंख्यात आगिले पीछिले पर्याय जाने। क्षेत्राश्रित जघन्यताकरि योजन ९ नवके मध्य जीवनिके मनकी बात जाने। उत्कृष्ट मानुषोत्तर पर्वतके भीतर जानें, बाहिर नाहीं। यह ऋजुमति विपुलमतिका भेद जानना।

अथ केवलज्ञानको स्वरूप कहिए है—

संपुण्णं तु समग्गं केवलमसवत्त सव्वभावगयं।
लोयालोयवितिमिरं केवलणाणं मुणेयव्वं ॥४१॥

एतादृशं केवलज्ञानं मन्तव्यम्। कीदृशम्? सम्पूर्णं अखण्डम्। पुनः किंविशिष्टम्? समग्रम्। अनन्तज्ञानादिशक्तिकरि समस्त है। पुन. कीदृशम्? सर्वपदार्थके जाननेतें निर्मल है। पुनः किम्? असपत्नम् सर्वघातिया कर्महुके क्षयतें बन्ध-रहित है। पुनः किम्? सर्वभाव-गतम् समस्त जु है लोकालोकविषें पदार्थ तिनिविषें एक समयमांहि गया है। पुनः किम्? लोकालोकवितिमिरम् लोकालोकप्रकाशक है ऐसो केवलज्ञान जानना।

मदि-सुद-ओही-मणपज्जव-केवलणाण-आवरणमेवं।
पंचवियप्पं णाणावरणीयं जाण जिणभणियं ॥४२॥

मति-श्रुतावधि-मनःपर्यय-केवलज्ञानानां आवरणं एवं पञ्चविकल्पं ज्ञानावरणीयं जानीहि जिनभणितम्। ....
....
....
....

अथ दर्शनावरणीयकर्मके स्वरूप कहनेको प्रथम ही दर्शनको स्वरूप कहिए है—

जं सामण्णं गहणं भावाणं णेव कट्टुमायारं।
अविसेसिदूण अट्ठे दंसणमिदि भण्णए समए ॥४३॥

यद्भावानां सामान्यग्रहणं तत् समये दर्शनं इति भण्यते जो पदार्थकौ सामान्य ग्रहण सो दर्शन ऐसो उदचो शास्त्रविषें कहिए है। कहा करि? आकारं नैव कृत्वा भेद नाहीं करिके-कै यह घट है कै पट है ऐसो भेदके बिना ही करे। अर्थात् अविशेष्य पदार्थनिकी जाति क्रिया गुणकरि विशेषता बिना ही करै।

भावार्थ—जो पदार्थको सामान्य वस्तुमात्र ग्रहे, विशेष भेदकरि न ग्रहे सो दर्शन जानना। ज्ञान सर्वांग पदार्थको ग्राहक है। संसारविषें जे छद्मस्थ हैं तिनके दर्शन पहिले है, पाछे ज्ञान है। केवलीके युगपत् एक ही बार होय हैं।

अथ चतुर्भेद दर्शनके कथ्यते—

चक्खूण जं पयासइ दीसइ तं चक्खुदंसणं विंति ।
सेसिंदियप्पयासो णायव्वो सो अचक्खु त्ति ॥४४॥

चक्षुषा यत् प्रकाश्यते दृश्यते तद् आचार्याः चक्षुर्दर्शनं ब्रुवन्ति । भावार्थ—आत्माके अनन्तगुणमें एक दर्शन गुण है तिस दर्शन गुणकरि संसारी जीव चक्षुर्दर्शनावरणीयकर्मके क्षयोपशमतें नेत्रद्वारकरि रूपवन्त पदार्थ दृष्टिगोचर देखे है, तिसका नाम चक्षुर्दर्शन कहिए । वा शेषेन्द्रियप्रकाशः जो पाँच इन्द्रियहुका प्रकाश है सो अचक्षु इति ज्ञातव्यः । भावार्थ—नेत्र बिना स्पर्शन रसन घ्राण श्रोत्र मन इन करि संसारी जीव अचक्षुर्दर्शनावरणीयकर्मके क्षयोपशमतें पदार्थहुको प्रकट करै सामान्य रूप सो अचक्षुर्दर्शन कहिए ।

इहां कोई प्रश्न करे है—दर्शन तो वस्तुको नेत्रहुकरि हो है, इहां दर्शन स्पर्शनादि पंच इन्द्रियहु करि भी कह्यो सु काहेतें ? ताको उत्तर कै जैनविषें दर्शन सामान्यज्ञानको कहै हैं यातें इन पंच इन्द्रियहुको सामान्य ज्ञानकों दर्शन कहे हैं ।

अथ अवधिदर्शनके स्वरूपको कहै हैं—

परमाणुआदिआइं अंतिमखंधं त्ति मुत्तिदव्वाइं ।
तं ओहिदंसणं पुण जं पस्सइ ताइं पच्चक्खं ॥४५॥

परमाणु आदि लेकरि अन्तिम स्कन्ध पर्यन्तं अन्तके महास्कन्ध मेरु आदिक पर्यन्त यानि मूर्तिद्रव्याणि तानि प्रत्यक्षं पश्यति तद् आचार्याः अवधिदर्शनं ब्रुवन्ति । भावार्थ—अवधिदर्शनावरणीय कर्मके क्षयोपशमतें संसारी जीवके अवधिदर्शन हो है, सो परमाणु तें लेकरि द्व्यणुक त्र्यणुक चतुरणुक इस भाँति महास्कन्ध पर्यन्त लोकके विषें समस्त मूर्त्तद्रव्यको प्रत्यक्ष देखे है ।

अथ केवलदर्शनके स्वरूपको कहै हैं—

बहुविह-बहुप्पयारा उज्जोवा परिमियम्मि खेत्तम्मि ।
लोयालोयवितिमिरो जो केवलदंसणुज्जोवो ॥४६॥

बहुविध-बहुप्रकारा उद्योताः बहुविध तीव्र मन्द आद्यन्त मध्य इत्यादि भेद बहुप्रकार चन्द्रमा सूर्य रत्न अग्नि आदि भेदकरि ऐसे जु है उद्योत इस जगतविषें ते परमिते क्षेत्रे सन्ति मर्यादिका भवन्ति । भावार्थ—चन्द्रमा सूर्यादिकको उद्योत प्रमाण लिए है । यः केवलदर्शनोद्योतः स लोकालोकवितिमिरः अरु जो लोकालोकप्रकाशक है स केवलदर्शनोद्योतः सो केवलदर्शनको उद्योत जानना । भावार्थ—केवलदर्शन समस्त लोकालोक प्रकाशक है एक समयविषें एक ही बार ।

अथ दर्शनावरणीयकर्मको नव प्रकृति कहिए है—

चक्खु-अचक्खु-ओही-केवलआलोयणाणमावरणं ।
तत्तो पभणिस्सामो पण णिद्दा दंसणावरणं ॥४७॥

चक्षुरचक्षुरवधिकेवलालोकानां आवरणं चक्षुर्दर्शनावरणीय १ अचक्षुर्दर्शनावरणीय २ अवधिदर्शनावरणीय ३ केवलदर्शनावरणीय ४ पूर्वं ही कह्यो जो चार प्रकार दर्शन तिसके

आवरणतें चार प्रकार दर्शनावरणीयकर्म जानना। ततः पञ्च निद्रादर्शनावरणं प्रभणिष्यामः तिसतें आगे हम जु हैं नेमिचन्द्राचार्य ते पंचप्रकार दर्शनावरणीयकर्म कहेंगे।

भावार्थ—दर्शनावरणीयकर्म नव प्रकार है। तामैं चार प्रकार कह्या, पंच प्रकार निद्रा-दर्शनावरणीय अब कहैं हैं।

अह थीणगिद्धि णिद्दाणिद्दा य पयलपयला य।
णिद्दा पयला एवं णवभेयं दंसणावरणं ॥४८॥

अथ स्त्यानगृद्धिः निद्रानिद्रा तथैव प्रचलाप्रचला निद्राप्रचला च एवं नवभेदं दर्शनावरणं ज्ञेयम्। स्त्यानगृद्धि निद्रानिद्रा प्रचलाप्रचला निद्रा अरु प्रचला ये पंच प्रकार निद्रा है। इनहिं मिलाये दर्शनावरणीयकर्म नव प्रकार जानना। स्त्याने स्वप्ने यया वीर्यविशेषप्रादुर्भावः सा स्त्यानगृद्धिः जिसके उदयतें स्वप्नविषें विशेष बल प्रगट होय है सो स्त्यानगृद्धि निद्रा जाननी। यदुदयान्निद्राया उपरि उपरि प्रवृत्तिः सा निद्रानिद्रा, जिसके उदयतें निद्राके ऊपर फेर भी निद्रा आवे सो निद्रानिद्रा कहिए। यदुदयादात्मा पुनः पुनः प्रचलयति सा प्रचलाप्रचला, जिसके उदयतें आत्मा बारंबार चले सो प्रचलाप्रचला जाननी। यदुदयान्मदखेदक्लमविनाशार्थं शयनं तन्निद्रा, जिसके उदयतें मद खेद थकान आदिके दूर करनेको सोइए सो निद्रा जाननी। या आत्मानं प्रचलयति सा प्रचला, जिसके उदयतें जीव बैठ्या बैठ्या ऊँघै, हालै सो प्रचला जाननी। ऐसे नव प्रकार दर्शनावरणीयकर्म पंच निद्रा मिलि करि भया।

अथ स्त्यानगृद्धि आदिकहु कालविशेषकरि कहै हैं—

थीणुदएणुट्ठविदे सोवदि कम्मं करेदि जंपदि वा।
णिद्दाणिद्दुदएण य ण दिट्ठिमुग्घाडिदुं सक्को ॥४९॥

स्त्यानगृद्ध्युदयेन उत्थापिते सत्यपि स्वपिति कर्म करोति जल्पति च स्त्यानगृद्धिके उदयतें उठावते संते भी सोवे अरु काम करे अरु बोले। भावार्थ—स्त्यानगृद्धिनिद्राके उदय सोवते संते बहुल बल होय, अरु दारुण कर्म करे १। निद्रानिद्रोदयेन दृष्टिं उद्घाटयितुं न शक्नोति, निद्रानिद्राकर्मके उदय दृष्टिको उघाडि न सके। भावार्थ—जिस जीवको निद्रानिद्रा कर्मका आवरण है सो भी बहुत प्रकारकरि जगाइए तो भी नेत्रनिको खोलि न सके २।

पयलापयलुदएण य वहेदि लाला चलंति अंगाइं।
णिद्दुदए गच्छंतो ठाइ पुणो वइसदि पडेदि ॥५०॥

प्रचलाप्रचलोदयेन लाला वहन्ति, पुनः अङ्गानि चलन्ति प्रचलाप्रचला निद्राके उदयतें मुखतें लाल बहे अरु सोवते अंग हाथ पांव चल्या करे ३। निद्रोदयेन गच्छन् तिष्ठति, स्थितः उपविशति पतति च, निद्राकर्मके उदय है जो सो जगाइ करि ले चलिए तो भी खड़ा होय रहे, बहुरि बैठे अरु पड़ि जाय है।

पयलुदएण य जीवो ईसुम्मीलिय सुवेदि सुत्तो वि।
ईसं ईसं जाणदि मुहुं मुहुं सोवदे मंदं ॥५१॥

प्रचलोदयेन जीवः ईषदुन्मील्य स्वपिति, प्रचलाकर्मके उदयतें जीव थोड़ी-सी आँखि खोलि सोवै। सुप्तोऽपि ईषदीषज्जानाति सोवते संते भी थोड़ी-थोड़ी जानै, मुहुर्मुहुः मन्दं स्वपिति बारंबार थोड़ा सोवै।

भावार्थ—जिस जीवके प्रचलाको उदय है सो कछू आंखि खोले सोवै, जो कोई बात करै तिसे हू जानै, अरु थोड़ा सोवै बारंबार।

यहां कोई पूछै—दर्शनावरणीयकर्म तो सो कहावै जो दर्शनको आच्छादै। निद्राकर्म दर्शनावरणीयमें गिण्या सु किस वास्ते ? ताको उत्तर-कै जब पांचोंको उदय है तब दर्शनगुण आवरण हो है, तिस वास्ते दर्शनावरणीयमें गिण्या।

अथ आधी गाथामें वेदनीयकर्मको स्वरूप कहे हैं, आधी गाथामें मोहनीयकर्मको स्वरूप कहे हैं—

दुविहं खु वेयणीयं सादमसादं च वेयणीयमिदि।
पुण दुवियप्पं मोहं दंसण-चारित्तमोहमिदि ॥५२॥

द्विविधं खलु वेदनीयम् दोय प्रकार वेदनीयकर्म जानना। सातं असातं वेदनीयमिति सातावेदनीय और असातावेदनीय। पुनः द्विविकल्पं मोहनीयम्—दर्शनमोहनीयं चारित्र-मोहनीयमिति। बहुरि दोय प्रकार मोहनीयकर्म जानना—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय इस भेदकरि। तिनमें दर्शनमोहनीय तीन प्रकार है अरु चारित्रमोहनीय पचीस प्रकार है।

अथ त्रिप्रकार दर्शनमोहके स्वरूपको कहें हैं—

बंधादेगं मिच्छं उदयं सत्तं पडुच तिविहं खु।
दंसणमोहं मिच्छं मिस्सं सम्मत्तमिदि-जाणे ॥५३॥

बन्धादेकं मिथ्यात्वम् बन्धकी अपेक्षातें दर्शनमोह अकेला मिथ्यात्वस्वरूप होई। उदयं सत्त्वं प्रतीत्य त्रिविधं खु, उदय अरु सत्ताको प्रतीति करि तीन प्रकार है निश्चय करि। तद्दर्शन-मोहं मिथ्यात्वं मिश्रं सम्यक्त्वं इति त्रिविधं जानीहि। सो दर्शनमोह मिथ्यात्व १ मिश्र २ सम्यक्त्व ३ इन भेदकरि तीन प्रकार जानहु।

भावार्थ—जब दर्शनमोह बंधे, तब एक मिथ्यात्वरूप होय बंधे है। जब उदय हो है तब तीन प्रकार होइ परिणमै है। अरु सत्ताकी अपेक्षा तीन प्रकार है। जिस कर्मके उदय वीतराग-प्रणीत मार्गतें विमुहे, अरु सप्त तत्त्वको श्रद्धा नहीं करे है, अरु हिताहित विचारनेको असमर्थ है सो मिथ्यात्व कहिए। अरु जिसके उदय मिथ्यात्व अरु सम्यक्त्वरूप परिणाम समकाल वेदै सो मिश्रमिथ्यात्व कहिए। जिसके उदय वीतराग-प्रणीत तत्त्वको तो यथावत् श्रद्धा करे, परन्तु कछू भेद राखे कै पार्श्वनाथकी पूजातें संकट टलै हैं, शान्तिनाथकी पूजातें शान्ति हो है; इस जातिका कहुं कहुं भेद राखै तिसका नाम सम्यक्त्वप्रकृतिमिथ्यात्व कहिए है।

अथ दृष्टान्त कहिए है—

जंतेण कोद्दवं वा पढमुवसमसम्मभावजंतेण।
मिच्छादव्वं तु तिहा असंखगुणहीणदव्वकमा ॥५४॥

यन्त्रेण कोद्रवं वा जैसे चाकी करि कोदों दल्या संता तीनि प्रकार हो है, तथा प्रथमो-पशमसम्यक्त्वभावयन्त्रेण मिथ्यात्वद्रव्यं त्रिधा भवति तैसे ही प्रथम उपशमसम्यक्त्वरूप जु है भाव सोई भया यंत्र तिसकरि मिथ्यात्वद्रव्य तीन प्रकार है। भावार्थ—जब प्रथम उपशम-सम्यक्त्व हो है तब मिथ्यात्वद्रव्य तीन प्रकाररूप होय परिणमै है-मिथ्यात्व १ मिश्रमिथ्यात्व २

सम्यक्त्वमिथ्यात्व ३ इन तीन रूप होय परिणमै है। कीदृशं त्रयम्? असंख्यातगुणहीन-द्रव्यक्रमात्। असंख्यातगुणहीन है द्रव्यकर्म जिनके। भावार्थ—मिथ्यात्व द्रव्यतें असंख्यातगुणहीन मिश्रमिथ्यात्व है, मिश्रतें असंख्यातगुणहीन सम्यक्त्वमिथ्यात्व जानना। इस भाँति इन तीन्योंमें परस्पर भेद है।

अथ चारित्र मोहनीयको स्वरूप कहै हैं—

दुविधं चरित्तमोहं कसायवेयणीय णोकसायमिदि।
पढमं सोलवियप्पं विदियं णवभेयमुद्दिट्ठं ॥५५॥

द्विविधं चारित्रमोहं दोय प्रकार चारित्रमोह जानना। कषायवेदनीयं नोकषायवेदनीयम् एक कषायवेदनीय अरु दूजा नोकषायवेदनीय। जिस मोहकर्मके उदय सोलह कषाय वेदिए सो कषायवेदनीय कहिए। अरु जिसके उदय नोकषाय वेदह सो नोकषायवेदनीय कहिए। प्रथमं षोडशविकल्पम् चारित्रमोहनीय सोलह प्रकार है। द्वितीयं नवभेदमुद्दिष्टम् दूसरी जु है नोकषायवेदनीय सो नव प्रकार है।

अथ सोलह प्रकार कहिए है—

अणमप्पच्चक्खाणं पच्चक्खाणं तहेव संजलणं।
कोहो माणो माया लोहो सोलस कसायेदे ॥५६॥

अनन्तानुबन्धी क्रोध अनन्तानुबन्धी मान अनन्तानुबन्धी माया अनन्तानुबन्धी लोभ तथैव अप्रत्याख्यान क्रोधमानमायालोभाश्चत्वारः। तथैव प्रत्याख्यानक्रोधमानमायालोभाश्चत्वारः। तथैव संज्वलनचतुष्क जानना। इस ही भांति सोलह प्रकार जानना।

आगे चार प्रकार क्रोधके स्वरूपको कहै हैं—

सिल-पुढविभेद-धूली-जलराइसमाणओ हवे कोहो।
णारयतिरियणरामरगईसु उप्पायओ कमसो ॥५७॥

शिला-पृथ्वीभेद-धूलि-जलराजिसमानः क्रोधः शिलाभेद भूमिभेद धूलिरेखा जलरेखा समान जु क्रोध सो क्रमशः नारकतिर्यक्नरामरगतिषु उत्पादको भवति।

भावार्थ—पाषाणरेखासमान उत्कृष्टशक्तिसंयुक्त अनन्तानुबन्धी क्रोध जीवको नरकविषें उपजावै है। हलकरि कुवा जु है भूमिभेद तिस समान मध्यम शक्तिसंयुक्त अप्रत्याख्यान क्रोध तिर्यंचगतिको उपजावै है। धूलिरेखासमान अजघन्य शक्तिसंयुक्त प्रत्याख्यान क्रोध जीवको मनुष्यगति उपजावै है। जलरेखासमान जघन्य शक्तिसंयुक्त संज्वलन क्रोध देवगतिविषें उपजावै है।

अथ मानके स्वरूपको कहै हैं—

सिल-अट्ठि-कट्ठ-वेत्ते णियभेएणणुहरंतओ माणो।
णारयतिरियणरामरगईसु उप्पायओ कमसो ॥५८॥

शिलास्थिकाष्ठवेत्रसमानिकभेदैः अनुहरन् मानः पाषाणस्तम्भ अस्थिस्तम्भ काष्ठस्तम्भ वेत्रस्तम्भ इन समान जु है अपने भेद तिनहु करि उपमीयमान जु है अपने भेद सो जीव नारकतिर्यक्नरामरगतिषु उत्पादयति।

भावार्थ—पाषाणस्तम्भसमान उत्कृष्ट शक्तिसंयुक्त अनन्तानुबन्धी मान जीवको नरकगतिविषें उपजावै है। अस्थिस्तम्भ समान मध्यमशक्ति संयुक्त अप्रत्याख्यान मान जीवको तिर्यंचगतिविषें उपजावै है। काष्ठस्तम्भसमान अजघन्य शक्तिसंयुक्त प्रत्याख्यान मान जीवको मनुष्यगतिविषें उपजावे है। वेंतसमान जघन्य शक्तिसंयुक्त संज्वलन मान जीवको देवगतिविषें उपजावे है।

अथ चार प्रकार मायाके स्वरूपको कहै हैं—

वेणुवमूलरब्भयसिंगे गोमुत्तए य खोरुप्पे।
सरिसी माया णारयतिरियणरामरगईसु खिवदि जियं ॥५९॥

वेणुपमूलोरभ्रकशृङ्गगोमूत्रक्षुरप्रसदृशी माया बांसविडा समान उत्कृष्टशक्तिसंयुक्त अनन्तानुबन्धीमाया जीवको नरकगतिविषें उपजावै है। अजाशृंगसमान मध्यमशक्तिसंयुक्त अप्रत्याख्यानमाया जीवको तिर्यंचगतिविषें उपजावै है। गोमूत्रसमान अजघन्यशक्तिसंयुक्त प्रत्याख्यानमाया जीवको मनुष्यगतिविषें उपजावे है। क्षुरप्रसमान जघन्यशक्तिसंयुक्त संज्वलनमाया जीवको देवगतिविषें उपजावे है।

अथ चार प्रकार लोभके स्वरूपको कहै हैं—

किमिराय-चक्क-तणुमल-हलिद्दराएण सरिसओ लोहो।
णारयतिरिक्खमाणुसदेवेसुप्पायओ कमसो ॥६०॥

कृमिराग-चक्र-तनुमल-हरिद्रारागैः सदृशः लोभः कृमिराग किरमजीरंग, चक्रमल गाडीका पइएका मल, तनुमल, शरीरमल, हरिद्राराग हलदरंग इन समान जु है लोभ सो जीवको चतुर्गत्युत्पादकः क्रमतः।

भावार्थ —अनन्तानुबन्धी लोभ किरमजी रंग समान जीवको नरकगतिविषें उपजावे है। अप्रत्याख्यान लोभ चक्रके मल समान तिर्यंचगतिविषें उपजावै है। प्रत्याख्यान लोभ शरीरमल समान जीवको मनुष्यगतिविषें उपजावे है। संज्वलनलोभ हलदरंगसमान जीवको देवगतिविषें उपजावे है।

अथ निरुक्तिपूर्वक कषायको अर्थ कहै हैं—

सम्मत्त-देस-सयलचरित्त-जहखादचरणपरिणामे।
घादंति वा कसाया चउ-सोल-असंखलोगमिदा ॥६१॥

सम्यक्त्व-देश-सकलचारित्र-यथाख्यातचरणपरिणामान् कषन्ति घ्नन्ति वा कषायाः। सम्यक्त्वपरिणाम देशसंयमपरिणाम सकलसंयमपरिणाम यथाख्यातपरिणाम इस चार प्रकार चारित्रपरिणामहुको आच्छादै हैं तातें कषाय कहिए है। सम्यक्त्वके परिणामहुको अनन्तानुबन्धी आच्छादै, अप्रत्याख्यान अणुव्रतको आच्छादै, प्रत्याख्यान महाव्रतको आच्छादै, संज्वलन यथाख्यातको आच्छादै। जातें जीवके गुणको विनाशैं, तातें ए कषाय कहिए। एते चतुः-षोडश-असंख्यातलोकमिताः, ए कषाय चार प्रकार है—अनन्तानुबन्धी १ अप्रत्याख्यान २ प्रत्याख्यान ३ संज्वलन ४ इन भेद करि। बहुरि सोलह प्रकार है १६—अनन्तानुबन्धी आदिसों क्रोध मान माया लोभके लगाएतें। बहुरि एई कषाय असंख्यात लोकप्रमाण हैं—जातें एक-एक कषाय असंख्याते असंख्याते प्रकार है—तीव्र तीव्रतर, मध्यम मध्यमतर, मन्द मन्दतर इत्यादि भेदहु करि। अरु जो अनन्त जीवहुको अपेक्षा देखिए तो अनन्तानन्त

प्रकार है एई कषाय जातें किस ही जीवके परिणाम किस ही जीवको सर्वथा प्रकार नहीं मिले हैं, तातें परिणाम-भेदतें कषाय-भेद अनन्तानन्त भए।

अथ नव नोकषाय कहे हैं—

हस्स रदि अरदि सोयं भयं जुगुंच्छा य इत्थि-पुंवेयं।
संढं वेयं च तहा णव एदे णोकसाया य ॥६२॥

हास्यं रतिः अरतिः शोकं भयं जुगुप्सा स्त्रीवेदं पुंवेदं नपुंसकवेदं च तथा नव एते नोकषाया ज्ञेयाः।

भावार्थ—जिसके उदय हास्य प्रगटे सो हास्य कहिए। जाके उदय इष्टविषें प्रीति सो रति। जो इष्टविषें अप्रीति सो अरति। जिसके उदय उदासीनता सो सोक। अरु जाके उदय अपने दोष आच्छादे पर-दोष प्रगट करे सो जुगुप्सा। जाके उदय स्त्रीके भाव परिणमै सो स्त्रीवेद। जाके उदय पुरुषभाव परिणमै सो पुरुषवेद। जाके उदय नपुंसक भाव परिणमै सो नपुंसकवेद।

आगे तीन वेदके लक्षण कहे हैं—

छादयदि सयं दोसे णियदो छाददि परं पि दोसेण।
छादणसीला जम्हा तम्हा सा वण्णिदा इत्थी ॥६३॥

यस्मात् या स्वयं दोषैः आच्छादयनि जिस कारणतें जो जीव आपको मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, असंयम, क्रोध मान माया लोभ इत्यादि सूक्ष्म स्थूल परिणामहु करि आच्छादे स्वयं, बहुरि नियतः परं अपि दोषैः छादयति निश्चयकरि और जीवको भी कोमल स्नेह दृष्टि इत्यादि कुटिल अवस्थाकरि वशि करिके हिंसा असत्य स्तेय कुशील परिग्रहादिक पापहुविषै लगायकरि दोपहु करि आवरे, तस्मात् सा छादनशीला स्त्री वर्णिता। तातें सो आच्छादन स्वभाव धारे सो स्त्रीवेद है।

भावार्थ—जो आपको दोषनिकरि आच्छादे, अरु और को भी; सो द्रव्यपुरुष वा द्रव्य-नपुंसक वा द्रव्यस्त्री होय। लिंग दोय प्रकार है—एक द्रव्यलिंग, एक भावलिंग। द्रव्यलिंग सो कहावे जिस बाह्य लक्षणकरि पुरुषलिंग-संस्कार नपुंसक मिश्रत्व संस्कार इति द्रव्यलिंग। भावलिंग जु है परिणामहुकरि जिसके जैसे परिणाम होय, तिसको तैसे वेद कहिए। तिसतें जाको आच्छादन स्वभाव होय सो भाव-स्त्रीवेद कहिए।

आगे भावपुरुष कहिए है—

पुरुगुणभोगे सेदे करेदि लोयम्हि पुरुगुणं कम्मं।
पुरु उत्तमो य जम्हा तम्हा सो वण्णिदो पुरिसो ॥६४॥

यस्मात् पुरुगुणभोगान् शेते जिसतें पुरुगुण जु हैं बड़े-बड़े गुण ज्ञान दर्शन चारित्रादि, अरु बड़े ही भोग जिन विषें प्रवर्तें हैं, लोके पुरुगुणं कर्म करोति अरु जिसतें लोकविषें बड़े गुण-संयुक्त क्रियाको करे है, पुरु उत्तमः, औरनितें बड़ा है उत्तम है, तस्मात् स पुरुषः वर्णितः, तिसतें सो पुरुष कहिए है।

भावार्थ—जो बड़े गुण बड़े भोग-प्रधान क्रियाविषें प्रवर्तें सो द्रव्यलिंग होय, वा स्त्री वा पुमान् वा नपुंसक होय सो भावपुरुषवेद कहिए।

आगे भावनपुंसक कहिए है—

णेवित्थी णेव पुमं णउंसवो उहयलिंगवदिरित्तो ।
इट्ठावग्गिसमाणयवेयणगरुओ कलुसचित्तो ॥६५॥

यः नैव स्त्री नैव पुमान् स नपुंसकः, जो नाहीं स्त्री नाहीं पुरुष सो नपुंसक कहिए। कैसा है नपुंसक ? उभयलिङ्गव्यतिरिक्तः, पूर्व ही कहे स्त्री-पुरुषके दोय प्रकार लक्षण तिनतें रहित है। पुनः कीदृशः ? इष्टकाग्निसमानः पजाएको आगि-समान है, सदा उस्वासादि करि हृदय-मध्य जला करे है। पुनः वेदनागुरुकः, कामकी पीड़ा करि पूर्ण है। पुनः किम् ? कलुषितचित्तः, कलंकित मन है।

भावार्थ—जो इन लक्षण-संयुक्त है सो पुरुष होय, वा स्त्री वा संढ द्रव्य, नपुंसक-वेदी कहिए।

आगे आयुकर्म चार प्रकार है—

णारयतिरियणरामर-आउगमिदि चउविहो हवे आऊ ।
णामं वादालीसं पिंडापिंडप्पमेएण ॥६६॥

नारकतिर्यङ्नरामरायुष्यमिति चतुर्विधं आयुर्भवेत्, नरक-आयु, तिर्यच-आयु, मनुष्य-आयु, देवायु इस प्रकार करि आयुकर्म चार प्रकार है। पिण्डापिण्डप्रभेदेन नामकर्म द्वाचत्वारिंशद्विधम्, पिण्ड-अपिण्ड प्रकृतिनिके भेदकरि नामकर्म बयालीस प्रकार है।

भावार्थ—नामकर्ममें कई एक पिण्डप्रकृति है, तिनके भेदकरि बयालीस प्रकार है। अर जुदी-जुदी जो गणिए तो तेराणवै होइ।

आगे प्रथम ही पिण्डप्रकृति कहिए है—

णेरइय-तिरिय-माणुस-देवगइ त्ति हवे गई चदुधा ।
इगि-वि-ति-चउ-पंचक्खा जाई पंचप्पयारेदे ॥६७॥

नारक-तिर्यङ्-मनुष्य-देवगतिः इति गतिः चतुर्धा भवेत्, जिस कर्मके उदय चार गतिनिको प्राप्ति होय सो गतिनामकर्म कहिए। एक-द्वि-त्रि-चतुः-पञ्चाक्षा इति जातिः पञ्च-प्रकारा भवेत्। एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय पञ्चेन्द्रिय इस प्रकार करि जातिनाम-कर्म पंच प्रकार है।

भावार्थ—जिस कर्मके उदय एकेन्द्रियादि पंचेन्द्रिय प्रकार जीव होहि, सो पंच प्रकार जातिनामकर्म कहिए।

ओरालिय-वेगुव्विय-आहारय-तेज-कम्मण सरीरं ।
इदि पंच सरीरा खलु ताण वियप्पं वियाणाहि ॥६८॥

औदारिक-वैक्रियिकाहारक-तैजसकार्मणशरीराणि इति खलु पञ्च शरीराणि भवन्ति।

भावार्थ—जिस कर्मके उदय पंच प्रकार शरीर होय सो शरीरनामकर्म कहिए। तेषां विकल्पं जानीहि। तिनि पंच प्रकार शरीरनिके भेद अगली गाथामें जानना।

तेजा-कम्मेहि तिए तेजा कम्मेण कम्मणा कम्मं ।
कयसंजोगे चदुचदु चदुदुग एक्कं च पयडीओ ॥६९॥

तैजस-कार्मणाभ्यां अये संयोगे कृते सति चतस्रः चतस्रः प्रकृतयः, औदारिक वैक्रियिक आहारक इन तीन शरीरविषें तैजस-कार्मणकरि संयोग किये संते चार-चार प्रकृति होय हैं।

भावार्थ—औदारिक वैक्रियिक आहारक इन शरीरनिको तैजस-कार्मणसों लगाइए तो बारह शरीरके भेद होइ हैं—औदारिक-औदारिक १ औदारिक-तैजस २ औदारिक-कार्मण ३ औदारिक-तैजस-कार्मण ४। वैक्रियिक-वैक्रियिक १। वैक्रियिक-तैजस २। वैक्रियिक-कार्मण ३ वैक्रियिक-तैजस-कार्मण ४। आहारक-आहारक १। आहारक-तैजस २। आहारक-कार्मण ३। आहारक-तैजस-कार्मण ४।

तैजस कार्मणेन संयोगे कृते सति द्वे प्रकृती। तैजस कार्मणके साथ संयोग करनेपर दोय प्रकृति होय हैं—तैजस-तैजस १। तैजस-कार्मण २। कार्मणेन संयोगे कृते सति एका प्रकृतिः कार्मण-कार्मण १। एवं शरीरस्य पञ्चदश भेदा भवन्ति। इस प्रकार शरीरनिके पंचदश भेद जानहु। औदारिक-औदारिक, वैक्रियिक-वैक्रियिक, आहारक-आहारक, तैजस-तैजस, कार्मण-कार्मण इन पंच भेदनिको छांडि दश भेद तिरानवै प्रकृतिमें मिलाइए तो एक सौ तीन भेद होय। जातें तिरानवे प्रकृतिमैं औदारिकादि पुनरुक्त ते न गिण्या, यातें एक सौ तीन नामकर्मके भेद जानने।

भावार्थ—जो चक्रवर्ती भोग-निमित्त और औदारिकशरीरको करै सो औदारिक-औदारिकशरीर कहिए १। औदारिकशरीर-संयुक्त मुनि जब तैजस पुतला निकासे तहाँ औदरिक-तैजस कहिए २। जब मरण-समय आत्मप्रदेश निकासे और गति स्पर्शनेको अपने औदारिकशरीरके ग्रहे संते तब औदारिक-कार्मण कहिए ३। औदारिक-संयुक्त मुनिके तैजस-शरीरको निकासनेको अपर शरीर साथ ही कार्मण शरीर जब निकसै, तहाँ औदारिक-तैजस-कार्मण कहिए ४। देव-नारकीके अपने वैक्रियिकशरीरतें और विकुर्वणा जु करे क्रीड़ानिमित्त, शत्रुमारण-निमित्त सो वैक्रियिक-वैक्रियिक कहिए ५। देव वा नारकी बहुत क्रोधके वशतें तैजसरूप आत्म-प्रदेशनिको बाहिरै निकासे, तहां वैक्रियिक-तैजस कहिए ६। देव वा नारकी मरण-समय और गति स्पर्शनेको आत्म-प्रदेश निकासे अपने वैक्रियिकशरीरको ग्रहे संते, तहां वैक्रियिक-कार्मण कहिए ७। देव वा नारकी बहुत क्रोध-वशतें जब तैजसरूप आत्मप्रदेश कार्मणरूप आत्म-प्रदेशसंयुक्त निकसै, तहां वैक्रियिक-तैजस-कार्मण कहिए ८। मुनीश्वरको पदार्थ-सन्देह दूर करण-निमित्त जु आहारक पुतला निकसै है सो जहां जाय, तहां जो केवली न पावे, तब ओही आहारक और आहारकपुतलाको निकासे केवलीके दर्शनको; तहां आहारक-आहारक कहिए ९। संदेह दूर करण-निमित्त निकस्यो जु आहारक सु मार्गमें उपसर्गवन्त मुनिको देखिके तिसके सुखीकरण-निमित्त शुभतैजस करै; तहां आहारक-तैजस कहिए १०। जहां मुनिके आहारकरूप आत्माके प्रदेश साथि कार्मणरूप प्रदेशनिकसें, तहाँ आहारक-कार्मण कहिए ११। जहां मुनिके शरीरतें निकसो जु आहारक सु किस ही एकको दुखी देखिके तिसके सुखीकरण-निमित्त तैजस करे तिस तैजसके साथ ही कार्मणरूप आत्म-प्रदेश निकसे, तहां आहारकतैजस-कार्मण कहिए १२। शत्रु मित्र न पावे तब ही तैजस और तैजस करे तहां तैजस-तैजस कहिए १३। मुनिशरीरतें निकसे जु कार्मणप्रदेश संयुक्त आहारक तैजस-शरीरतें आहारकतें और आहारक तैजसतें और तैजस जब करे तहां तैजस-कार्मण कहिए १४। अरु कार्मण कहिए…………। एवं पंचदस प्रकार शरीरनिके भेद जानने।

आगे पंचबन्धन कहे हैं—

पंच य सरीर बंधणणामं ओराल तह य वेउव्वं।
आहार तेज कम्मण सरीरबंधण सुणाममिदि ॥७०॥

पञ्चैव शरीरबन्धनम बन्धननामकर्म पंच प्रकार जानहु। सो कौन कौन ? औदारिक-वैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणबन्धनमिति नामकर्मणः।

भावार्थ—जिस नामकर्मके उदयतें पंच प्रकार शरीर-योग्य वर्गणाहुको परस्पर जीवसों बन्ध होय सो बन्धन कहिए। सो पंच प्रकार शरीरबन्धन जानहु।

आगें पंच प्रकार संघातनामकर्म कहे हैं—

पंच संघादणामं ओरालिय तह य जाण वेउव्वं।
आहार तेज कम्मणसरीरसंघादणाममिदि ॥७१॥

पंचप्रकारं संघातनामकर्म जानीहि, पंच प्रकार संघातनामकर्म जानहु। औदारिकं तथैव वैक्रियिकं आहारकं तैजसं कार्मणं शरीरसंघातनामकर्मेति। औदारिकसंघात वैक्रियिकसंघात आहारकसंघात तैजससंघात कार्मणसंघात यहु पंचप्रकार नामकर्म जानहु।

भावार्थ—जिस नामकर्मके उदयकरि पंचप्रकार शरीर-योग्य वर्गणा परस्पर जीवसों अत्यन्त सघन विवर-रहित एकमेक होहि बैठे सो संघात नामकर्म पंचप्रकार कहिए। जो कोई पूछे कै बंधन-संघातमें भेद कहा ? ताको उत्तर—कै बन्धन तो सो जु औदारिकादि शरीरनि वर्गणाहुको अत्यन्त सघन होय करि बन्ध नाहीं होय। अरु अत्यन्त सघन विवर-रहित औदारिकादि वर्गणाहुको जा बन्ध होहि सो संघात कहिए। बंधन-संघातमे यह भेद है।

आगे षट्प्रकार संस्थाननामकर्म कहिए है—

समचउरं णिग्गोहं सादी कुज्जं च वामणं हुंडं।
संठाणं छब्भेयं इदि णिद्दिट्ठं जिणागमे जाण ॥७२॥

जिनागमे इति निदिष्टं षट्भेदं संस्थानं जानीहि, सिद्धान्तविषें यह छह प्रकार संस्थान-नामकर्म दिखाया है। सु कौन-कौन ? समचतुरस्रं न्यग्रोधं स्वातिकं कुब्जं वामनं हुण्डकमिति। समचतुरस्रसंस्थान न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान स्वातिकसंस्थान कुब्जकसंस्थान वामनसंस्थान हुण्डकसंस्थान यह छह प्रकार संस्थानकर्म जानहु।

भावार्थ—जिस नामकर्मके उदयकरि औदारिकादिशरीरहुकी आकृति होय सो षट्प्रकार संस्थान कहिए। सर्वांग शुभलक्षणसंयुक्त अरु सुन्दर जो होय सो समचतुरस्र-संस्थान कहिए १। जो शरीर ऊपरतें विस्तीर्ण होय, तलेतें संकुचित होय सो न्यग्रोधपरि-मण्डलसंस्थान कहिए २। जो शरीर तलेतें विस्तीर्ण होय, अरु ऊपरतें संकुचित होय सो स्वातिक संस्थान कहिए ३। वामइ कैसी आकृति होय सो इस शरीरको नाम बाल्मीकि कहिए। जो शरीर सब जांगेतें छोटा होय सो वामन कहिए ४। जिस शरीरमें हाथ पाँव शिर दीर्घ होय अरु पिण्ड छोटा होय सो कुब्जकसंस्थान कहिए ५। जो शरीर सब जांगा गठीला होय पत्थरहुकी भरी गौण कीसी नाई सो हुण्डकसंस्थान कहिए ६।

अथ तीन प्रकार आङ्गोपाङ्ग कहे हैं—

ओरालिय वेगुव्विय आहारय अंगुवंगमिदि भणिदं।
अंगोवंगं तिविहं परमागमकुसलसाहूहिं ॥७३॥

परमागम कुशलसाधुभिः आङ्गोपाङ्गं त्रिविधं भणितम् परमागम जु है द्वादशाङ्ग सिद्धान्त तिस विषें प्रवीण जु हैं मुनि तिनहुते आङ्गोपाङ्गनामकर्म तीन प्रकार कहो है सो औदारिकवैक्रियिकाहारकाङ्गोपाङ्गमिति।

भावार्थ—जिस कर्मके उदय करि दोय चरण दोय हाथ नितम्ब पीठ उर अरु शिर ये अष्ट अंग होय, अरु अंगुलि कर्ण नासिका नेत्रादि उपांग होय, सो आंगोपांग नामकर्म कहिए। जातें तीन शरीरमें अंग अरु उपांग पाइए। तैजस अरु कार्मण इन दोनोंको अंग अरु उपांग नांहीं, तातें तीन प्रकार होइ।

आगे गाथामें आंगोपांग कहे हैं—

णलया बाहू य तहा णियंब पुट्ठी उरो य सीसो य।
अट्ठेव दु अंगाइं देहे सेसा उवंगाइं ॥७४॥

देहे अष्टौ एव अङ्गानि सन्ति। शरीरमें आठ ही अंग होते हैं। ते कवन ? नलकौ तथा बाहू नितम्बः पृष्ठः उरः शीर्षः दोनों पांव, दोनों हस्त, नितम्ब, पीठ, छाती, अरु शिर ये आठ अंग जानहु। नु देहे शेषाणि उपाङ्गानि। बहुरि इन अष्टांगनिते जु शेष अवर ते अंगुलि, कर्ण, नासिका नेत्रादि ते उपांग कहिए।

आगे दोय प्रकार विहाय नामकर्म कहे हैं—

दुविहं विहायणामं पसत्थ अपसत्थगमणमिदि णियमा।
वज्जरिसहणारायं वज्जं णाराय णारायं ॥७५॥

द्विविधं विहायोगतिनामकर्म। विहायोगतिनामकर्म दोय प्रकार है। ते सु कौन-कौन ? प्रशस्ताप्रशस्तगमनमिति नियमात्। प्रशस्तगमन और अप्रशस्तगमन ये दोय प्रकार निश्चयतें जानहु।

भावार्थ—जिस कर्मके उदय जीव विहाय कहिए आकाश तिसविषें गमन करे सो विहायोगतिनामकर्म कहिए। जो भली चालि होय सो प्रशस्तगति कहिए। जो बुरी चालि होय सो अप्रशस्तगति कहिए। अथ अर्धगाथामें षट् संहनन कथ्यते—वज्रवृषभनाराच वज्रनाराच नाराच।

अगली गाथामें और तीन संहनन कहे हैं—

तह अद्धं णारायं कीलिय संपत्तपुव्वसेवट्टं।
इदि संहडणं छव्विहमणाइणिहणारिसे भणिदं ॥७६॥

तथैव अर्धनाराचं कीलकं असम्प्राप्तासृपाटिकासंहननं इति षड्विधं संहननं अनादिनिधनार्षे भणितम्। तथा अर्धनाराच, कीलक और असम्प्राप्तासृपाटिकासंहनन। यह छह प्रकार संहनन अनादि अनन्त जु है द्वादशाङ्ग सिद्धान्त तिसविषें कहा है।

भावार्थ—जिस कर्मके उदय ये छह संहनन होंय, सो संहनन नामकर्म कहिए है।

आगे इन षट्संहननको स्वरूप छह गाथामें कहे हैं—

जस्स कम्मस्स उदए वज्जमयं अट्ठि रिसह णारायं।
तं संहडणं भणियं वज्जरिसहणारायणाममिदि ॥७७॥

यस्य कर्मण उदये वज्रमयानि अस्थि-ऋषभ-नाराचानि भवन्ति जिस कर्मके उदय होते संते वज्रमय अतिदुर्भेद्य अस्थि कहिए हाड, ऋषभ कहिए वेष्टन, नाराच कहिए कीले ए होहिं, तत्संहननं वज्रर्षभनाराचनाम इति भणितम्। सो वज्रर्षभनाराच संहनन कहिए है।

भावार्थ—जिस कर्मके उदय वज्रमय अस्थि होय, अरु उन ही अस्थिनि ऊपर वज्रमय वेष्टन होय, अरु उन ही हाडनिविषें वज्रमय कीले होय, सो वज्रर्षभनाराचसंहनन जानना।

अथ वज्रनाराचसंहनन कहे हैं—

> जस्सुदये वज्जमयं अट्ठी णारायमेव सामण्णं।
> रिसहो तस्संहडणं णामेण य वज्जणारायं ॥७८॥

यस्योदये वज्रमयं अस्थि, नाराचं सामान्यः ऋषभः जिस कर्मके उदय संते वज्रमई हाड अरु कील होइ अरु ऋषभ सामान्य होय, वज्रमई न होय, तत्संहननं नाम्ना वज्रनाराचम्। वह संहनन वज्रनाराच कहिए।

भावार्थ—जिस कर्मके उदय वज्रमई हाड होय, अरु हाडनिविषें वज्रमई कील हैं; हाडनिके ऊपर वज्रमई वेठन न होइ सो वज्रनाराच कहिए।

आगे नाराचसंहनन कहिए हैं—

> जस्सुदये वज्जमया हड्डा वो वज्जरहिदणारायं।
> रिसहो तं भणियव्वं णारायसरीरसंहडणं ॥७९॥

यस्योदये वज्रमया हड्डाः वज्ररहितौ नाराच-ऋषभौ जिस कर्मके उदय वज्रमई हाड होय, नाराच अरु ऋषभ ये वज्रनें रहित होय; तत् नाराचसंहननं भणितव्यम्, वह नाराच-संहनन कहना चाहिए।

आगे अर्धनाराचसंहनन कहिए हैं—

> वज्जविसेसणरहिदा अट्ठीओ अद्धविद्धणारायं।
> जस्सुदये तं भणियं णामेण य अद्धणारायं ॥८०॥

यस्योदये वज्रविशेषणरहितानि अर्धनाराचानि अस्थीनि भवन्ति जिस कर्मके उदय वज्रविशेषणतें रहित अरु अर्ध है नाराच कील जिन विषें ऐसे हाड होहिं तन्नाम्ना अर्धनाराचं भणितम्, उसका नाम अर्धनाराच कहिए है।

भावार्थ—जिस कर्मके उदय शरीर विषें वज्रतें रहित हाड होय, कील भी वज्रतें रहित होय; परन्तु कील-हाड़हुकी सन्धि विषें आधी वेधी होहिं सो अर्धनाराचसंहनन कहिए।

अथ कीलकसंहनन कहे हैं—

> जस्स कम्मस्स उदये अवज्जहड्डाइं खीलियाइं व।
> दिढबंधाणि हवंति हु तं कीलियणामसंहडणं ॥८१॥

यस्य कर्मण उदये दृढबन्धानि कीलितानि इव अवज्रास्थीनि भवन्ति, जिस कर्मके उदय दृढ है बन्ध जिन विषें ऐसे कीले सो वज्रतें रहित हाड होहिं; तत् कीलकनामसंहननम् वह कीलकनाम संहनन कहावे है।

भावार्थ—जिस शरीर विषे हाडकी सन्धिहु विषें कील तो न हो, परन्तु कील दईसी होय, अतिदृढ़ होय सो कीलकनाम संहनन कहिए है।

आगे फाटकसंहनन कहे हैं—

जस्स कम्मस्स उदये अण्णोण्णमसंपत्तहड्डसंधीओ।
णरसिरबंधाणि हवे तं खु असंपत्तसेवट्टं ॥८२॥

यस्य कर्मण उदये अन्योन्यं असम्प्राप्तहड्डसन्धयो भवन्ति, जिस कर्मके उदय परस्पर आनि मिली हाडहुकी सन्धि होय नर-शिराबद्धाः नर कहिए नले सिरा कहिए नाडी तिनकरि बंधी होय हाडकी सन्धि तत् खु असम्प्राप्तासृपाटिकम्, सो प्रकट असम्प्राप्तासृपाटिक कहिए।

भावार्थ—जिस शरीर विषें हाडहुकी सन्धि ते मिली न होय, सब हाड जुदे जुदे होहि, अरु नले नाडी इनकरि दृढ़ बंधे होंय सो फाटकशरीरसंहनन कहिए।

आगे इन शरीरहुतें कौन-कौन गति होय सो कहै हैं—

सेवट्टेण य गम्मइ आदीदो चदुसु कप्पजुगलो त्ति।
तत्तो दुजुगलजुगले कीलियणारायणद्धो त्ति ॥८३॥

सृपाटिकेन आदितः चतुःकल्पयुगलपर्यन्तं गम्यते। फाटकसंहननकरि आदितें लेकरि चार स्वर्गहुके युगपर्यन्त जाइए हैं। ततस्तु द्वियुगले कीलकनाराचाभ्याम्, तिसतें ऊपर दोय युगल अरु दोय युगलपर्यन्त कीलक अरु अर्धनाराचकरि जाइए यही क्रमकरि।

भावार्थ—फाटकसंहननवालो जो बहुत शुभ क्रिया करे तो पहलेतें लेकर आठवें स्वर्गताईं जाय। कीलकसंहननवालो पहलेतें बारहवें स्वर्गताईं जाय। अरु अर्धनाराचवालो पहलेतें लेकरि सोलहवें स्वर्गताईं जाय।

गेविज्जाणुदिसाणुत्तरवासीसु जंति ते णियमा।
तिदुगेगे संहडणे णारायणमादिगे कमसो ॥८४॥

नाराचादिकाः त्रिद्विकैकसंहननाः, जो नाराचादिक तीन दोय एक संहनन हैं, ते क्रमतः ग्रैवेयकानुदिशानुत्तरवासिषु नियमात् यान्ति, ते अनुक्रमतें नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश पंच अनुत्तरविमानहु विषें निश्चयकरि जाय हैं।

भावार्थ—नाराच, वज्रनाराच अरु वज्रर्षभनाराच इन तीनों संहननवाले जीव शुभ क्रियातें पहले स्वर्गतें लेकरि नव ग्रैवेयक ताईं जाय। वज्रनाराच अरु वज्रर्षभनाराच इन दोनों संहननवालो जीव नव अनुदिश विमानताईं जाय। वज्रवृषभनाराचसंहननवालो जीव पंच अनुत्तरविमान अरु मोक्षपर्यन्त ताईं जाय है।

सण्णी छस्संहडणो वज्जइ मेघं तदो परं चावि।
सेवट्टादीरहिदो पण-पण-चदुरेगसंहडणो ॥८५॥

षट्संहननः संज्ञी मेघां व्रजति, छह संहननसंयुक्त जु है सैनी जीव सो मेघा जु है तीसरो नरक तहाँ ताईं जाय। ततः परं चापि, तिसतें आगे सृपाटिकादिरहिताः पञ्च-पञ्च-चतुरेक-संहननाः स्फाटिकादिसंहननतें रहित जु है पंच पंच चार एक संहननतें क्रमतें क्रमतें अगले नरक ताईं जाहि। फाटकसंहनन वाले जीव पापक्रियातें तीसरे नरक ताईं जाहि।

बहुरि फाटक बिना पाँच संहननवाले जीव पंचमे नरकताईं जाहि। फाटक-कीलक बिना चार संहननवाले जीव छठे नरकताईं जाहि। पंचसंहननबिना वज्रवृषभनाराचवालो जीव सातवें नरकताईं जाहि।

घम्मा वंसा मेघा अंजण रिट्ठा तहेव अणिवज्झा।
छट्ठी मघवी पुढवी सत्तमिया माघवी णाम ॥८६॥

घर्मा वंशा मेघा अञ्जना अरिष्टा तथैव अणिवज्ञा अनुवन्ध्या षष्ठी मघवी पृथ्वी सप्तमी माघवी नाम। पहले नरकको नाम घर्मा, दूसरे नरकको नाम वंशा, तीसरे नरकको नाम मेघा, चौथेको नाम अंजना, पंचमी अरिष्टा तैसे ही अनादि कालतें लेकरि रूढ़ि नाम छठी नरकपृथ्वीका नाम मघवी कहिए, सातवीं पृथ्वीको नाम माघवी कहिए।

भावार्थ—नाम जु है सु दोय प्रकार होय—एक तो नाम सार्थक है, दूसरो रूढ़ नाम है। तिसतें इन सातहु नरकको नाम रूढ़ कहे है। जो कोई पूछै कै घर्मा नाम पहले नरकका काहेतें कहा? ताको उत्तर—कै रूढ नाम है इनको अर्थ नरकहुको नाही मिले है। ए ऐसे ही अनादिकालतें रूढ़ि नाम सिद्धान्तविषें कहे है।

मिच्छापुव्वदुगादिसु सग-चदु-पणठाणगेसु णियमेण।
पढमादियाइ छत्तिगि ओघेण विसेसदो णेया ॥८७॥

मिथ्यात्वापूर्वद्विकादिषु सप्त-चतुः-पञ्चस्थानेषु मिथ्यात्व आदिक सात गुणस्थानविषे अरु अपूर्वकरणकी दोय श्रेणी तिनविषे उपशमश्रेणीके चार गुणस्थानविषें क्षपकश्रेणीके पच गुणस्थानविषें, नियमेन प्रथमादिकाः षट्त्र्येकाः संहननाः भवन्ति, निश्चय करि अरु क्रमतें प्रथमादिक संहनन छह तीन एक होहि। ओघेन विशेषतश्च ज्ञेया, सामान्यताकरि अरु विशेषता करि। इस भाँति गुणस्थानविषें छहों संहनन जानने।

भावार्थ—पहले गुणस्थानतें लेकरि सातवें गुणस्थानताईं छहों संहनन पाइए। अपूर्वकरणविषें अनिवृत्तिकरण सूक्ष्मसाम्पराय उपशान्तकषाय इन विषें वज्रवृषभनाराच, वज्रनाराच, नाराच ये तीन संहनन पाइए। क्षपकश्रेणीमें पंच गुणस्थान—अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरण सूक्ष्मसाम्पराय क्षीणकषाय सयोगिकेवली इनविषें एक वज्रवृषभनाराच ही संहनन पाइए। इस भाँति सामान्यता करि कहे, विशेषकरि जानने।

ए छह संहनन कहां कहां पाइए यह कहै हैं—

वियलचउक्के छट्ठं पढमं तु असंखआउजीवेसु।
चउत्थे पंचम छट्ठे कमसो विय छत्तिगेकसंहडणी ॥८८॥

विकलचतुष्के षष्ठम्, द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय असेनी पंचेन्द्रिय इस विकलचतुष्कविषें स्फाटक संहनन होय। प्रथमं तु असंख्येयायुर्जीवितेषु पहलो जु है वज्रवृषभनाराचसंहनन सो जिन जीवहुकी असंख्यात वरसकी आयु है। भावार्थ—भोगभूमियां कुभोगभूमियां मनुष्य-तिर्यंच अरु मानुषोत्तर पर्वततें आगे नागेन्द्रपर्वतपर्यन्त असंख्यातद्वीपनिविषें जे तिर्यंच तिनकी असंख्यात वर्षनिकी आयु है तिसतें इनके वज्रवृषभनाराच प्रथम संहनन होई। चतुर्थ-पञ्चम-षष्ठेषु षट्-त्र्येकसंहननानि भवन्ति, चतुर्थकालविषें छहों संहनन होय। पंचमकालविषें अर्धनाराच कीलक स्फाटक ए तीन्यों संहनन होय। छठे कालविषें स्फाटिक ही एक संहनन होय।

सव्वविदेहेसु तहा विज्जाहर-मिलिच्छ मणुय-तिरिएसु ।
छस्संहडणा भणिया णगिंदपरदो य तिरिएसु ॥८६॥

सर्वविदेहेषु तथा विद्याधर-म्लेच्छमनुष्य-तिर्यक्षु षट्संहनना भणिताः, समस्त ही विदेहक्षेत्रविषें, तैसे ही विद्याधरनिविषें, म्लेच्छखंडके मनुष्य-तिर्यंचहु विषें छहों संहनन कहे हैं। नागेन्द्रपर्वतपरतः तिर्यक्षु च, नागेन्द्रपर्वततें परे तिर्यंचनिविषें भी छहों संहनन होय।

भावार्थ—मानुषोत्तरपर्वततें आगे नागेन्द्रपर्वततें उरें जितने द्वीप समुद्र हैं, तिनविषें तो वज्रवृषभनाराचसंहनन होय। परन्तु नागेन्द्र पर्वततें परें स्वयम्भूरमणसमुद्रपर्यन्त छहों संहनन जानने।

अंतिमतिगसंहडणस्सुदओ पुण कम्मभूमिमहिलाणं ।
आदिमतियसंहडणं णत्थित्ति जिणेहि णिद्दिट्ठं ॥९०॥

कर्मभूमिमहिलानां अन्तिमत्रिक संहननानां उदयोऽस्ति, कर्मभूमिके जु हैं स्त्री तिनके अन्तके तीन संहननको उदय है। भावार्थ—अर्धनाराच कीलक स्फाटिक ए तीन संहनन कर्मभूमिकी स्त्रीनिके हो हैं। पुनः तासां आदिमत्रिकसंहननं नास्ति इति जिनैर्निर्दिष्टम्। भावार्थ—कर्मभूमिकी स्त्रीनिके आदिके तीन संहनन न होय, यह वार्ता श्री वृषभनाथने दिखाई है।

आगे नामकर्मकी और प्रकृतिनिको कहे हैं—

पंच य वण्णा सेदं पीदं हरिदरुणकिण्णवण्णमिदि ।
गंधं दुविहं लोए सुगंधदुग्गंधमिदि जाणे ॥९१॥

श्वेतं पीतं हरितं अरुणं कृष्णवर्णं इति पञ्च वर्णा भवन्ति। भावार्थ—जिस कर्मके उदय शरीरनिको श्वेतादिक पंच वर्ण होहि, ते पंच वर्ण प्रकृति जानना। लोके गन्धो द्विविधः सुगन्धः दुर्गन्ध इति जानीहि। भावार्थ—जिस कर्मके उदय शरीरविषें गन्ध होय सो दोय प्रकार गन्धकर्म कहिए।

तित्तं कडुय कसायं अंबिल महुरमिदि पंचरसणामं ।
मउगं कक्कस गुरुलघु सीदुण्हं णिद्ध रुक्खमिदि ॥९२॥

तिक्तं कटुकं कषायं आम्लं मधुरं इति पञ्चप्रकारं रसनामकर्म भवति। तिक्त कहिए चिरपड़ा मिरचादि, कटुक निम्बादि, कषाय कसैला आमलादि, आम्ल खट्टा अरु सलोनां यह पंच प्रकार रसनामकर्म जानना।

भावार्थ—जिस कर्मके उदय पंच प्रकार रस होय सो रसनामकर्म कहिए। मृदु कर्कशं गुरु लघु शीतोष्णं स्निग्ध-रूक्षमिति स्पर्शनाम अष्टविकल्पं भवति। मृदु कहिए कोमल, कर्कश कठोर, गुरु भारी, लघु हलका, शीत, उष्ण, स्निग्ध चिकना और रूक्ष रूखा यह आठ प्रकार स्पर्शकर्म जानना। भावार्थ—जिस कर्मके उदय कोमलादिक ए आठ प्रकार स्पर्श होहि, सो स्पर्शनाम कहिए।

फासं अट्ठवियप्पं चत्तारि आणुपुव्वि अणुकमसो ।
णिरयाणू तिरियाणू णराणु देवाणुपुव्वि त्ति ॥९३॥

स्पर्शनाम अष्टविकल्पम् पहिली गाथामें कह्या जु स्पर्श सो आठ प्रकार है। आगै आनुपूर्वी कहिए है—नारकानुपूर्वी तिर्यंचानुपूर्वी नरानुपूर्वी देवानुपूर्वी इति चतस्रः आनुपूर्व्यः भवन्ति। भावार्थ—जिस कर्मके उदयतें जिस गतिविषें जानेवाला जीव होय, तिस गतिविषें ले जाहि सो आनुपूर्वी नाम कहिए।

एदा चउदस पिंडा पयडीओ वण्णिदा समासेण।
एत्तो अपिंडपयडी अडवीसं वण्णइस्सामि ॥६४॥

एताः चतुर्दश पिण्डप्रकृतयः समासेन वर्णिताः। ए चउदह पिंडप्रकृति संक्षेपनाकरि कहीं। अतः अष्टाविंशतिः अपिण्डप्रकृतीः वर्णयिष्यामि। भावार्थ—चउदह प्रकृतिके कहे अनन्तर अट्ठाईस प्रकार अपिंडप्रकृति आगे हम नेमिचन्द्र कहेंगे।

अगुरुलहुग उवघादं परघादं च जाण उस्सासं।
आदावं उज्जोवं छप्पयडी अगुरुछक्कमिदि ॥६५॥

अगुरुलघुकं उपघातं परघातं च उच्छ्वासं आतपं उद्योतं एताः षट् प्रकृतयः अगुरुषट्कं इति जानीहि। भावार्थ—जिस कर्मके उदय लोहके पिंडकी नाईं न तो तले ही गिरे, और अर्कतूलकी नाईं ऊपरको जाय नाहीं सो अगुरुलघु नामकर्म कहिए। जिस कर्मके उदय आत्मघातको करे ऐसे बड़े सींग, बड़े स्तन, भारी उदर इत्यादि दुःखदाई अंग होहि सो उपघातकर्म कहिए। जिस कर्मके उदय और जीवको घात करे, ऐसे शृंग नख डाढ इत्यादि अंग होहि, सो परघात नामकर्म कहिए। जिस कर्मके उदय उच्छ्वास होय, तो उच्छ्वासनामकर्म कहिए। आतप अरु उद्योत इन दोनोंका अर्थ आगिली गाथामें कहेगा। इन छह प्रकृतिको नाम अगुरुषट्क जानना सिद्धान्तविषें।

मूलुण्हपहा अग्गी आदावो होदि उण्हसहियपहा।
आइच्चे तेरिच्छे उण्हूणपहा हु उज्जोवो ॥६६॥

मूलोष्णप्रभः अग्निः, मूल उष्ण होत संते प्रभा उष्ण है जिसकी सो अग्नि कहिए। भावार्थ—मूल जिस विषें उष्णता है, अरु प्रकाश करे है, सो तो अग्नि कहिए। उष्णसहितप्रभः आतपः भवति, उष्णतासहित है प्रभा जिसकी सो आतप है। भावार्थ—जाको मूल तो उष्ण न होय, पर प्रभा गरम होय सो आतप कहिए। स आदित्यादिषु भवति, सो आतपनामकर्मको उदय सूर्यके बिम्बविषें है। भावार्थ—जिस कर्मका उदय मूल [शीतल] सो आतपनामकर्म सूर्यके बिम्बमें जो एकेन्द्रिय पर्याप्त पृथ्वीकाय तिर्यंच हैं, तिनविषें उदयरूप पाइए है। जातें सूर्यबिम्ब मूलते उष्ण नहीं, उष्णप्रभासंयुक्त है। इहाँ कोई प्रश्न करे है कै आतपनामकर्मके उदय तो सूर्य बिम्बविषें कह्यो तुमने, अग्निविषें उष्णता अरु प्रकाश यह किस कर्मके उदय है? ताको उत्तर—कै थावरनामकर्म जु है सो पंच प्रकार है पृथ्वीकायादिभेदकारि। तिनमें अग्निकाय नामकर्म है, तिस कर्मके उदयकरि अग्निविषें उष्णता अरु प्रकाश है। उष्णरहितप्रभ उद्योतः, उष्णतारहित प्रभा जिसकी सो उद्योत कहिए। भावार्थ—जिसकर्मके उदय गरमरहित प्रभा होय, सो उद्योतनाम प्रकृति कहिए। सो उद्योत चन्द्रबिम्बके पृथ्वीकाय एकेन्द्रिय तिर्यंचनिविषें पाइए, अरु जुगणूविषें पाइए।

तस थावरं च बादर सुहुमं पज्जत्त तह अपज्जत्तं ।
पत्तेयसरीरं पुण साहारणसरीर थिरमथिरं ॥६७॥
सुह असुह सुहग दुब्भग सुस्सर दुस्सर तहेव णायव्वा ।
आदिज्जमणादिज्जं जसा अजसकित्ति णिमिण तित्थयरं ॥६८॥

त्रसप्रकृति १ थावरप्रकृति २ बादरप्रकृति ३ सूक्ष्म ४ पर्याप्त ५ अपर्याप्त ६ प्रत्येकशरीर प्रकृति ७ साधारणशरीरप्रकृति ८ स्थिर ९ अस्थिर १० शुभ ११ अशुभ १२ सुभग १३ दुर्भग १४ सुस्वर १५ दुःस्वर १६ आदेय १७ अनादेय १८ यशःकीर्त्ति १९ अयशःकीर्त्ति २० निर्माण २१ तीर्थंकर २२ ए बाईस प्रकृति जानना। आगे इनको अर्थ कहे हैं—जिस कर्मके उदय द्वीन्द्रियादि जातिविषें जन्म होय, सो त्रसनामकर्म कहिए। जिसके उदय एकेन्द्रियजातिविषें जन्म होय, सो थावरनामकर्म कहिए। जिस कर्मके उदय और करि घात्या जाय ऐसा थूल शरीर होय सो बादरनामकर्म कहिए। जिस कर्मके उदय और करि घात्या न जाय, सो सूक्ष्म नामकर्म कहिए। जिस कर्मके उदय आहार शरीर इन्द्रिय उच्छ्वास-निःश्वास भाषा मन ये छह पर्याप्ति होय सो पर्याप्त नामकर्म कहिए। जिस कर्मके उदय कोई पर्याप्ति पूर्ण न कर पावे, अन्तर्मुहूर्त्तकाल ताईं रहे पाछे मरे सो अपर्याप्तनामकर्म कहिए। इहाँ कोई पूछै है कै अपर्याप्त अपर्याप्त अलब्धिपर्याप्त इनके भेदकरि जीव तीन प्रकार है। अपर्याप्तनामकर्मके उदय अलब्धपर्याप्त कहिए। अपर्याप्त जीव कौन कर्मके उदय कहावे है ? यहु कहो। ताको उत्तर—कै पर्याप्तजीव भी पर्याप्त नामकर्मके उदयतें कहावै। कोई जीव पर्याप्त होना है जब ताईं उस जीवकी सब पर्याप्ति पूरी नहीं हो है तब ताईं वह जीव अपर्याप्त कहिए है। जब सब पर्याप्ति पूरी करे तब वही जीव पर्याप्त कहिए। तिसतें अपर्याप्त जीव पर्याप्त नामकर्मके उदयतें कहिए। अपर्याप्तनामकर्मके उदयतें अलब्धपर्याप्त होय है। जिसकर्मके उदयतें एक जीवके भोगको कारण एक शरीर होय सो प्रत्येकशरीरनामकर्म कहिए। जिसकर्मके उदयतें अनेक जीवहुके भोगको कारण एक शरीर होय सो साधारणनामकर्म कहिए। जिसकर्मके उदय सात धातु उपधातु अपने-अपने स्थानके विषें स्थिरताको करे सो स्थिरनामकर्म कहिए। जिसके उदय धातु-उपधातु स्थिरताको न करें सो अस्थिर नामकर्म कहिए। जाके उदय सुन्दर मनोज्ञ मस्तकादि भले अंग होय सो शुभनामकर्म कहिए। जाके उदय बुरे अंग होय सो अशुभ नामकर्म कहिए। जाके उदय सबको प्रीति उपजै, सुखवंत होय सो सुभगनामकर्म कहिए। जाके उदय सबको बुरा लागै, दुखी-दरिद्री होय सो दुर्भगनामकर्म कहिए। जा कर्मके उदय भला स्वर होय सो सुस्वरनामकर्म कहिए। जाके उदय बुरा स्वर होय सो दुःस्वर-नामकर्म कहिए। जाके उदय प्रभासंयुक्त शरीर होय सो आदेयनामकर्म कहिए। जाके उदय प्रभारहित शरीर होय, सो अनादेयकर्म कहिए। जाके उदय यश होय सो यशनामकर्म कहिए जाके उदय अपकीर्त्ति होय सो अयशनामकर्म कहिए। जा कर्मके उदय जागेकी जागे प्रमाण लिए इन्द्रियादिकहुकी सिद्धि होय सो निर्माणनामकर्म कहिए। सो निर्माणनामकर्म दोय प्रकार होय—एक स्थाननिर्माण एक प्रमाणनिर्माण। जो चक्षुरादिक इन्द्रियहुके स्थान निर्मापै सो स्थाननिर्माण कहिए। जो इन्द्रियहुके प्रमाण करे सो प्रमाणनिर्माण कहिए। जा कर्मके उदय तीर्थंकरपदकी विभूति होय सो तीर्थंकरनामप्रकृति कहिए।

आगे त्रसद्वादशक कहे हैं—

तस बादर पज्जत्तं पत्तेयसरीर थिर सुहं सुभगं ।
सुस्सर आदिज्जं पुण जसकित्ति णिमिण तित्थयरं ॥६९॥

त्रस बादर पर्याप्त प्रत्येकशरीर स्थिर शुभ सुभग सुस्वर आदेय यशःकीर्त्ति निर्माण तीर्थंकर इन बारह प्रकृतिको नाम त्रसद्वादशक सिद्धान्तविषें कह्यो है। जहाँ कहीं 'त्रस बारस' ऐसा कहें, तहाँ ए बारहु प्रकृति जाननी।

आगे स्थावरदशक कहे हैं—

थावर सुहुममपज्जत्तं साहारणसरीरमथिरं च।
असुहं दुब्भग दुस्सर णादिज्जं अजसकित्ति त्ति ॥१००॥

स्थावर सूक्ष्म अपर्याप्त साधारण अस्थिर अशुभ दुर्भग दुःस्वर अनादेय अयशःकीर्त्ति सिद्धान्तविषें इतनी प्रकृतिको नाम 'स्थावरदशक' कहिए है।

इदि णामप्पयडीओ तेणवदी उच्चणीचमिदि दुविहं।
गोदं कम्मं भणिदं पंचविहं अंतरायं तु ॥१०१॥

इति नामप्रकृतयः त्रिनवतिरुक्ताः। पिण्डके भेदकरि ए नामप्रकृति तेराणवै कही। गोत्रकर्म द्विविधं भणितम्-उच्चगोत्रं नीचगोत्रमिति, एक ऊँच गोत्र एक नीच गोत्र इस भाँति दोय प्रकार गोत्रकर्म कह्या। जिस कर्मके उदय लोकपूज्य ऊँच कुलविषें जन्म होय सो ऊँच-गोत्र कहिए। जा कर्मके उदय लोक-निन्दनीक कुलविषें जन्म होय सो नीच गोत्र कहिए। यह दोय प्रकार गोत्रकर्म कह्यो। अन्तरायकर्म पंचप्रकार है ताहि कहिए है—

तह दाण लाभ भोगुवभोगा वीरिय अंतरायमिदि णेयं।
इदि सव्वुत्तरपयडी अडदालसयप्पमा होंति ॥१०२॥

तथा दान-लाभ-भोगोपभोग-वीर्यान्तरायं इति ज्ञेयम्, यह पंच प्रकार अन्तरायकर्म जानहु।

भावार्थ—जिस कर्मके उदय दीया चाहै अरु देय न सकै सो दानान्तराय कहिए। जा कर्मके उदय लीया चाहै, पर लाभ न होय सो लाभान्तराय कहिए। जा कर्मके उदय भोग चाहे पर भोगको पावे नाहीं, सो भोगान्तराय कहिए। जा कर्मके उदय उपभोगको चाहे, पर उपभोग होय नाहीं सो उपभोगान्तराय कहिए। जा कर्मके उदय शक्तिको चाहै अरु बल न होय सो वीर्यान्तराय कहिए। इस प्रकार सर्व उत्तर प्रकृति एकसौ अड़तालीस है। सबकौ वर्णन कह्या।

आगै नामकर्महुकी प्रकृतिनिको अन्तर्भाव दिखावै हैं—

देहे अविणाभावी बंधण संघाद इदि अबंधुदया।
वण्णचउक्केऽभिण्णे गहिदे चत्तारि बंधुदया ॥१०३॥

देहे अविनाभाविनौ बन्धन-संघातौ इति अबन्धोदयौ। देह जु है पंच प्रकार नामकर्म ताके विषें बन्धन पंच प्रकार संघात पंच प्रकार अविनाभावी है, इस वास्ते इन्हें अबन्धोदय प्रकृति कहिए। भावार्थ—देह नामकर्म पंच प्रकार है, बन्धन संघात ए भी पंच प्रकार है। तिसतें जहाँ जिस देहका बन्ध उदय है तहाँ तिस देह सम्बन्धी बन्धन-संघातको बंध उदय होय है। जातें देह बन्ध उदय विना इनको बन्ध उदय न पाइए। तातें बन्धन संघातकी दश प्रकृति अबन्धोदय कहिए। इस वास्ते पंच शरीरविषें ए दश प्रकृति गर्भित भईं। वर्ण-चतुष्के अभिन्ने गृहीते चतस्रः बन्धोदयाः, वर्णचतुष्क जु है बीस प्रकृति ते अभेदविवक्षाकरि ग्रहे संते चार बन्धोदय प्रकृति कहिए।

भावार्थ—वर्णचतुष्ककी बीस प्रकृतिनिको बंध अरु उदय विषें जो भेद न करिए तो चार प्रकृति ग्रहणी, तातें सोलह प्रकृति अबन्धोदय कहिए। चार प्रकृति बन्धोदय कहिए। जातें इन चार ही प्रकृतिनिविषें सोलह प्रकृति गर्भित भईं, तातें बन्ध-उदयविषें जुदी न गिनिए, चार ही लीजे।

आगे आगली गाथामें अबन्धोदय प्रकृति कितनी, ऐसा ठीक कहै हैं—

वण्ण-रस-गंध-फासा चउ चउ इगि सत्त सम्ममिच्छत्तं।
होंति अबंधा बंधण पण पण संघाद सम्मत्तं ॥१०४॥

एताः अबन्धप्रकृतयः भवन्ति, ए अट्ठावीस प्रकृति अबन्ध हैं। कौन कौन ? वर्णाश्चत्वारः, रसाश्चत्वारः, गन्ध एकः, स्पर्शाः सप्त, सम्यग्मिथ्यात्वं, बन्धनानि पञ्च, संघाताः पञ्च, सम्यक्त्वमिति। वर्ण ४ रस ४ गन्ध १ स्पर्श ७ मिश्रमिथ्यात्व १ बन्धन ५ संघात ५ सम्यक्त्वप्रकृति १ ए अट्ठावीस प्रकृति जाननी।

भावार्थ—ए अट्ठावीस प्रकृति बन्धयोग्य प्रकृतिनि विषें नाहीं गिनी हैं तातें अबन्धप्रकृति कहिए।

बन्धयोग्य प्रकृति कितनी, यह कहै हैं—

पंच णव दोण्णि छव्वीसमवि य चउरो कमेण सत्तट्ठी।
दोण्णि य पंच य भणिया एदाओ बंधपयडीओ ॥१०५॥

एताः बन्धप्रकृतयः भणिताः। ये बन्धप्रकृतियाँ कही हैं। ते कौन कौन ? पञ्च नव द्वे षड्विंशतिः चतस्रः क्रमेण सप्तषष्टिः द्वे पञ्च। ज्ञानावरणीयकी ५ दर्शनावरणीयकी ६ वेदनीयकी २ मोहनीयकी २६ नामकी ६७ गोत्रकी २ अन्तरायकी ५ ए सर्व एकसौ वीस बन्धयोग्य कहिए।

भावार्थ—सर्व प्रकृति एक सौ अड़तालीस हैं, तिनमें बन्धप्रकृति एक सौ बीस १२० जाननी। जातें मिथ्यात्वविषें मिश्रमिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृतिमिथ्यात्व ये दोनों गर्भित हैं 'बन्धादेगं मिच्छं' इस गाथामें पूर्व ही कहेके न्यायकरि। तातें दोय प्रकृति न गिनो मोहकर्ममें बन्ध प्रकृतिनिविषें। और अभेदविवक्षाकरि पंच बन्धन, पंच संघात ये दसों प्रकृति भी बन्धप्रकृतिनिविषें नहीं गिनी। जातें पंच शरीरके बन्ध-उदय साथ ही इन दसोंका बन्ध-उदय है, तातें नामकर्ममें पंच शरीर ही विषें ये दसों प्रकृति गर्भित कही। और अभेद विवक्षाकरि वर्ण गन्ध रस स्पर्श इन चार प्रकृतिविषें वर्ण ४ रस ४ गन्ध १ स्पर्श ७ ए सोलह प्रकृति गर्भित भईं, तातें ए सोलहु प्रकृति बन्धप्रकृतिविषें नाहीं गिनी। नामकर्ममें बन्धन संघातकी १० प्रकृति, वर्ण चतुष्ककी सोलह प्रकृति इन २६ प्रकृति विना नामकर्मकी सड़सठि ६७ प्रकृति जाननी। तातें मिश्रमिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृतिमिथ्यात्व, बन्धन ५ संघात ५ वर्णचतुष्ककी १६ इन अट्ठावीस प्रकृति विना १२० प्रकृति बन्ध-योग्य जाननी।

आगे उदयप्रकृति कितनी यह कहै हैं—

पंच णव दोण्णि अट्ठावीसं चउरो कमेण सत्तट्ठी।
दोण्णि य पंच य भणिया एदाओ उदयपयडीओ ॥१०६॥

एता उदयप्रकृतयः भणिताः, इतनी उदयप्रकृतिसिद्धान्तविषें कहिए हैं। कौन-कौन ? ज्ञानावरणीयकी ५ दर्शनावरणीयकी ९ वेदनीयकी २ मोहनीयकी २८ आयुकी ४ नामकी ६७ गोत्रकी २ अन्तरायकी ५ ये एक सौ बावीस उदयप्रकृति जाननी।

भावार्थ—जितनी बन्धप्रकृति कही पूर्व गाथामें, तितनी ही उदयप्रकृति जाननी। पर विशेष इतनी—वहां २६ प्रकृति मोहकी यहाँ, इहाँ अट्ठाईस। जातें दर्शनमोहकी प्रकृति ३ उदयकालविषें जुदी-जुदी उदय होय है। तिसतें उदयप्रकृति १२२ जाननी।

आगें भेद-अभेद विवक्षाकरि बन्धप्रकृति उदयप्रकृति कितनी हैं यह कहै हैं—

भेदे छादालसयं इदरे बन्धे हवंति वीससयं।
भेदे सव्वे उदये वावीससयं अभेदम्हि ॥१०७॥

भेदे बन्धे षट्चत्वारिंशच्छतं प्रकृतयः भवन्ति, भेद बन्धविषें १४६ प्रकृति होय हैं। भेदे उदये सर्वाः, भेद-उदयविषें १४८ प्रकृति होय हैं। अभेदोदये द्वाविंशत्युत्तरशतम्, अभेदोदयविषें १२२ प्रकृति होय हैं। [अभेदे बन्धे विंशत्युत्तरशतं प्रकृतयः भवन्ति] अभेदबन्धमें एक सौ बीस प्रकृति होय हैं।

भावार्थ—बन्धन ५ संघात ५ वर्णचतुष्ककी १६ इन संयुक्त १४६ बन्धप्रकृति जाननी। भेदविवक्षाकरि मिश्रमिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृतिमिथ्यात्व इन विना। इहां कोई प्रश्न करै है कै भेदविवक्षाकरि १४६ बन्धप्रकृति कही, १४८ किस वास्ते न कही ? मिश्रमिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृतिमिथ्यात्व इन संयुक्त ? ताको उत्तर—कै दर्शनमोहके बन्ध होते अकेला मिथ्यात्व ही बंधे हैं। 'जंतेण कोद्दवं वा' इस गाथाके न्यायकरि। उदयकालविषें तीन प्रकार होय है तातें भेदकरि १४६ बन्धप्रकृति कहीं। बन्धन ५ संघात ५ वर्णचतुष्ककी १६ इनको बन्ध भी होय है, उदय भी होय है, बन्धन-संघात बन्ध उदय शरीरनामकर्मके साथि हो है। स्पर्श रस गन्ध वर्ण इन चारके गहेतें वे सोलह आवे हैं, ताते अभेदबन्धमें १२० कही, भेदबन्धमें १४६ कही। मिश्रमिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृतिमिथ्यात्व ए जु दोनों बन्धमें नाहीं, तातें इन विषें भेद-अभेदविवक्षा नाहीं। बन्धन-संघात १० वर्णचतुष्ककी १६ इनमें भेदविवक्षा जाननी।

आगें आगिली गाथामें सत्ताप्रकृति कितनी यह कहै हैं—

पंच णव दोण्णि अट्ठावीसं चउरो कमेण तेणवदी।
दोण्णि य पंच य भणिया एदाओ सत्तपयडीओ ॥१०८॥

क्रमेण एताः सत्त्वप्रकृतयः भणिताः, यथाक्रम ए सत्ताप्रकृति सर्वज्ञदेवने कही हैं। ते कौन कौन ? ज्ञानावरणीयकी ५ दर्शनावरणीयकी ९ वेदनीयकी २ मोहनीयकी २८ आयुकी ४ नामकी ९३ गोत्रकी २ अन्तरायकी ५ ये एक सौ अडतालीस सत्ताप्रकृति जाननी। जो कर्मको अस्तित्व सो सत्ता जाननी। अस्तित्व सब ही प्रकृतिनिको है तातें १४८ सत्ता प्रकृति कहीं।

आगें घातिया कर्मनिविषें देशघातियाकी कितनी प्रकृति सर्वघातिया कितनी प्रकृति यह कहै हैं—

केवलणाणावरणं दंसणछक्कं कसायवारसयं।
मिच्छं च सव्वघादी सम्मामिच्छं अबंधम्हि ॥१०९॥

एताः प्रकृतयः सर्वघातिन्यः, इतनी प्रकृति सर्वघातिया कहिए। से कौन-कौन ? केवलज्ञानावरण १ एक, केवलदर्शनावरण १ निद्रादि पंच ५, बहुरि अनन्तानुबन्धी चतुष्क ४,

अप्रत्याख्यानचतुष्क ४ प्रत्याख्यानचतुष्क ४ ये कषायद्वादशक, बहुरि एक मिथ्यात्व। अबन्धमें सम्यग्मिथ्यात्व और उदय-सत्ताविषें सम्यग्मिथ्यात्व सर्वघाती है। जातें दर्शनमोहके बन्ध-विषें मिथ्यात्व ही बंधे है, तातें उदय-सत्ताविषें सर्वघाती है। इस प्रकार २१ प्रकृति सर्व-घातिया कहीं।

आगे छब्बीस प्रकृति देशघातिया कहै हैं—

णाणावरणचउक्कं तिदंसणं सम्मगं च संजलणं।
णव णोकसाय विग्घं छव्वीसा देसघादीओ ॥११०॥

ज्ञानावरणचतुष्कं मतिश्रुतावधिमनःपर्ययज्ञानावरणानि यह ज्ञानावरणचतुष्क जानना। त्रिदर्शनं चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनानि यह तीन प्रकार दर्शनावरण। सम्यक्त्वं च, बहुरि सम्यक्त्वप्रकृतिमिथ्यात्व, संज्वलनं संज्वलन क्रोध मान माया लोभ यह संज्वलनचतुष्क, नव नोकषाय हास्य रति अरति शोकादि ए नव नोकषाय, विघ्नानि पञ्च दानान्तराय लाभा-न्तराय भोगान्तराय उपभोगान्तराय वीर्यान्तराय यह पाँच प्रकार अन्तरायकर्म जानना। एताः षड्विंशतिः प्रकृतयः देशघातिन्यः, ए छब्बीस प्रकृति देशघातिया जानना।

भावार्थ—जो प्रकृति आत्माके सर्व गुणको घातें ते सर्वघातिया कहिए। जे प्रकृति गुणके एक देशको घातें ते देशघातिया होय। आगे विशेषकरि कहै हैं—सर्व केवलज्ञानगुणके आच्छादनेंते केवलज्ञानावरणीय सर्वघाती है। सर्व केवलदर्शनगुणके आवरणतें केवल-दर्शनावरण अरु पंच निद्रा ए सर्वघातिया हैं। यहां जो कोई प्रश्न करे—कै पंच प्रकार निद्राकर्म तुमने सर्वघाती कहे सो इन पंच प्रकारमें किन ही एक निद्राको उत्कृष्ट विपाक है कै नाहीं? एकको जघन्य विपाक है, इनमें बहुत भेद है। ए सबै सर्वघातिया कही सु किस कारणतें? जिनके जघन्य विपाक हैं ते देशघातियामें कही होती? ताको उत्तर—जिसकाल निद्राकर्म उत्कृष्ट वा जघन्य उदय है, ता काल आत्माके सर्व दर्शनको आच्छादै है। प्रचला-निद्रा सबतें जघन्य है, जब इसका भी उदय है, तब आत्माके दर्शनगुण प्रगट नाहीं पाइए है। तातें पंच हु निद्रा सर्वघातियाकर्म कही। सकलचारित्रगुणके आच्छादनतें अन-न्तानुबन्धीचतुष्क अप्रत्याख्यानचतुष्क प्रत्याख्यानचतुष्क ए बारह प्रकृति सर्वघाती है। जातें अनन्तानुबन्धीचतुष्कके उदय सकलचारित्र नाहीं है, अप्रत्याख्यानके उदय होते सकलचारित्र नाहीं। अरु प्रत्याख्यानके भी उदय होते सकलचारित्र नाहीं तातें सकलचारित्रगुणको आच्छादै है सो सर्वघाती कहिए। संज्वलनचतुष्क नव नोकषाय ए चारित्रके एकदेशको आच्छादै हैं, जातें इन तेरह प्रकृतिके उदय होते सकलचारित्र पाइए है, तातें ए तेरह प्रकृति देशघाती आगिली गाथामें कहिजो। इहाँ कोई प्रश्न करे कै तुम पूर्व ही यो कही है जो सर्वगुणको आच्छादै सो सर्वघाती है, जो गुणके एक देशको आच्छादै सो देशघाती है। इहाँ आत्माके यथाख्यातचारित्र गुण ही सर्व है, इसको संज्वलनचतुष्क अरु नव नोकषाय ए आच्छादै है, तातें ए तेरह प्रकृति सर्वघातिया कहो, और अनन्तानुबन्धी आदि बारह प्रकृति देशघाती कहो? ताको समाधान—कै आत्मामें चारित्रनाम गुण है, तिस चारित्रकी सर्वशक्तिको अनन्तानुबन्धी आदि बारह कषाय आच्छादै है, ताहीकी देशशक्तिको संज्वलन अरु नोकषाय आच्छादै है, तातें बारह कषायके गये सकलचारित्र होय है। यथाख्यातचारित्रको यह अर्थ जानना—जैसा शुद्धात्माविषें चारित्रगुण कहा है तैसा ही होना ताको नाम यथाख्यातचारित्र कहिए। बारह प्रकृतिके गये सकलचारित्र कहिए है, यथाख्यातरूप नाहीं, जातें देशशक्ति आच्छादित है। जब तेरह वे भी जाय हैं तब वही सकलचारित्र [illegible] होय है।

तातें आत्माविषें चारित्रगुण जानना। यथाख्यात चारित्र ऐसा जो कहिए है सो सकल-चारित्रकी अपेक्षाकरि; जातें सकल प्रधानगुण आच्छादै है तातें मिथ्यात्व सर्वघाती जानो, जातें याके उदय आत्माका यथार्थ श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शनगुण प्रगट नाहीं होय है। मिश्र-मिथ्यात्व भी सर्वघाती है, जातें मिश्रमिथ्यात्वके उदय असत्य पदार्थविषें समान श्रद्धान है, तातें मिश्रमिथ्यात्व जात्यन्तर सर्वघाती कहिए। ए इकवीस प्रकृति इस भाँति सर्वघाती जाननी। आगे देशघातीनिकी विशेषता कहै हैं—मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान मनःपर्यय-ज्ञान ये ज्ञानके अंश हैं, तातें इनको जे प्रकृति आच्छादैं ते देशघाती कहिए। चक्षुदर्शन अचक्षुदर्शन अवधिदर्शन ये दर्शन गुणके अंश हैं, इनके आच्छादनेतें चक्षुदर्शनावरणीय अचक्षुदर्शनावरणीय अवधिदर्शनावरणीय देशघातिया कहिए। जातें सम्यक्त्वप्रकृतिमिथ्या-त्वका चतुर्थगुणस्थानतें सप्तमगुणस्थान ताईं उदय है, सम्यक्त्वको मलिन करै है, नाश नाहीं करै है, तातें सम्यक्त्वगुणके देश आच्छादनतें सम्यक्त्वप्रकृतिमिथ्यात्व देशघाती जानना। जातें चारित्रके देशको आच्छादै है, तातें संज्वलनचतुष्क देशघाती कहिए। जातें अन्तराय-कर्म जीवके वीर्यगुणके देश ही को आच्छादै है, सर्व वीर्यगुण घातवेको असमर्थ है, तातें अन्तरायकर्मकी पंच प्रकृति देशघातिया कहिए। इस भाँति छब्बीस प्रकृति देशघाती कही।

आगे एकसौ अड़तालीस प्रकृतिनिमें कितनी प्रशस्त हैं, कितनी अप्रशस्त हैं, यह भेद कहनेको प्रथम ही अप्रशस्त प्रकृति कहे हैं—प्रशस्त नाम भली प्रकृतिका है, अप्रशस्त बुरी प्रकृतिका नाम है।

> सादं तिण्णेवाऊ उच्चं सुर-णरदुगं च पंचिंदी।
> देहा बंधण संघादंगोवंगाइं वण्णचऊ ॥१११॥
>
> समचउर वज्जरिसहं उवघादूण गुरुछक्क सग्गमणं।
> तसबारसट्ठसट्ठी बादालमभेददो सत्था ॥११२॥

सातं सातावेदनीय, त्रीणि आयूंषि देवायु मनुष्यायु तिर्यंचायु ये तीन आयुकर्म, उच्चं ऊंचगोत्र, नर-सुरद्विकं मनुष्यगति मनुष्यगत्यानुपूर्वी देवगति देवगत्यानुपूर्वी, पञ्चेन्द्रियं पञ्चेन्द्रियजाति, देहाः पञ्च औदारिकशरीर वैक्रियिकशरीर आहारकशरीर तैजसशरीर कार्मण-शरीर यह पंच प्रकार शरीर, बन्धनानि पञ्च औदारिकबन्धन वैक्रियिकबन्धन आहारकबन्धन तैजसबन्धन कार्मणबन्धन यह पंच बन्धन, संघातानि पञ्च औदारिकसंघात वैक्रियिक-संघात आहारकसंघात तैजससंघात कार्मणसंघात यह पंचसंघात, आंगोपांगानि त्रीणि औदारिकांगोपांग वैक्रियिकांगोपांग आहारकांगोपांग यह तीन प्रकार आंगोपांग, वर्णचतुष्कं शुभवर्ण शुभरस शुभगंध, शुभस्पर्श यह वर्णचतुष्क, समचतुरस्रं समचतुरस्रसंस्थान, वज्र-वृषभं वज्रवृषभनाराचसंहनन, उपघातोनागुरुषट्कं उपघात—प्रकृतिविना अगुरुषट्ककी पंच प्रकृति, अगुरुलघु १ परघात २ उच्छ्वास ३ आतप ४ उद्योत ५ एवं पंच प्रकृति, त्रसद्वादशकं त्रस १ बादर २ पर्याप्त ३ प्रत्येक ४ स्थिर ५ शुभ ६ सुभग ७ सुस्वर ८ आदेय ९ यशःकीर्त्ति १० निर्माण ११ तीर्थंकर १२ ये त्रस बारह; एताः अष्टषष्टिः प्रकृतयः शस्ताः भवन्ति ये अड़सठ प्रकृति प्रशस्त है, इनको नाम पुण्य प्रकृति कहिए। द्विचत्वारिंशत् प्रकृतयः अभेदविवक्षायां शस्ताः ये बयालीस प्रकृति प्रशस्त जाननी। जातें वर्णचतुष्ककी बीस प्रकृति अभेदविवक्षामें चार गिनी हैं। अर बन्धन-संघातको दश प्रकृति पंच देहविषें गर्भित हैं, तातें इन छब्बीस प्रकृतिविना अभेदविवक्षातें बयालीस जाननी।

आगें अप्रशस्त प्रकृति कहैं हैं—

घादी णीचमसादं णिरयाऊ णिरय-तिरियदुग जादी।
संठाण-संहदीणं चदु पण पणगं च वण्णचऊ ॥११३॥

उवघादमसग्गमणं थावरदसयं च अप्पसत्था हु।
बंधुदयं पडि भेदे अडणवदि सयं दु चदुरसीदिदरे ॥११४॥

घातीनि चत्वारि चार घातियाकर्म अप्रशस्त हैं, ज्ञानावरणकी ५ दर्शनावरणकी ९ मोहनीयकी २८ अन्तरायकी ५ ये घातियानिकी ४७ प्रकृति, नीचं नीचगोत्र, असातं असाता-वेदनीय, नरकायुः नारक-आयु, नरकद्विकं नरकगति-नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्द्विकं तिर्यंचगति तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, जातयश्चतस्रः एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय यह चार प्रकार जाति, संस्थानानि पञ्च—न्यग्रोधपरिमंडल स्वाति कुब्जक वामन हुंडक ये पंच संस्थान, संहननानि पञ्च—वज्रनाराच नाराच अर्धनाराच कीलक सृपाटिक ये पंच संहनन, वर्णचतुष्कं अशुभवर्ण ५ अशुभगन्ध १ अशुभरस ५ अशुभस्पर्श ८ यह वर्णचतुष्क, उपघातं उपघात, असद्गमनं अप्रशस्तगति, स्थावरदशकं स्थावर १ सूक्ष्म २ अपर्याप्त ३ साधारण ४ अस्थिर ५ अशुभ ६ दुर्भग ७ दुःस्वर ८ अनादेय ९ अयशःकीर्त्ति १० ये स्थावरदशक, एताः अप्रशस्ताः ये १०० प्रकृति अप्रशस्त जाननी, । एताः बन्धोदयौ प्रति भेदेन अष्टनवतिः शतं च भवन्ति ये ही अप्रशस्तप्रकृति बन्ध अरु उदयप्रति भेदविवक्षाकरि अट्ठानवै अरु सौ होय हैं। भावार्थ—भेद बन्धविषें ९८ भेदोदयविषें १०० अप्रशस्त प्रकृति हैं, जातें बन्धकालविषें दर्शनमोह मिथ्यात्वरूप ही बन्ध है ताते मिश्रमिथ्यात्व सम्यक्त्वप्रकृतिमिथ्यात्व इन दोय विना अट्ठानवै प्रकृति भेदबन्धविषें कहीं, जातें उदयकालविषें दर्शनमोह त्रिधारूप उदय है तातें भेदोदयविषें एकसौ १०० प्रकृति कहीं। इतरे द्व्यशीतिः चतुरशीतिश्च भवन्ति, अरु एई प्रकृति इतरे अभेद-विवक्षाविषें बयासी अरु चोरासी हैं। भावार्थ—अभेदबन्धविषें ८२ अभेदोदयविषें ८४ एई अप्रशस्त प्रकृति होय हैं, जातें अभेदविवक्षामें वर्णचतुष्ककी २० प्रकृतिविषें लीजे, अरु बन्धकालविषें दर्शनमोहमें मिथ्यात्व ही है तातें २ प्रकृतिविना अभेद बन्धविषें ८२ कहो। अरु अभेदोदयविषें जातें दर्शनमोहकी ३ उदय हैं, तातें वर्णचतुष्ककी १६ बिना ८४ कहो।

आगे कषायका कार्य कहे हैं—

पढमादिया कसाया सम्मत्तं देस-सयलचारित्तं।
जहखादं घादंति य गुणणामा होंति सेसा वि ॥११५॥

यतः प्रथमादिकषायाः जातें प्रथमको आदि लेकरि कषाय सम्यक्त्वं देश-सकलचारित्रं यथाख्यातं घ्नन्ति, सम्यक्त्व देशचारित्र सकलचारित्र यथाख्यात इनहिं हनै हे, ततः गुण-नामानः भवन्ति, तातें ये कषाय गुणनाम हैं यथागुण तथा नाम हैं।

भावार्थ—अनन्तमिथ्यात्वं अनुबध्नन्तीत्यनन्तानुबन्धिनः जातें सम्यक्त्वगुणको घातें अनन्त मिथ्यात्वको बन्ध है तातें अनन्तानुबन्धी कहिए। अ ईषत् संयमं कषन्तीत्यप्रत्याख्या-नकषायाः जातें देशसंयमको हिंसहि हैं तातें अप्रत्याख्यानकषाय कहिए। प्रत्याख्यान कष-न्तीति प्रत्याख्यानकषायाः जातें सकलसंयमको हिंसै है तातें प्रत्याख्यानकषाय कहिए। संयमेन समं एकीभूत्वा ज्वलन्ति संज्वलनाः, जातें यथाख्यातसंयमको हिंसै है, सकलसंयमसों एक होय करि दैदीप्यमान हैं तातें संज्वलनकषाय कहिए। इस प्रकार यथागुण तथा नाम कहिए

शेषाः अपि गुणनामानः भवन्ति, शेष जो हैं हास्यादि नव नोकषाय सो भी गुणनाम हैं जातें जो हास्यको प्रगट करे, सो हास्य वेदनीय है, इसी भाँति अन्य भी जानना इस प्रकार एकसौ अड़तालीस प्रकृति समस्त ही यथागुण तथा नाम जाननी।

आगे संज्वलन आदिक चार कषायको वासनाकाल कहिए है—

अंतोमुहुत्त पक्खं छम्मासं संखऽसंखऽणंतभवं।
संजलणमादियाणं वासणकालो दु णियमेण ॥११६॥

संज्वलनादिकानां वासनाकालः संज्वलनादि लेकरि जो हैं कषाय तिनका वासनाकाल अन्तर्मुहूर्तं पक्षं षण्मासं संख्यातासंख्यातानन्तभवान्तं नियमेन, अन्तर्मुहूर्त, एकपक्ष, छहमास संख्यात असंख्यात अनन्त भव निश्चयकरि यथाक्रम जानना।

भावार्थ—कर्मोदयके अभाव होते संते जो कर्म-संस्कार रहै है ताको नाम वासनाकाल कहिए। जैसे काहू वस्तु ऊपर पुष्प राखि जो उठाय लीजे, वहाँ वासना कछुकाल ताईं रहै है, तैसे कषायकर्मके उदय होय गये भी कतेक कालताईं संस्कार रहै है सो वासना कहिए है। संज्वलनका वासनाकाल अन्तर्मुहूर्त जानना। प्रत्याख्यानका वासनाकाल एक पक्ष है। अप्रत्याख्यानका वासना काल षट्मास है। अनन्तानुबन्धीका वासनाकाल संख्यातभव वा असंख्यातभव वा अनन्तभव ताईं जानना।

आगें पुद्गलविपाकी प्रकृति कहै हैं—

देहादी फासंता पण्णासा णिमिण ताव जुगलं च।
थिर-सुह-पत्तेयदुगं अगुरुतियं पोग्गलविवाई ॥११७॥

देहादि-स्पर्शान्ताः पञ्चाशत् प्रकृतयः, देहनामकर्मको आदि लेकरि स्पर्शनामकर्मताईं पचास प्रकृति। ते कौन हैं? देह ५ बन्धन ५ संघात ५ संहनन ६ संस्थान ६ आंगोपांग ३ वर्ण ५ रस ५ गन्ध २ स्पर्श ८ एवं ५०। निर्माणं निर्माणप्रकृति, आतपयुगलं च आतप १ उद्योत २। स्थिर-शुभ-प्रत्येकद्विकं स्थिर १ अस्थिर २, शुभ १ अशुभ २, प्रत्येक साधारणद्विक २, अगुरु-त्रिकं अगुरुलघु १ उपघात २ परघात ३ यह अगुरुत्रिक; एताः पुद्गलविपाकिन्यः ये बासठ प्रकृति पुद्गलविपाकी जाननी। पुद्गलके विषें विपाक रस है जिनका ते पुद्गलविपाकी प्रकृति कहिए। देहनामकर्मके उदयतें देह होय है, सो देह पुद्गलमयी है, तातें देहनामकर्म पुद्गलविपाकी है। या भाँति इन बासठ प्रकृतिनिका विपाक पुद्गलविषें जानना।

आगे भवविपाकी क्षेत्रविपाकी जीवविपाकी कर्म कहे हैं—

आऊणि भवविवाई खेत्तविवाई य आणुपुव्वीओ।
अडुत्तरि अवसेसा जीवविवाई मुणेयव्वा ॥११८॥

आयूंषि भवविपाकीनि, नरकायु तिर्यंचायु मनुष्यायु देवायु ये चार भवविपाकी कहिए हैं, जातें इनका भव कहिए पर्याय सोई विपाक है आयुके उदय पर्याय भोगिए हैं, ताते आयु-कर्म भवविपाकी कहिए। क्षेत्रविपाकीनि आनुपूर्व्याणि, नरकानुपूर्वी तिर्यंगानुपूर्वी मनुष्यानु-पूर्वी देवानुपूर्वी ये चार आनुपूर्वी क्षेत्रविपाकी हैं, जातें इनका विपाक क्षेत्र है तातें क्षेत्र-विपाकी हैं। अवशिष्टानि अष्टसप्ततिः जीवविपाकीनि, पुद्गलविपाकी भवविपाकी क्षेत्रविपाकी पूर्व कहे जे कर्म एक सौ अड़तालीस प्रकृतिमध्य तिनतें बाकी रहे जे अठहत्तरि कर्म ते जीव-विपाकी कहिए।

आगे ते जीवविपाकी कर्म आगिली गाथामें नाम लेकरि कहै हैं—

वेयणिय गोद घादीणेकावण्णं तु णामपयडीणं।
सत्तावीसं चेदे अट्ठत्तरि जीवविवाईओ ॥११९॥

वेदनीय-गोत्र-घातीनि एकपञ्चाशत्, सातावेदनीय असातावेदनीय २ उच्चगोत्र नीचगोत्र २ घातियाकर्म ज्ञानावरण ५ दर्शनावरण ९ मोहनीय २८ अन्तराय ५ ये इक्यावन ५१। नामप्रकृतीनां सप्तविंशतिश्च नामकर्मकी प्रकृतिनिविषें सत्ताईस प्रकृति २७ इति अष्टसप्ततिः जीवविपाकिन्यः भवन्ति ये अठहत्तरि प्रकृति जीवविपाकी होहिं, जातें इनके उदय दुःख-सुख, ऊँच-नीच, ज्ञानावरणादि नारकादि पर्यायरूप जीवके ही परिणाम होहिं तातें जीवविपाकी ए प्रकृति कहिए।

आगें नामकर्मकी सत्ताईस प्रकृति जीवविपाकी कौन-कौन, यह नाहीं जानिए है, इनके जानवेको गाथा कहिए है—

तित्थयरं उस्सासं बादर पज्जत्त सुस्सरादेज्जं।
जस-तस-विहाय-सुभगदु चउ गइ पणजाइ सगवीसं ॥१२०॥

तीर्थकरं उच्छ्‌वासं बादर-पर्याप्त-सुस्वराऽऽदेय-यशस्त्रस-विहायःसुभगद्विकम्, तीर्थंकर १ उच्छ्‌वास २ बादर ३ सूक्ष्म ४ पर्याप्ति ५ अपर्याप्ति ६ सुस्वर ७ दुःस्वर ८ आदेय ९ अनादेय १० यशःकीर्ति ११ अयशःकीर्ति १२ त्रस १३ स्थावर १४ प्रशस्तगति १५ अप्रशस्तगति १६ सुभग १७ दुर्भग १८ चतस्रः गतिः चार गतियाँ, पञ्च जातयः पाँच जातियाँ इति सप्तविंशतिः ए सत्ताईस प्रकृति नामकर्मकी जीवविपाकी जाननी।

आगे ए सत्ताईस प्रकृति और क्रमकरि गाथामें कहै हैं—

गदि जादी उस्सासं विहायगदि तसतियाण जुगलं च।
सुभगादी चउजुगलं तित्थयरं चेदि सगवीसं ॥१२१॥

गतयश्चतस्रः गति चार, जातयः पञ्च जातियाँ पाँच, उच्छ्‌वासं उच्छ्‌वास एक, विहायोगति-त्रसत्रयाणां युगलं च प्रशस्त अप्रशस्त विहायोगति २, त्रस-स्थावर २, सूक्ष्म-बादर २, पर्याप्त-अपर्याप्त २ यह त्रसत्रिकका युगल, सुभगादिचतुर्णां युगलं सुभग-दुर्भग २ सुस्वर-दुःस्वर २, आदेय-अनादेय २, यशःकीर्ति-अयशःकीर्ति २ यह सुभगादि-चतुष्कका युगल, तीर्थंकरं तीर्थंकरप्रकृति इति सप्तविंशतिः ए सत्ताईस प्रकृति नामकर्मकी जाननी दूसरी गाथाके क्रमकरि।

ये समस्त प्रकृतिबन्ध समाप्त भया।

आगे स्थितिबन्ध कहें हैं। प्रथम ही मूलप्रकृतिनिकी स्थिति कहिए है—

तीसं कोडाकोडी तिघादि-तिदयेसु वीस णाम-दुगे।
सत्तरि मोहे सुद्धं उवही आउस्स तेत्तीसं ॥१२२॥

त्रिघातितृतीयेषु त्रिंशत् कोटाकोटी उदधयः तीन घाती ज्ञानावरण दर्शनावरण अन्तराय अरु तीसरा कर्म कहिए वेदनीय इन चार कर्मविषें उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडी जाननी। नामद्विके विंशतिः नाम-गोत्रकर्मविषें बीस कोडाकोडी सागर उत्कृष्ट स्थिति है। मोहे सप्ततिः

मोहनीयकर्मविषें सत्तर कोडाकोडी सागर उत्कृष्ट स्थिति है। आयुषि शुद्धा त्रयस्त्रिंशत्। आयु-कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति शुद्ध तेतीस सागर जाननी।

आगे उत्तरप्रकृतिनिको स्थितिबन्ध कहे हैं—

दुक्ख-तिघादीणोघं सादित्थी-मणुदुगे तदद्धं तु।
सत्तरि दंसणमोहे चरित्तमोहे य चत्तालं ॥१२३॥

दुःख-त्रिघातिनामोघवत्, दुःख कहिए असातावेदनीय और तीन घातिया ज्ञानावरण ५ दर्शनावरण ६ अन्तराय ५ इन बीस उत्तरप्रकृतिनिको स्थितिबन्ध उत्कृष्ट ओघवत् कहिए मूलप्रकृतिकी नाईं तीस कोडाकोडी जानना। तु साता-स्त्री-मनुष्यद्विकेषु तदर्धम् सातावेदनीय १ स्त्रीवेद २ मनुष्यगति ३ मनुष्यगत्यानुपूर्वी ४ इन चार प्रकृतिनिविषें तदर्धम् कहिए पहिली प्रकृतिनिकी स्थितितें आधी जाननी अर्थात् १५ कोडाकोडी सागर उत्कृष्ट स्थितिबन्ध है। सप्ततिर्दर्शनमोहे, दर्शनमोहविषें सत्तर कोडाकोडीकी स्थिति है। चारित्रमोहे चत्वारिंशत्, चारित्रमोहविषें चालीस कोडाकोडी उत्कृष्ट स्थितिबन्ध है।

संठाण-संहदीणं चरिमस्सोघं दुहीणमादि त्ति।
अट्ठरस कोडकोडी वियलाणं सुहुमतिण्हं च ॥१२४॥

संस्थान-संहननानां चरमस्य ओघवत्, संस्थान-संहननके मध्य जो अन्तको हुंडक-संस्थान अरु फाटकसंहनन ताकी उत्कृष्ट स्थिति मूल नामकर्म प्रकृतिवत् बीस कोडाकोडी सागरकी जाननी। द्विहीनं आदिपर्यन्तम्, बहुरि आदिके संहनन-संस्थानताईं दोय कोडाकोडी हीन बाकी संस्थान-संहननकी स्थिति जाननी। भावार्थ—वामनसंस्थान कीलकसंहनन इनकी स्थिति अठारह कोडाकोडीसागर, कुब्जकसंस्थान अर्धनाराचसंहनन इनकी स्थिति सोलह कोडाकोडी सागर, स्वातिकसंस्थान नाराचसंहननकी स्थिति चौदह कोडाकोडी सागर, न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थान वज्रनाराचसंहनन इनकी स्थिति बारह कोड़ाकोडी सागर, समचतु-रस्रसंस्थान वज्रवृषभनाराचसंहनन इनकी स्थिति दश कोडाकोडी सागर जाननी। विकलत्र-याणां सूक्ष्मत्रिकाणां च अष्टादश कोटीकोट्यः, विकलत्रिक द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रियजाति, सूक्ष्मत्रिक सूक्ष्म १ पर्याप्त २ साधारण ३ इन छहों प्रकृतिनिकी उत्कृष्ट स्थिति अठारह कोडा-कोडी सागरकी जाननी।

अरदी सोगे संढे तिरिक्ख-भय-णिरय-तेजुरालदुगे।
वेगुव्वादावदुगे णीचे तस-वण्ण-अगुरु-तिचउक्के ॥१२५॥
इगि-पंचिंदिय-थावर-णिमिणासग्गमण-अथिरछक्काणं।
वीसं कोडाकोडी सागरणामाणमुक्कस्सं ॥१२६॥

अरतौ शोके षण्ढे अरतिकर्मविषें १ शोकविषें २ नपुंसकवेदविषें ३ तिर्यग्भय-नारक-तैजसौदारिकद्विके तिर्यग्गति तिर्यग्गत्यानुपूर्वी नरकगति-नरकगत्यानुपूर्वी, भय-जुगुप्सा, तैजस-कार्मण, औदारिकशरीर औदारिकांगोपांग, इन पंच द्विकविषें, वैक्रियिकाऽऽतपद्विके वैक्रियिकशरीर-वैक्रियिकांगोपांग, आतप-उद्योत इन दोय द्विकविषें नीचे नीचगोत्रविषें त्रस-वर्णागुरुत्रिकचतुष्के त्रस बादर पर्याप्त प्रत्येक यह त्रसचतुष्क, वर्ण गन्ध रस स्पर्श यह वर्ण-चतुष्क, अगुरुलघु उपघात परघात उच्छ्वास यह अगुरुलघु चतुष्क, इन तीन चतुष्कविषें, एकेन्द्रिय-पञ्चेन्द्रिय-स्थावर-निर्माणासद्गमनास्थिरषट्कानां एकेन्द्रियजाति पंचेन्द्रियजाति

स्थावर निर्माण असद्गमन अस्थिरषट्क अस्थिर अशुभ दुर्भग दुःस्वर अनादेय अयशःकीर्त्ति यह अस्थिरषट्क सागरनाम्नां विंशति कोटीकोट्यः उत्कृष्टा स्थितिः इन इकतालीस प्रकृतिविषैं बीस कोडाकोडी सागरकी स्थिति जाननी।

हस्स रदि उच्च पुरिसे थिरछक्के सत्थगमण देवदुगे।
तस्सद्धमंतकोडाकोडी आहार-तित्थयरे ॥१२७॥

हास्य रत्युच्चपुरुषेषु हास्य रति उच्चगोत्र और पुरुषवेदमें, स्थिरषट्केषु स्थिर शुभ सुभग सुस्वर आदेय यशःकीर्त्ति यह स्थिरषट्क, प्रशस्तगमने प्रशस्तविहायोगति, देवद्विके—देवगतिदेवगत्यानुपूर्वी इन तेरह प्रकृतिनिविषैं तदर्धम् पूर्वकी कही जु स्थिति बीस कोडाकोडी ताकी आधी दशकोडाकोडी स्थिति जाननी। आहारकद्विकतीर्थंकरयोः अन्तःकोटाकोटी आहारकशरीर-आहारकांगोपांग और तीर्थंकरप्रकृति इन विषैं उत्कृष्टस्थिति अन्तःकोडाकोडी सागरोपम जाननी। अन्तः कोडाकोडी सागरोपम कहा कहिए? कोटिसागर ऊपर कोडाकोडी सागर मध्य याको नाम अन्तःकोडाकोडी सागरोपम कहिए।

सुर-णिरयाऊणोघं णिर-तिरियाऊण तिण्णि पल्लाणि।
उक्कस्सट्ठिदिबंधो सण्णी पज्जत्तगे जोगे ॥१२८॥

सुर-नरकायुषोः ओघवत् उत्कृष्टस्थितिबन्धः, देवायु नरकायुकी उत्कृष्ट स्थिति मूल-प्रकृतिकी नाईं तेतीस सागर जानना। नर-तिर्यगायुषोः त्रीणि पल्यानि, मनुष्यायु-तिर्यंचायु इनकी उत्कृष्टस्थिति तीन पल्य जानना। यह उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कौन जीवहुकी योग्यताविषैं है? संज्ञिपर्याप्तकानां योग्ये, सैनी पर्याप्तक जीवहुकी योग्यताके विषैं है।

आगे शुभाशुभ प्रकृतिनिको उत्कृष्ट स्थिति-कारण कहे हैं—

सव्वट्ठिदीणमुक्कस्सओ दु उक्कस्ससंकिलेसेण।
विवरीदेण जहण्णो आउगतिगवज्जियाणं तु ॥१२९॥

आयुस्त्रयवर्जितानां सर्वस्थितीनामुत्कृष्टः स्थितिबन्धः देवायु मनुष्यायु तिर्यंचायु इन तीन आयुर्षों करि वर्जित समस्त ही जु है प्रकृति तिनका उत्कृष्टबन्ध सो उत्कृष्टसंक्लेशेन उत्कृष्ट संक्लेश परिणाम करि हो। भावार्थ—मनुष्यायु तिर्यगायु देवायु इनि तीन्योंको उत्कृष्ट स्थिति-बन्ध उत्कृष्ट विशुद्ध परिणामहि करि होय। अन्य समस्त ही प्रकृतिनिको उत्कृष्ट स्थितिबन्ध उत्कृष्ट संक्लेश परिणामनि करि होय है। विपरीतेन जघन्यः, पूर्वोक्त अर्थकी विपरीतता करि जघन्य स्थितिबन्ध होय है। भावार्थ—तीन आयुर्वर्जित सर्व प्रकृतिनिको उत्कृष्ट स्थितिबन्ध उत्कृष्ट संक्लेश परिणामकरि जानना। अर जघन्य स्थितिबन्ध जघन्य संक्लेश परिणाम अर्थात् उत्कृष्ट विशुद्ध परिणामकरि जानना।

आगे उत्कृष्टबन्धके कारणवाले जीव कौन-कौन हैं यह कहे हैं—

सव्वुक्कस्सट्ठिदीणं मिच्छाइट्ठी दु बंधगो भणिदो।
आहारं तित्थयरं देवाउं वा विमोत्तूणं ॥१३०॥

सर्वोत्कृष्टस्थितीनां मिथ्यादृष्टिः बन्धकः भणितः, समस्त ही जु है उत्कृष्ट स्थिति तिनको मिथ्यादृष्टि जीव बाँधनेवाला कहा है। कहा करि? आहारं तीर्थंकरं देवायुश्च मुक्त्वा, आहारकशरीर १ आहारकांगोपांग २ तीर्थंकर ३ देवायु ४ इन चार प्रकृतिनिको छोड़करि। जाते इन चारहुका बन्धक सम्यग्दृष्टि जीव है।

आगे ए चार प्रकृति सम्यग्दृष्टि जीव किस किस स्थानक बाँधे है यह कहै हैं—

देवाउअं पमत्तो आहारयमप्पमत्तविरदो दु ।
तित्थयरं च मणुस्सो अविरदसम्मो समज्जेइ ॥१३१॥

प्रमत्तः देवायुर्बध्नाति, प्रमत्त जो है षष्ठम गुणस्थानवर्ती मुनि सो उत्कृष्ट देवायुका बन्ध विशुद्धपरिणामनिकरि बाँधे है । अप्रमत्तविरतस्तु आहरकद्विकम्, अप्रमत्त सप्तमगुणस्थानवर्ती मुनि जब छठे गुणस्थानके सन्मुख होय है, तब संक्लिष्ट है, ता समय आहारकशरीर-आहार-कांगोपांग इनका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध बाँधै, जातें तीन आयुविना और प्रकृतिनिका उत्कृष्ट-बन्ध उत्कृष्टसंक्लेश परिणामनि ही करि है । अविरतसम्यग्दृष्टिर्मनुष्यः तीर्थकरं समर्जयति, अविरतसम्यग्दृष्टि जु है मनुष्य सो उत्कृष्ट तीर्थकरका बन्ध उत्कृष्ट संक्लेश परिणामकरि बाँधे है । यद्यपि तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध अविरतगुणस्थानतें लेकरि सप्तमगुणस्थानपर्यन्त बाँधे है, तथापि अविरत गुणस्थानवर्ती मनुष्य नरक-सन्मुख जब होय, तब उत्कृष्ट स्थितिकूं बाँधे है । और गुणस्थाननिमें तीर्थंकर प्रकृतिका उत्कृष्टस्थितिबन्ध नाहीं ।

आगे समस्त ही प्रकृतिनिका मिथ्यादृष्टि बन्धक है, यह कहै हैं—

णर-तिरिया सेसाऊ वेगुव्वियछक्क वियल-सुहुमतियं ।
सुर-णिरया ओरालिय-तिरियदुगुज्जोवसंपत्तं ॥१३२॥
देवा पुण एइंदिय आदावं थावरं च सेसाणं ।
उक्कस्ससंकिलिट्ठा चदुगदिआ ईसिमज्झिमया ॥१३३॥

उत्कृष्टसंक्लिष्टाः नर-तिर्यञ्च एतानि बन्धन्ति उत्कृष्ट संक्लेश संयुक्त है जो मनुष्य वा तिर्यंच ते इतने कर्मनिका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध करे हैं । ते कौन-कौन ? शेषायूंषि वैक्रियिकषट्कं विकलत्रयं सूक्ष्मत्रिकम्, देवायुविना और तीन आयुष नरकायु तिर्यगायु मनुष्यायु । जातें देवायुका उत्कृष्ट बन्ध षष्ठम गुणस्थानवर्ती मुनि ही करे है, तातें देवायु विना शेष तीन आयु । अरु वैक्रियिकषट्क देवगति-देवगत्यानुपूर्वी नरकगति-नरकगत्यानुपूर्वी वैक्रियिकशरीर-वैक्रियिकांगोपांग ६, अरु विकलत्रय द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय ३, अरु सूक्ष्मत्रिक सूक्ष्म साधारण अपर्याप्त ३, इनका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध करै हैं । सुर-नारकाः औदारिक तिर्यग्द्विकोद्योतासम्प्राप्तानि, उत्कृष्ट संक्लेशयुक्त जे देव अरु नारकी ते औदारिक-शरीर-औदारिकांगोपांग, तिर्यग्गति-तिर्यगत्यानुपूर्वी उद्योत स्फाटकसंहनन इन छह प्रकृतिनिका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध करे हैं । देवाः पुनः एकेन्द्रियातपस्थावराणि उत्कृष्टसंक्लेश संयुक्त जो हैं देव ते एकेन्द्रिय आतप स्थावर इन तीन कर्मनिका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध करे हैं । शेषाणां उत्कृष्टसंक्लिष्टाः ईषन्मध्यमिकाश्च चातुर्गतिकाः, पूर्व ही कहे जे कर्म तिन बिना और कर्म रहे, तिनका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध क्लेश-संयुक्त जु हैं ते जीव, अथवा थोरे मध्य संक्लिष्ट जु हैं ऐसे चारों गतियोंके जीव ते उत्कृष्टस्थितिबन्ध करे हैं ।

आगे आठ कर्मनिका जघन्य स्थितिबन्ध कहे हैं—

बारस य वेयणीए णामागोदे य अट्ठ य मुहुत्ता ।
भिण्णमुहुत्तं तु ठिदी जहण्णयं सेसपंचण्हं ॥१३४॥

वेदनीये द्वादश मुहूर्त्ताः, वेदनीय कर्मविषें बारह मुहूर्त्त जघन्य स्थितिबन्ध है । नाम-गोत्रयोः अष्टौ मुहूर्त्ताः, नाम अरु गोत्रकर्मविषें आठ मुहूर्त्त जघन्य स्थितिबन्ध है । शेषपञ्चानां

तु जघन्यस्थितिः भिन्नमुहूर्त्ता, बाकी जु हैं पंच कर्म ज्ञानावरण १ दर्शनावरण २ मोहनीय ३ आयु ४ अन्तराय ५ इनकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त जाननी। अन्तर्मुहूर्त्त कहा कहिए ? एक आवली एक समय यह जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त है। दोय घड़ी एक समय घाटि उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त कहिए। एक समय एकावलीके ऊपर दोय घड़ी एक समय घाटिके तलें जितने असंख्याते समय भए तितनी जाति मध्यम अन्तर्मुहूर्त्तके भेद जानने। ए तीन प्रकार अन्तर्मुहूर्त्त हैं।

आगे उत्तर प्रकृतिनिका जघन्य स्थितिबन्ध कहै हैं—

लोहस्स सुहुमसत्तरसाणमोघं दुगेकदलमासं।
कोहतिए पुरिसस्स य अट्ठ य वासा जहण्णठिदी ॥१३५॥

लोभस्य सूक्ष्मसप्तदशकानां ओघवत्, नवम गुणस्थानविषें लोभकी जघन्यस्थिति अरु सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानविषें सत्तरह प्रकृतिनिकी जघन्यस्थिति मूलप्रकृतिवत् जाननी। लोभकी जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त्तकी, ज्ञानावरण ५ अन्तराय ५ दर्शनावरण ४ इनकी भी जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त्तकी, यशःकीर्ति उच्चगोत्र इनकी जघन्यस्थिति आठ मुहूर्त, साता-वेदनीयकी जघन्यस्थिति बारह मुहूर्त्त। इन सत्तरह प्रकृतिनिका जघन्य स्थितिबन्ध दशम गुणस्थानविषे जानना। क्रोधत्रिके द्विकैकदलमासाः क्रोध मान माया इस त्रिकविषें यथाक्रम दोय मास, एक मास, अर्ध मास जघन्यस्थिति जाननी। क्रोधकी २ मास स्थिति, मानकी एक मास स्थिति, मायाकी अर्धमास स्थिति जाननी। पुरुषस्य जघन्यस्थितिः अष्ट वर्षाणि पुरुषवेदकी जघन्य स्थिति अष्ट वर्ष जाननी।

तित्थाहाराणंतोकोडाकोडी जहण्णट्ठिदिबन्धो।
खवगे सग-सगबन्धच्छेदणकाले हवे णियमा ॥१३६॥

तीर्थकराऽऽहारकद्विकयोः जघन्यस्थितिबन्धः अन्तःकोटाकोटि-सागरोपमाणि तीर्थ-कर, आहारकद्विक इनका जघन्य स्थितिबन्ध अन्तः कोडाकोडी सागरोपम जानना। क्षपकेषु स्व-स्वबन्धव्युच्छित्तिकाले नियमाद् भवेत्, यह जु है जघन्य स्थितिबन्ध सो क्षपकगुणस्था-ननिविषें स्वकीय बन्धव्युच्छित्तिकालविषें निश्चयकरि होय है।

भिण्णमुहुत्तो णर-तिरियाऊणं वासदससहस्साणि।
सुर-णिरयआउगाणं जहण्णओ होइ ठिदिबंधो ॥१३७॥

नर-तिर्यगायुषोः अन्तर्मुहूर्त्तः, मनुष्यायु तिर्यगायु इनकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त है। सुर-नरकायुषोः वर्षदशसहस्राणि, देवायु अरु नरकायु इनकी जघन्य स्थिति दशसहस्र वर्ष जाननी।

सेसाणं पज्जत्तो बादर एइंदियो विसुद्धो य।
बंधदि सव्वजहण्णं सग-सग-उकस्सपडिभागे ॥१३८॥

शेषाणां पर्याप्तः बादर एकेन्द्रियः विशुद्धश्च, पूर्वे ही कही जो २९ प्रकृति तिनतें बाकी रही जो ९१ प्रकृति तिन्हें पर्याप्त बादर अरु परिणाम करि विशुद्ध ऐसा जो एकेन्द्रियजीव सो सवजघन्यां बध्नाति, सर्वतें जघन्य जो है स्थिति तिसे बांधे है। भावार्थ—इक्यानवै प्रकृतिका जघन्य स्थितिबन्ध बांधिवेको पूर्वोक्त एकेन्द्रियजीव ही योग्य हैं। किस प्रकार करि ?

स्व-स्वोत्कृष्ट प्रतिभागेन आपना-आपना जु है उत्कृष्टबन्ध ताके प्रतिभाग करि। भावार्थ— उस एकेन्द्रियजीवके जिस-जिस प्रकृतिका जैसा-जैसा उत्कृष्टबन्ध है तिस-तिस प्रकृतिका तैसा-तैसा त्रैराशिक विधानकरि जघन्य स्थितिबन्ध जानना। त्रैराशिकविधान गणित विशेष है सो सिद्धान्ततें जानना। गोम्मटसारविषें सो विस्तृत कथन है।

आगे एकेन्द्रियादि जीवनिके उत्कृष्ट स्थितिबन्ध मोहनीयकर्मका कहे हैं—

एयं पणकदि पण्णं सयं सहस्सं च मिच्छवर-बंधो।
इगि-विगलाणं बंधो अवरं पल्लासंखूण संखूणं ॥१३९॥

एकेन्द्रिय-विकलानां मिथ्यात्ववरबन्धः एकेन्द्रिय अरु विकल-चतुष्क द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय असैनीपंचेन्द्रिय यह विकल-चतुष्क इन जीवनिके मिथ्यात्वको उत्कृष्ट बन्ध अनुक्रमतें एकं पञ्चविंशतिः पञ्चाशत् शतं सहस्रं सागरोपमाणि, एक सागर १, पचीस सागर २५, पचास सागर ५०, सौ सागर १००, हजार सागर १०००, जानना। असंज्ञी पंचेन्द्रिय १००० सागर। संज्ञी पर्याप्त जीव सत्तरकोड़ाकोड़ी सागर उत्कृष्ट बन्ध करे। पुनः एतेषां अवरबन्धः बहुरि इन एकेन्द्रिय विकल-चतुष्कको जघन्य बन्ध पल्यासंख्येयोनः पल्यसंख्येयोनः, अपने-अपने उत्कृष्ट बन्धतें पल्यके असंख्यातवें भाग घाटि, पल्यके संख्यातवें भाग घाटि जघन्य बन्ध जानना।

भावार्थ—एकेन्द्रिय जीवके दर्शनमोहको उत्कृष्ट बन्ध एक सागर है, तिसमें पल्यको असंख्यातवां भाग जो घाटि करिए तो जघन्य बन्ध होय। विकलचतुष्कके जो उत्कृष्ट बन्ध है, तिसमें पल्यको संख्यातवां भाग घाटि जघन्य स्थितिबन्ध जानना।

यह स्थितिबन्ध पूर्ण भया।

आगे अनुभागबन्धको स्वरूप कहे हैं—

सुहपयडीण विसोही तिव्वो असुहाण संकिलेसेण।
विवरीदेण जहण्णो अणुभागो सव्वपयडीणं ॥१४०॥

शुभप्रकृतीनां तीव्रोऽनुभागः विशुद्धया भवति, शुभ प्रकृतिनिको तीव्र जो है उत्कृष्ट अनुभाग सो उत्कृष्ट विशुद्ध परिणामकरि हो है। अशुभानां संक्लेशेन, अशुभप्रकृतिनिको उत्कृष्ट अनुभाग उत्कृष्ट संक्लेशपरिणामकरि हो है। पुनः सर्वप्रकृतीनां जघन्योऽनुभागः विपरीतेन, बहुरि सर्वप्रकृतिनिका जघन्य अनुभाग पूर्वोक्त कथनतें विपरीतताकरि जानना।

भावार्थ—कर्मनिका जो विपाक रसको नाम अनुभाग है। सो अनुभाग दोय प्रकार है—उत्कृष्ट जघन्यके भेदकरि। शुभ प्रकृतिनिको उत्कृष्ट अनुभाग शुभ परिणामनिकरि, शुभप्रकृतिनिको जघन्य अनुभाग संक्लेश परिणामनिकरि हो है। अशुभ प्रकृतिनिको उत्कृष्ट अनुभाग संक्लेशपरिणामनिकरि, तथा जघन्य अनुभाग विशुद्धपरिणामनिकरि हो है। शुभाशुभ परिणामनिकी योग्यताकरि उत्कृष्ट जघन्य अनुभागके मध्य अनुभागविषें अनेक भेद जानने।

आगे घातियाकर्मके अनुभागको स्वरूप कहे हैं—

सत्ती य लता-दारू-अट्ठी-सेलोवमा हु घादीणं।
दारु-अणंतिमभागो त्ति देसघादी तदो सव्वं ॥१४१॥

घातिना शक्तयः लता-दार्वस्थि-शिलोपमाः खु भवन्ति, घातिया कर्मनिकी शक्ति लता-वेलि, दारु काठ, अस्थि हाड, शिला पाषाण इन चार कीसी है उपमा जिनकी ऐसी है। भावार्थ—एक घातियाकर्मनिकी शक्ति लतावत् है, एकनिकी काष्ठवत्, एकनिकी हाडवत् है, एकनिकी शिलावत् है। ऐसी चार शक्तिमें अनन्ते-अनन्ते भेद हैं। जैसे वेलि काठ हाड पाषाणविषें एक-एकमें अनेक भेद हैं कोमल-कठिनादि भेदकरि। अरु जैसे अतिकोमल जघन्यताके भेदतें लेकरि अति कठोर उत्कृष्ट पाषाणके भेद पर्यन्त क्रमवृद्धिसों भेद-वृद्धिसंयुक्त है, तैसे ही लतावत् जघन्य शक्ति ते लेकरि उत्कृष्ट पाषाणवत् शक्तिपर्यन्त क्रमसों शक्तिनिविषें अनुभाग-वृद्धि जाननी। आगे आधी गाथामें देशघाती कौन शक्ति है, इसविषें यह कहै हैं—दार्वनन्तभागपर्यन्तं देशघातिन्यः, ततः सर्वघातिन्यः, दारुके अनन्तवें भाग-पर्यन्त देश-घातिया जाननी, तिसतें आगे सर्वघातिया है—

भावार्थ :—लतावत् शक्तिके अनन्त भागनितें लेकरि दारुके केते एक उत्कृष्ट भाग विना अनन्त भागपर्यन्त देशघातिया कर्महुकी शक्ति है। बाकी दारुके अनन्त भागनितें लेकरि अस्थिके अनन्त भाग, शिलाके अनन्त भागपर्यन्त सर्वघातिया शक्ति है।

आगे दर्शनमोहकी प्रकृतिनिविषें देशघातित्व सर्वघातित्व कहे हैं—

देसो त्ति हवे सम्मं तत्तो दारु-अणंतिमे मिस्सं।

सेसा अणंत भागा अट्ठिसिलाफड्डया मिच्छे ॥१४२॥

देशपर्यन्तं सम्यक्त्वं भवेत्, लताके भागतें लेकरि दारुके अनन्तवें भागपर्यन्त जे देशघाति स्पर्धक हैं, ते सम्यक्त्वमिथ्यात्वके हैं। भावार्थ-सम्यक्त्वप्रकृति मिथ्यात्व सम्यग्दर्शन गुणके देशको घाते है, जातें सम्यक्त्वप्रकृति मिथ्यात्वके उदयतें चल मलिन अगाढ दोष सम्यक्त्वमें होय हैं, तातें सम्क्त्वप्रकृतिमिथ्यात्व देशघाती जानना। देशघाती स्पर्धक दारुके अनन्तिम भागपर्यन्त हैं, तातें सम्यक्त्वप्रकृतिमिथ्यात्व दारुके अनन्तवें भागपर्यन्त कह्या। जितने लताके अनन्ते भाग हैं, अरु दारुके अनन्तवें भागपर्यन्त जितने अनन्ते भाग हैं तितनी जातिको सम्यक्त्वप्रकृतिमिथ्यात्वको अनुभाग जानना मन्द-तीव्र मध्यमके भेदकरि। ततः दार्वनन्तिमः मिश्रम्, तिन देशघाती स्पर्धकनिकी मर्यादातें आगे दारुको अनन्तवां भाग सो मिश्रमिथ्यात्व है। भावार्थ—दारु शक्तिके अनन्ते भाग हैं, तिन विषें कितने एक बहुत भाग विना अनन्ते भाग देशघातिमें हैं, तिन देशघाति स्पर्धकनितें आगे जो हैं, वे बहुत भाग, तिनके अनन्त खंड करिए तिनमें एक खंड मिश्रमिथ्यात्व है। सो मिश्रमिथ्यात्व जात्यन्तर सर्वघाती है, जातें मिश्रमिथ्यात्वके उदयतें सम्यक्त्व मिथ्यात्व दोनों मिले परिणाम होय हैं। सर्वथा सम्यक्त्वगुणको नाहीं आच्छादे हैं, हीनशक्ति-संयुक्त जघन्य सर्वघाती हैं, जातें आचार्यहूने मिश्रमिथ्यात्वको नाम जात्यन्तर सर्वघाती कहा है। सो मिश्रमिथ्यात्व दारुके अनन्त भागके एक खंडविषें अपने अनुभागके अनन्त भेद लिये है। शेषाः अनन्तभागाः अस्थिशिलास्पर्धकाः मिथ्यात्वम्, मिश्रमिथ्यात्वके खंडतें आगे बाकी दारुके अनन्त खंड, अरु अस्थि-शिलाके स्पर्धक ते समस्त मिथ्यात्व हैं। भावार्थ—मिश्र खंडतें आगे दारुके अनन्त खंड, अस्थिके अनन्त भाग, शिलाके अनन्त भाग इन सबके विषें मिथ्यात्व है अनन्त रस लिए। इस ही भाँति घातिकर्मनिकी देशघाति जे प्रकृति हैं, ते दारुके अनन्तवें भागताईं जाननी। अरु जे सर्वघाति हैं ते दारुके बहुत भागनितें लेकरि शिलाके सर्वोत्कृष्ट भागपर्यन्त जाननी। स्पर्धक कहा कहिए? अनन्त परमाणु मिले तो एक वर्गणा होय। अनन्त वर्गणा मिलिकरि एक स्पर्धक होय है। इस भाँति घातिनिका अनुभाग जानना।

आगे अघातिकर्मनिका अनुभाग कहे हैं—

गुडखंडसक्करामियसरिसा सत्था हु णिंब-कंजीरा ।
विस-हालाहलसरिसा असत्था हु अघादिपडिभागा ॥१४३॥

प्रशस्ताः अघातिप्रतिभागाः गुड-खण्ड-शर्करामृतसदृशाः, शुभ अघातिया कर्मनिके जु हैं अनुभागके भेद, ते गुड, खाँड, शर्करा अमृत इन चारकी बराबर है। भावार्थ—अघातिया कर्म दोय प्रकार हैं—एक शुभ अघातिया हैं, एक अशुभ अघातिया हैं। तिनमें शुभ अघातिया कर्महुके अनुभागकी शक्ति चार प्रकार है—गुडवत् १ खाँडवत् २ मिश्रीवत् ३ अमृतवत् ४ इन एक-एक अनुभागशक्तिविषें अनन्ते भेद हैं। जैसे एक गुडविषें अनेक भेद हैं—जघन्य उत्कृष्ट मध्यम मिष्टत्व के भेदतें। गुडवत् शक्तिके जघन्य अनुभागतें लेकरि उत्कृष्ट अमृत भेदपर्यन्त क्रमवृद्धिसे बढ़ते अनुभागके अनन्त भेद हैं। यह चार प्रकार शुभ अघातियनिके अनुभाग जानना। अप्रशस्ताः निम्ब-काञ्जीरविष-हालाहलसदृशाः, अशुभ अघातियनिके अनुभागकी शक्ति निम्ब १ कांजीर इन्द्रायनका फल २ विष ३ हालाहल महा-कालकूट विष ४ इन चारके बराबर है। भावार्थ—इन चार शक्ति विषें भी एक-एकमें क्रमवृद्धिता लिये अनन्ते अनुभागके भेद हैं। जैसे एक निम्बविषें कटुकताकी तीव्रता-मन्दताकरि अनेक भेद हैं। यह चार प्रकार अशुभ-अघातियनिका अनुभाग जानना।

यह अनुभागबन्ध पूर्ण भया।

आगे किस-किस क्रिया करि शुभ-अशुभ कर्मका बन्ध होय यह कहे हैं—

पडिणीगमंतराए उवघादे तप्पदोस-णिण्हवणे ।
आवरणदुगं बंधदि भूयो अच्चासणाए वि ॥१४४॥

प्रत्यनीकं—ज्ञानविषे दर्शनविषें अरु ज्ञान-दर्शनके धारकनिविषें अविनय करिए, सो प्रत्यनीकता कहिए। अन्तरायः—ज्ञान-दर्शनविषे व्यवधान देय वा बाधा करे सो अन्तराय कहिए। उपघातः—किसीके उत्तम ज्ञान-दर्शनमें दूषण देय सो उपघात कहिए। वा पढ़नेवालनिके क्षुद्र उत्पातादि करे सो उपघात कहिए। तत्प्रदोषः—तिन ज्ञान-दर्शन अरु तिनके धारकनिविषें जो आनन्दका अभाव सो प्रद्वेष कहिए। अथवा इन विषें अन्तःकरणमें पिशुनता राखै सो भी प्रद्वेष कहिए। निह्नवः—ज्ञानके होते संते कहे कै मैं नहीं जानता। अरु कहे कै मेरे पास यह पुस्तक नाहीं, इस भाँति मुकरि करि ज्ञान लोपे सो निह्नव कहिए। अथवा अप्रसिद्ध गुरुको छिपाय प्रसिद्ध गुरुका अपनेको शिष्य कहना। आसादना—ज्ञानादिकगुणकी कथनी न करना। अथवा अविनय करना यह आसादना है। एतेषु षट्सु सत्सु भूयः आवरणद्विकं बध्नाति, इन छह प्रकारनिके होते संते स्थिति-अनुभागकी विशेषता करि ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्म बंधे।

आगे वेदनीयके बन्धके कारण कहे हैं—

भूदाणुकंप-वदजोगजुत्तो खंति-दाण-गुरुभत्तो ।
बंधदि भूयो सादं विवरीदो बंधदे इदरं ॥१४५॥

भूतानुकम्पा-व्रतयोगयुक्तः-जो जीव भूत जु है प्राणी तिनिविषें दयासंयुक्त होय, दया सत्य अचौर्य ब्रह्मचर्य निःपरिग्रह इत्यादि व्रतसंयुक्त अरु योग जु है समाधि तिस संयुक्त

होय। क्षान्ति-दान-गुरुभक्तः—क्षान्ति जु है क्रोधादिनिवृत्ति, चार प्रकार दान, अरु गुरुसेवा इन विषें रत होय, सो जीव भूयः सातं बध्नाति-स्थिति अनुभागकी विशेषताकरि साता-वेदनीयको बाँधे। विपरीतः इतरं बध्नाति—अरु इस पूर्वोक्त जीवतें विपरीत निर्दयादि परिणामसंयुक्त सो असातावेदनीय बाँधे।

आगे और भी असातावेदनीयके बन्धके कारण कहे हैं।

दुक्ख-वह-सोग-तावाकंदण-परिदेवणं च अप्पठियं।
अण्णट्ठियमुभयट्ठियमिदि वा बंधो असादस्स ॥१४६॥

दुःख-वध-शोक-तापाक्रन्दन-परिदेवनं आत्मस्थितं भवति—पीडारूप जु परिणाम सो दुःख कहिए। जो आत्मघात परघात सो बन्ध कहिए। इष्ट वस्तु विनसे संते जो अति विकलता सो शोक कहिए। ये दुःखादि आपविषें होय तो असातस्य बन्धो भवति—असातावेदनीयका बन्ध होय। अन्यस्थितं वा—और जीवके विषें होय तो भी असाताका बन्ध होय। उभयस्थितं इति वा—अरु जो ये दुःखादि आपविषें अरु परविषें होय तो भी असातावेदनीय कर्मका बन्ध होय है।

आगे दर्शनमोहके बन्ध-कारण कहिए है—

अरहंत-सिद्ध-चेदिय-तव-गुरु-सुद-धम्म-संघपडिणीगो।
बंधदि दंसणमोहं अणंतसंसारिओ जेण ॥१४७॥

यः अर्हत्सिद्धचैत्यतपोगुरुश्रुतधर्मसंघप्रत्यनीकः स दर्शनमोहं बध्नाति—जो जीव अरहन्त सिद्ध चैत्यालय तप गुरु सिद्धान्त धर्म चतुर्विध संघ इनका प्रत्यनीक शत्रु है सो जीव दर्शनमोहकर्मको बांधे है। येन अनन्तसंसारी भवति—जिस दर्शनमोहकरि यह जीव अनन्त संसारी होय है।

आगे चारित्रमोहके बन्ध-कारण कहिए है—

तिव्वकसाओ बहुमोहपरिणदो राय-दोससंतत्तो।
बंधदि चरित्तमोहं दुविहं पि चरित्तगुणघादी ॥१४८॥

यः तीव्रकषायः बहुमोहपरिणतः रागद्वेषसंतप्तः चारित्रगुणघाती—जो जीव तीव्रकषाय-परिणत है, अरु बहुत मोह-संयुक्त है, अरु राग-द्वेषकरि सन्तप्त है, अरु चारित्रका घातक है, स द्विविधमपि चारित्रमोहं बध्नाति—वह कषाय-नोकषायके भेदकरि दोय प्रकार जो है चारित्रमोह तिसहि बांधे है।

आगे नरकायुके बन्ध-कारण कहे हैं—

मिच्छो हु महारंभो णिस्सीलो तिव्वलोभसंजुत्तो।
णिरयाउगं णिबंधदि पावमई रुद्दपरिणामो ॥१४९॥

यः खलु मिथ्यादृष्टिः महारम्भः निःशील-तीव्रलोभसंयुक्तः पापमतिः रुद्रपरिणामः—जो जीव निश्चयकरि मिथ्यात्वी है, अरु महा आरम्भी है, अरु निंद्य स्वभाव, तीव्रलोभसंयुक्त है, अरु पापबुद्धि है, अरु महारुद्रपरिणामी है, स जीवः नरकायुर्बध्नाति—सो जीव नरकायुका बन्ध करै है।

आगे तिर्यंचायुके बन्ध-कारण कहिए हैं—

उम्मग्गदेसगो मग्गणासगो गूढहियमाइल्लो ।
सढसीलो य ससल्लो तिरियाउं बंधदे जीवो ॥१५०॥

यः उत्मार्गदेशकः—जो मिथ्यामार्गका उपदेशक है, मार्गनाशकः—अरु सम्यक् मार्गका नाशक है, गूढहृदयः—अरु जिसके मनकी कछू पाई जाति नाहीं, मायावी है कुटिलहृदय है, सढशीलः—अरु मूर्खस्वभाव लिए है, सशल्यः—अरु माया मिथ्या निदान इनि तीन शल्यकरि संयुक्त है, स जीवः तिर्यगायुर्बध्नाति—सो जीव तिर्यंच-आयुका बन्ध करे है ।

आगे मनुष्यायुके बन्ध-कारण कहिए हैं—

पयडीए तणुकसाओ दाणरदी सील-संयमविहीणो ।
मज्झिमगुणेहि जुत्तो मणुयाऊ बंधदे जीवो ॥१५१॥

यः प्रकृत्या तनुकषायः—जो जीव स्वभाव हीकरि मन्द कषाई है, दानरतः—दानविषें रत है, शील-संयमविहीनः—शील अरु संयमतें रहित है, मध्यमगुणैर्युक्तः स जीवः मनुष्यायुर्बध्नाति—मध्यमगुणोंकरि संयुक्त है, वह जीव मनुष्यायुका बन्ध करे है ।

आगे देवायुके बन्ध-कारण कहिए है—

अणुवद-महव्वदेहि य बालतवाकामणिज्जराए य ।
देवाउगं णिबंधइ सम्माइट्ठी य जो जीवो ॥१५२॥

जीव अणुव्रत-महाव्रतैः देवायुर्बध्नाति—सम्यग्दृष्टि जीव अणुव्रत अरु महाव्रतकरि देवायुको बांधे है; बालतपसा अकामनिर्जरया च—जो मिथ्यादृष्टि जीव हैं सो अज्ञान तपकरि अथवा अकामनिर्जराकरि देवायुको बांधे हैं । यः सम्यग्दृष्टिः सोऽपि—जो केवल सम्यग्दृष्टि है सो भी देवायुका बन्ध करे है ।

आगे नामकर्मके बन्ध-कारण कहे हैं—

मन-वयण-कायवक्को माइल्लो गारवेहि पडिबद्धो ।
असुहं बंधदि णामं तप्पडिवक्खेहिं सुहणामं ॥१५३॥

यः मन-वचन-कायवक्रः—जो जीव मनवचनकायकरि वक्र हैं, मायावी—कुटिल मायाचारी है, गारवैः प्रतिबद्धः—रस ऋद्धि साता इन तीन गारवकरि संयुक्त है, स अशुभं नामकर्म बध्नाति—सो जीव अशुभनामकर्म बांधे है । तत्प्रतिपक्षः शुभनाम बध्नाति—तिसतें जो प्रतिपक्षी जीव कहिए मन बचन कायाकरि सरल निष्कपट कुटिलता-रहित, गारव-रहित सो शुभनामकर्मकूं बांधे है ।

आगे तीर्थंकरप्रकृति नामकर्मके बंधके सोलह कारण कहिए है—

दंसणविसुद्धि विणए संपण्णत्तं च तह य सीलवदे ।
अणदीचारोऽभिक्खं णाणुवजोगं च संवेगो ॥१५४॥
सत्तीदो चाग-तवा साहुसमाही तहेव णायव्वा ।
विज्जावच्चं किरिया अरहंताइरियबहुसुदे भत्ती ॥१५५॥

पंवयण परमा भत्ती आवस्सयकिरिय अपरिहाणी य ।
मग्गपहावणयं खलु पवयणवच्छल्लमिदि जाणे ॥१५६॥
एदेहिं पसत्थेहिं सोलसभावेहिं केवलीमूले ।
तित्थयरणामकम्मं बंधदि सो कम्मभूमिजो मणुसो ॥१५७॥

(चतुः कलम्)

दर्शनविशुद्धिः—जो पचीस मल-रहित सम्यग्दर्शनकी निर्मलता सो दर्शनविशुद्धि प्रथम-भावना १। विनये सम्पन्नता—रत्नत्रयधारक मुनि अरु रत्नत्रयगुण, इनकी विनयविषें प्रवीणता २। शीलव्रतेषु अनतीचारः—सामायिकादि शील अरु अहिंसादि व्रत इन विषें अतीचार-रहितत्व ३। आभीक्ष्णं ज्ञानोपयोगः—निरन्तर सम्यग्ज्ञानका अभ्यास ४। संवेगः—धर्म अरु धर्मफलविषें प्रीति, संसारदुःखतें उद्वेगता ५। शक्तितस्त्यागः—यथाशक्ति विधिपूर्वक पात्र-दान सो शक्तितस्त्याग कहिए ६। शक्तितस्तपः—यथाशक्ति कायक्लेश करिए सो शक्तितस्तप कहिए ७। तथैव साधुसमाधिः—साधु कहिए भली राग-द्वेष-रहित शान्तभावपरिणति सो साधुसमाधि कहिए। किस ही एक कारणतें यतिवर्गको उपसर्ग आए संते विघ्नका जो निवारण सो भी साधुसमाधि कहिए ८। वैयावृत्त्यक्रिया—मुनियोग्य क्रियाकरि मुनिके रोगादिक दूर करना ९। अर्हदाचार्यबहुश्रुतेषु भक्तिः—अरहन्त १ आचार्य २ बहुश्रुत कहिए उपाध्याय ३ इन विषें भक्ति अरहन्तभक्ति १०। आचार्यभक्ति ११। बहुश्रुतभक्ति है १२। प्रवचने परमा भक्तिः—प्रवचन जो परमागम ताकी परम भक्ति करना १३। आवश्यकक्रियाऽपरिहानिः—सामायिक १ प्रतिक्रमण २ स्तवन ३ वन्दना ४ प्रत्याख्यान ५ कायोत्सर्ग ६ ये छह आवश्यक इनकी जो क्रिया तिसकी हानि न करे १४। मार्गप्रभावना खलु—निश्चयकरि भगवन्तके मार्गका ज्ञान दान पूजा तप आदिक क्रियाकरि उद्योत करना १५। प्रवचन-वात्सल्यमिति जानीहि—प्रवचन जो है साधर्मी तासों स्नेह १६। ये सोलह कारणभावना जाननी। एतैः प्रशस्तैः षोडशभावैः ये जो हैं उत्तम सोलह कारण भाव तिनकरि केवलिमूले—केवलज्ञानी अरु श्रुतकेवली इनके समीप, यः कर्मभूमिजो मनुष्यः—जो कर्मभूमिविषें उपज्या होय मनुष्य, स तीर्थंकरनामकर्म बध्नाति—सो तीर्थंकरनामकर्मकूं बांधे।

तित्थयरसत्तकम्मा तदियभवे तब्भवे हु सिज्झेदि ।
खाइयसम्मत्तो पुण उक्कस्सेण चउत्थभवे ॥१५८॥

तीर्थंकरसत्त्वकर्मा तीर्थंकरनामकर्मकी सत्ताके होते संते, हु तृतीयभवे तद्भवं सिद्ध्यति-निश्चयकरि तीसरे भवविषें सीझे, अथवा वर्तमान ही भवविषें सीझे। भावार्थ—जिस जीवके तीर्थंकर नामकर्मकी सत्ता होय, सो जीव वर्तमानपर्यायविषें अथवा तीसरे भवविषें अवश्य सीझे। पुनः यः क्षायिकसम्यक्त्वः—किन्तु जो क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव है सो अवश्य करि उत्कृष्टेन चतुर्थभवे उत्कृष्टकरि चौथे भवविषें और जघन्यताकरि तद्भव भी सीझै।

आगे गोत्रकर्मके बन्ध-कारण कहै हैं—

अरहंतादिसु भत्तो सुत्तरुई पढणुमाण गुणपेही ।
बंधदि उच्चागोदं विवरीओ बंधदे इदरं ॥१५९॥

यः अर्हदादिषु भक्तः—जो जीव अरहन्त गुरु सिद्धान्तादिक विषें भक्त है, सूत्ररुचिः—भगवन्त-प्रणीत मार्गविषें श्रद्धावान् होय, पठनमानगुणप्रेक्षकः—पठनमान कहिए ज्ञानगुण

विनयादि इनका देखनेवाला हो, स उच्चैर्गोत्रं बध्नाति—सो जीव ऊँचगोत्रकूँ बाँधे है। विपरीतः इतरं बध्नाति—इसतें जो विपरीत अरहन्तादिकी भक्ति-रहित, अरुचिवन्त, पठन-निमित्त विनयादिगुण-रहित, सो जीव नीचगोत्रकर्मकूँ बाँधे है।

पर-अप्पाणं णिंदा पसंसणं णीचगोदबंधस्स ।
सदसदगुणाणमुच्छादणमुब्भासणमिदि होदि ॥१६०॥

परात्मनोः निन्दा-प्रशंसने—परेषां निन्दा, आत्मनः प्रशंसा और जीवनिकी निन्दा करना, अपनी प्रशंसा करना, सदसद्गुणानां आच्छादनोद्भावने अन्येषां सद्गुणानां आच्छादनं आत्मनः असद्गुणानां उद्भावनं—औरके वर्तमान गुणनिका आच्छादन, अरु अपने विषे गुण नाहीं, बढ़ाई निमित्त झूठे अपने गुणहुका प्रकाशन, एतानि अपि नीचगोत्रबन्धस्य कारणानि भवन्ति—ये भी नीचगोत्रबन्धके कारण जाननें।

आगे अन्तरायकर्मके बन्धकारण कहै हैं—

पाणवधादिसु रदो जिणपूजामोक्खमग्गविग्घयरो ।
अज्जेइ अंतरायं ण लहइ जं इच्छियं जेण ॥१६१॥

यः प्राणबधादिषु रतः—जो जीव हिंसा असत्य चोरी मैथुन परिग्रह इत्यादि अधर्म-विषें रत हैं, जिनपूजामोक्षमार्गविघ्नकरः—जिनेश्वरकी पूजा अरु सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रात्मक मोक्षमार्ग इनका विघ्न करणवाला, स अन्तरायं अर्जयति—सो जीव अन्तरायकर्म उपार्जन करे है, येन स यदिच्छितं लाभं न लभते—जिस अन्तरायकरि वह जीव वांछित वस्तुको न पावे ऐसा अन्तरायकर्म बाँधे है।

इहाँ जो कोई प्रश्न करे कि सिद्धान्तविषें संसारी जीवके निरन्तर समय-समयविषें आयुकर्मके विना सातकर्मका बन्ध कह्या है, इहाँ प्रत्यनीक आदिक क्रियाकरि जुदा जुदा कह्या है; एक-एक कर्मका बन्ध एक क्रिया जो खरे थोड़ा काल विषें होय, तो भी असंख्यात समय ताईं होय, तो एक समय सातकर्मका बन्ध क्यों संभवै? ताको उत्तर—इस अनादि-अनन्त संसारविषें जीव अनादिसों सन्तानवशतें राग-द्वेषादि परिणाम करे है, तिस राग-द्वेषादि परिणामके वशतें समय-समय सातकर्मका बन्ध स्थिति-अनुभागकी जघन्यता करि करै है। अरु जिस काल यह जीव पूर्वोक्त प्रत्यनीकादिक क्रियाविषें प्रवर्ते, तब जैसी कछू उत्कृष्ट मध्यम जघन्य शुभाशुभ क्रिया होय, तिस माफिक कर्महुका बन्ध करे स्थिति-अनुबन्धकी विशेषताकरि। तिसतें समय-समयविषें बन्ध जो करे सो तो स्थिति-अनुभागकी हीनताकरि। अरु जो प्रत्यनीक आदिक पूर्वोक्त क्रिया करि करै सो स्थिति-अनुभागकी विशेषता करि करै, यह सिद्धान्त जानना।

इयं भाषा-टीका कर्मकाण्डस्य पण्डित हेमराजेन कृता स्वबुद्ध्यनुसारेण ।

इति कर्मप्रकृतिविधानं समाप्तम् ।

—:※:—

कर्मप्रकृति-गाथानुक्रमणी

टीकोद्धृत-पद्यानुक्रमणी

द्वितीयटीकागत-पद्यानुक्रमणी

पारिभाषिक शब्दकोष

परिशिष्ट नं० ३

संदृष्टि २

गाथा नं० ७६की संस्कृत टीकामें छहों संहननोंके आकार इस प्रकार दिये गये हैं—

(१) वज्रवृषभनाराचसंहनन—

(२) वज्रनाराचसंहनन—
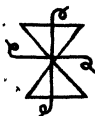
(३) नाराचसंहनन—

(४) अर्धनाराचसंहनन—

(५) कीलकसंहनन—

(६) असम्प्राप्तासृपाटिकसंहनन—

संदृष्टि ३

गाथा नं० ६६की संस्कृत टीकामें नामकर्मकी प्रकृतियोंकी संख्या-सूचक अंक-संदृष्टि इस प्रकार दी है--

ग	जा	श	बं.	मं	सं.	अं	गं.	व	ग	र	स्प	आ	अ	उ	प		आ	उ	वि	त्र	स्था	बा	सू
४	५	५	५	५	६	३	६	५	२	५	८	४	१	१	१	१	१	१	२	१	१	१	१

प	अ	प्र	सा	स्थि	अ	शु	अ	सु	दु	सु	दु	आ	अ	य	अ	नि	ती	८२	पिण्ड प्रकृतियाँ
१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	९३	अपिण्ड प्रकृतियाँ

संदृष्टि ४

गा० १३९ की एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञिपचेन्द्रिय तकके जीवोंके स्थितिबन्धकी संदृष्टि—

	एके०	द्वी०	त्री०	चतु०	असं० पं०
चालीo	सा० $\frac{४}{७}$	सा० २५$\frac{४}{७}$	सा० ५०$\frac{४}{७}$	सा० १००$\frac{४}{७}$	सा० १०००$\frac{४}{७}$
तीसि०	सा० $\frac{३}{७}$	सा० २५$\frac{३}{७}$	सा० ५०$\frac{३}{७}$	सा० १००$\frac{३}{७}$	सा० १०००$\frac{३}{७}$
बीसि०	सा० $\frac{२}{७}$	सा० २५$\frac{२}{७}$	सा० ५०$\frac{२}{७}$	सा० १००$\frac{२}{७}$	सा० १०००$\frac{२}{७}$

संदृष्टि ५

गा० १४३ की प्रशस्त प्रकृतियोंके अनुभागकी संदृष्टि—

अप्रशस्त प्रकृतियोंके अनुभागकी संदृष्टि—

	अप्रशस्त प्र० ३७	अप्रशस्त प्र० ३७	अप्रशस्त प्र० ३७
४ उत्कृष्ट	हालाहल	विष	
३ अनुत्कृष्ट	विष		
२ अजघन्य	कांजीर	कांजीर	कांजीर
१ जघन्य	निम्ब	निम्ब	निम्ब